अंधकारयुगीन भारत

लेखक

काशीप्रसाद जायसवाल

नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी

देवीप्रसाद ऐतिहासिक पुस्तकमाला—१२

भारतवर्ष का अंधकारयुगीन इतिहास

(सन् १५० ई० से ३५० ई० तक)

अनुवादक

रामचंद्र वर्मा

नागरीप्रचारिणी सभा, काशी

प्राक्कथन

यह ग्रंथ पाँच भागों में विभक्त है—(१) नाग वंश के अधीन भारत (सन् १५०–२८४ ई०); (२) वाकाटक साम्राज्य (सन् २८४–३४८ ई०); जिसके साथ परवर्ती वाकाटक राज्य (सन् ३४८–५२० ई०) संबंधी एक परिशिष्ट भी है; (३) मगध का इतिहास (ई० पू० ३१–३४० ई०); और समुद्रगुप्त का भारत; (४) दक्षिणी भारत (सन् २४०–३५० ई०); और (५) गुप्त-साम्राज्य के प्रभाव। इस काल का जो यह इतिहास फिर से तैयार किया गया है, वह मुख्यतः पुराणों के आधार पर है और इंडियन एंटिक्वेरी के प्रधान संपादक की सूचना (उक्त पत्रिका १९३२, पृ० १००) के अनुसार यह काम किया गया है। श्रीयुत के० के० राय एम० ए० से यह ग्रंथ प्रस्तुत करने में लेखक को जो सहायता प्राप्त हुई है और जो कई उपयोगी सूचनाएँ मिली हैं, उनके लिये लेखक उन्हें बहुत धन्यवाद देता है।

इसमें एक ही समय के अलग अलग राज्यों और प्रदेशों के संबंध की बहुत सी बातें आई हैं; और इसी लिये कुछ बातों की पुनरुक्ति भी हो गई है। आशा है कि पाठक इसके लिये मुझे क्षमा करेंगे।

२३ जुलाई १९३२।

× × × ×

सन् १८० ई० से ३२० ई० तक का समय अंधकार युग कहा जाता है। मैं यह प्रार्थना करता हुआ यह काम अपने हाथ में लेता हूँ—

"हे ईश्वर, तू मुझे अंधकार में से प्रकाश में ले चल।"

काशीप्रसाद जायसवाल

———

माला का परिचय

जोधपुर के स्वर्गीय मुंशी देवीप्रसाद जी मुंसिफ इतिहास और विशेषतः मुसलिम काल के भारतीय इतिहास के बहुत बड़े ज्ञाता और प्रेमी थे तथा राजकीय सेवा के कामों से वे जितना समय बचाते थे, वह सब वे इतिहास का अध्ययन और खोज करने अथवा ऐतिहासिक ग्रंथ लिखने में ही लगाते थे। हिंदी में उन्होंने अनेक उपयोगी ऐतिहासिक ग्रंथ लिखे हैं जिनका हिंदी संसार ने अच्छा आदर किया है।

श्रीयुत मुंशी देवीप्रसाद जी की बहुत दिनों से यह इच्छा थी कि हिंदी में ऐतिहासिक पुस्तकों के प्रकाशन की विशेष रूप से व्यवस्था की जाय। इस कार्य के लिये उन्होंने ता० २१ जून १९१८ को ३५०० रु० अंकित मूल्य और १०५०० मूल्य के बंबई बंक लि० के सात हिस्से सभा को प्रदान किए थे और आदेश किया था कि इनकी आय से उनके नाम से सभा एक ऐतिहासिक पुस्तकमाला प्रकाशित करे। उसी के अनुसार सभा यह 'देवीप्रसाद ऐतिहासिक पुस्तकमाला' प्रकाशित कर रही है। पीछे से जब बंबई बंक अन्यान्य दोनों प्रेसीडेंसी बंकों के साथ संमिलित होकर इंपीरियल बंक के रूप में परिणत हो गया, तब सभा ने बंबई बंक के सात हिस्सों के बदले में इंपीरियल बंक के चौदह हिस्से, जिनके मूल्य का एक निश्चित अंश चुका दिया गया है, और खरीद लिए और अब यह पुस्तकमाला उन्हीं से होने

वाली तथा स्वयं अपनी पुस्तकों की बिक्री से होने वाली आय से चल रही है। मुंशी देवीप्रसाद जी का वह दानपत्र काशी नागरीप्रचारिणी सभा के २६ वें वार्षिक विवरण में प्रकाशित हुआ है।

———

विषय-सूची

पहला भाग

नाग वंश

१—विषय-प्रवेश

हिंदू साम्राज्य के पुनर्संस्थापक

विषय पृष्ठ

२—भार-शिव कौन थे

विषय पृष्ठ

३—ज्येष्ठ नाग वंश और वाकाटक

४—भार-शिव राजा और उनकी वंशावली

५—पद्मावती और मगध में कुशन शासन

६—भार-शिवों के कार्य और साम्राज्य

दूसरा भाग

वाकाटक राज्य (सन् २४८–२८४ ई०)

७—वाकाटक

८—वाकाटकों के संबंध में लिखित प्रमाण और उनका काल-निर्णय

९—वाकाटक साम्राज्य

विषय | पृष्ठ

विषय पृष्ठ

१०—परवर्ती वाकाटक काल संबंधी परिशिष्ट और वाकाटक संवत्

सन् २४८ ई० वाला संवत्

तीसरा भाग

मगध और गुप्त भारत

१३—सन् ३५० ई० का राजनीतिक भारत और समुद्रगुप्त का साम्राज्य

द्वीपस्थ भारत

चौथा भाग

दक्षिणी भारत और उत्तर तथा दक्षिण का एकीकरण

१५—आंध्र (सातवाहन) साम्राज्य के अधीनस्थ सदस्य या सामंत

विषय पृष्ठ

अधीनस्थ या भृत्य आंध्र कौन थे और उनका इतिहास

श्रीपार्वतीय कौन थे और उनका इतिहास

१६—पल्लव और उनका मूल

विषय पृष्ठ

१७—दक्षिण के अधीनस्थ या भृत्य ब्राह्मण राज्य

गंग और कदंब

पाँचवाँ भाग

उपसंहार

१८—गुप्त-साम्राज्यवाद के परिणाम

परिशिष्ट क

(पृ० ३९५–४०७)

दुरेहा का वाकाटक स्तंभ और नचना तथा भूभरा (भूमरा) के मंदिर

परिशिष्ट ख

मयूरशर्म्मन् का चंद्रवल्लीवाला शिलालेख

परिशिष्ट ग

चंद्रसेन और नाग-विवाह

शब्दानुक्रमणिका

———

भारतवर्ष का अंधकार-युगीन इतिहास

(सन् १५० ई० से ३५० ई० तक)

नाग-वाकाटक साम्राज्य-काल

पहला भाग

नाग वंश

(सन् १५० ई० से २८४ ई० तक)

दशाश्वमेधावभृथ-स्नानाम् भार-शिवानाम्

(उन भार-शिवों का, जिन्होंने दस अश्वमेध यज्ञ और उनके अंत में अवभृथ स्नान किए थे—वाकाटक राजकीय दान-संबंधी ताम्रपट्ट।)

१. विषय-प्रवेश

हिंदू-साम्राज्य के पुनर्संस्थापक

अज्ञात समझा जाने वाला काल

§ १. डाक्टर विंसेंट स्मिथ ने अपने Early History of India (भारत का आरंभिक इतिहास) नामक ग्रंथ के अंतिम संस्करण (१९२४) में भी और उसके पहलेवाले संस्करणों में भी कहा है—

(क) "कम से कम यह बात तो स्पष्ट है कि कुशन राजाओं में वासुदेव अंतिम राजा था जिसके अधिकार में भारत में बहुत विस्तृत प्रदेश थे। इस बात का सूचक कोई चिह्न

नहीं मिलता कि उसकी मृत्यु के उपरांत उत्तरी भारत में कोई सर्व-प्रधान शक्ति वर्त्तमान थी।" (पृ० २९०)

(ख) 'संभवतः बहुत से राजाओं ने अपनी स्वतंत्रता स्थापित की थी और ऐसे राज्य स्थापित किए थे जिनका थोड़े ही दिनों में अंत हो गया था'..........'परंतु तीसरी शताब्दी के संबंध में ऐतिहासिक सामग्री का इतना पूर्ण अभाव है कि यह कहना असंभव है कि वे राज्य कौन थे अथवा कितने थे।" (पृ० २९०)

(ग) "कुशन तथा आंध्र राजवंशों के नाश (सन् २२० या २३० ई० के लगभग) और साम्राज्य-भोगी गुप्त राजवंश के उत्थान के बीच का समय, जो इसके प्रायः एक सौ वर्ष बाद है, भारतवर्ष के समस्त इतिहास में सबसे अधिक अंधकारमय युगों में से एक है।" (पृ० २९२)

दूसरे शब्दों में, जैसा कि डा० विंसेंट स्मिथ ने पृ० २९१ में कहा है, भारतवर्ष के इतिहास में यह काल बिलकुल सादा या अलिखित है—उसके संबंध की कोई बात ज्ञात नहीं है। आज तक सभी लोग यह निराशापूर्ण बात बराबर चुपचाप मानते हुए चले आए हैं। इस संबंध में जो कुछ सामग्री उपलब्ध है, उसका अध्ययन और विचार करने पर मुझे यह पता चलता है कि ऊपर कही हुई इन तीनों बातों में से एक भी बात न तो मानी जा सकती है और न वह भविष्य में फिर कभी दोहराई जानी चाहिए। जैसा कि हम आगे चलकर बतलावेंगे, इस विषय की सामग्री पर्याप्त है और इस समय के दो विभागों के संबंध का इतिहास हिंदू इतिहास-वेत्ताओं ने वैज्ञानिक क्रम से ठीक कर रखा है।

§ २. यह कथन पूर्ण रूप से असत्य है कि साम्राज्य भोगी गुप्तों के उदय से पहले भारत में कोई एक सर्व-प्रधान शक्ति नहीं थी और न इस पक्ष का क्षण भर के लिये स्थापन या मंडन ही हो सकता है। हिंदू साम्राज्य-पुनर्घटन का आरंभ चौथी शताब्दी में समुद्रगुप्त से नहीं माना जा सकता और न वाकाटकों से ही माना जा सकता है जो इससे प्रायः एक शताब्दी पूर्व हुए थे; बल्कि उसका आरंभ भार-शिवों से होता है जो उनसे भी प्रायः पचास वर्ष पूर्व हुए थे। डाक्टर विंसेंट स्मिथ के इतिहास में वाकाटकों के संबंध में एक भी पंक्ति नहीं है और न किसी दूसरी पाठ्य पुस्तक में भार-शिवों के संबंध में ही एक भी पंक्ति है। यद्यपि इन दोनों राजवंशों का मुख्य इतिहास भलीभाँति से प्रमाणित ताम्रलेखों तथा शिलालेखों में वर्तमान है, और जैसा कि हम आगे चलकर बतलावेंगे पूर्ण रूप से पुराणों में भी दिया हुआ है और उसका समर्थन सिक्कों से भी होता है, तो भी किसी ऐतिहासिक या पुरातत्त्व संबंधी सामयिक पत्र में भार-शिवों के संबंध में लिखा हुआ कोई लेख भी मैंने नहीं देखा है। इस चूक और उपेक्षा का कारण यही है कि फ्लीट तथा और लोगों ने, जिन्होंने शिलालेखों और ताम्रलेखों का संपादन किया है, उन लेखों को पढ़ तो डाला है, पर उनमें दी हुई घटनाओं का अध्ययन नहीं किया है। और विंसेंट स्मिथ ने भारत के इतिहास का सिंहावलोकन करते समय, इस काल को फ्लीट तथा कीलहार्न का अनुकरण करते हुए, बिलकुल छोड़ दिया है; और इसीलिये यह कह दिया गया है कि इस काल की घटनाओं का कुछ भी पता नहीं चलता। पर वास्तविक बात यह है कि भारतीय इतिहास के और बहुत से कालों की तुलना में यह काल

साम्राज्य-शक्ति का पुनर्घटन

असाधारण रूप से घटनापूर्ण है। डा० फ्लीट ने वाकाटक शिलालेखों आदि का अनुवाद करते समय प्रथम प्रवरसेन की महत्वपूर्ण उपाधि "सम्राट्" और "समस्त भारत का शासक"[1] तक का उल्लेख नहीं किया है जो उपाधियाँ उसने चार अश्वमेध यज्ञ करने के उपरांत धारण की थीं और जो किसी राजा के सम्राट् पद पर पहुँचने की सूचक हैं।

वाकाटक सम्राट् और उसके पूर्व की शक्ति

§ ३. जैसा कि हम अभी आगे चलकर बतलावेंगे, वाकाटक राजवंश के सम्राट् प्रवरसेन का राज्याभिषेक सम्राट् समुद्रगुप्त से एक पीढ़ी पहले हुआ था और प्रवरसेन केवल आर्यावर्त्त का ही नहीं, बल्कि यदि समस्त दक्षिण का नहीं तो कम से कम उसके एक बहुत बड़े अंश का सम्राट् अवश्य था और वह समुद्रगुप्त से ठीक पहले हुआ था। वह इसी ब्राह्मण सम्राट् वाकाटक प्रवरसेन का पद था जो समुद्रगुप्त ने उसके पोते रुद्रसेन प्रथम से प्राप्त किया था और यह वही रुद्रसेन है जिसका उल्लेख इलाहाबादवाले स्तंभ में समुद्रगुप्त की राजनीतिक जीवनी में दी हुई सूची के अंतर्गत रुद्रदेव[2] के नाम से हुआ है और जो आर्यावर्त्त का सर्वप्रधान शासक कहा गया है।

---

१. 'सम्राट्' की व्याख्या के सम्बन्ध में देखो मत्स्य पुराण, अध्याय ११३, श्लोक १५। वहाँ श्लोक ९-१४ में भारतवर्ष की सीमाएँ, जो विस्तृत या विशाल भारत और द्वीपों से युक्त भारत की सामाओं से भिन्न हैं, [देखो § १४६ (क)] दी हुई हैं और सम्राट् वास्तव में "समस्त कृत्स्नम्" या भारत का सर्व प्रधान शासक होता था।

२ देखो आगे § ६४.

§ ४. जैसा कि वाकाटकों के संबंध के शिलालेखों तथा ताम्रलेखों आदि से और पुराणों से भी प्रकट होता है, समुद्रगुप्त से पहले प्रायः साठ वर्ष तक वाकाटाकों के हाथ में सारे साम्राज्य का शासन और सर्वप्रधान एकाधिकार था; और वही अधिकार उनके हाथ से निकलकर समुद्रगुप्त के हाथ में चला आया था। हम यह बात जान-बूझकर कहते हैं कि वाकाटकों के हाथ में सारे साम्राज्य का शासन और सर्वप्रधान एकाधिकार था; क्योंकि उन लोगों ने वह एकाधिकार उन भार-शिवों से प्राप्त किया था जिनके राजवंश ने गंगा-तट पर दश अश्वमेध यज्ञ किए थे और इस प्रकार बार-बार आर्यावर्त्त में अपना एकछत्र साम्राज्य होने की घोषणा की थी। यहाँ यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि ये अश्वमेध यज्ञ कुशान[१] साम्राज्य का नाश करके किए गए थे। इन साम्राज्य-सूचक कृत्यों का यह सनातनी हिंदुओं के ढंग से लिखा हुआ इतिहास है और यह सिद्ध करता है कि कुशान साम्राज्य का किस प्रकार नाश हुआ था और कुशान लोग किस प्रकार उत्तरोत्तर नमक के पहाड़ों की तरफ उत्तर-पश्चिम की ओर पीछे हटाए गए थे।

भार-शिव

§ ५. सम्राट् प्रवरसेन ने अपने लड़के गौतमीपुत्र का विवाह भार-शिव वंश के महाराज भवनाग की कन्या के साथ किया था। वाकाटक राजवंश के इतिहास में यह घटना इतने अधिक महत्त्व की थी कि यह उस वंश के इतिहास में सम्मिलित कर ली गई थी वाकाटकों के सभी राजकीय लेखों आदि में

---

१ हमने इस शब्द का विदेशी रूप "कुशन" ही ग्रहण करना ठीक समझा है।

इसका बार-बार उल्लेख किया गया है। इन उल्लेखों में कहा गया है कि इस राजनीतिक विवाह के पूर्व भार-शिवों के राजवंश ने गंगा-तट पर, जिसका अधिकार उन्होंने अपना पराक्रम प्रदर्शित करके प्राप्त किया था, दस अश्वमेध यज्ञ किए थे और उनका राज्याभिषेक गंगा के पवित्र जल से हुआ था। भार-शिवों ने शिव को अपने साम्राज्य का मुख्य या प्रधान देवता बनाया था। भार-शिवों ने गंगा-तट पर जिस स्थान पर दश अश्वमेध यज्ञ किए थे, वह स्थान मुझे काशी का दशाश्वमेध नामक पवित्र घाट और क्षेत्र जान पड़ता है जो भगवान् शिव का लौकिक निवासस्थान माना जाता है। भार-शिव लोग मूलतः बघेलखंड के निवासी थे और वे गंगातट पर उसी रास्ते से पहुँचे होंगे, जिसे आजकल हम लोग "दक्षिण का प्राचीन मार्ग" कहते हैं और जो विंध्यवासिनी देवी के विंध्याचल नामक कस्बे (मिरजापुर, संयुक्तप्रांत) में आकर समाप्त होता है। बनारस का जिला कुशन साम्राज्य के एक सिरे पर था। वह उसकी पश्चिमी राजधानी से बहुत दूर था। यदि विंध्य पर्वत से उठनेवाली कोई नई शक्ति मैदानों में पहुँचना चाहती और यदि वह बघेलखंड के रास्ते से नहीं बल्कि बुंदेलखंड के किसी भाग में से होकर जाती तो वह गंगा-तट पर नहीं बल्कि यमुना-तट पर पहुँचती। वाकाटकों के मूल निवास-स्थान से भी इस बात का कुछ सूत्र मिलता है। प्राचीन काल में वागाट (वाकाट) नाम का एक कस्बा था और उसी के नाम पर वाकाटक वंश ने अपना नाम रखा था। हमने इस कस्बे का पता लगाया है और वह बुंदेलखंड में ओड़छा राज्य के उत्तरी भाग में है; और ऐसा जान पड़ता है कि वाकाटक लोग भार-शिवों के पड़ोसी थे[1]

---

१ दुरेहा (जासो राज्य, बघेलखंड) में एक स्तंभ है जिस पर।

इसके अतिरिक्त कुछ और भी चिह्न हैं जिनका विवेचन उनके उपयुक्त स्थानों पर किया जायगा। ये चिह्न स्मृति-स्तंभों, स्थान-नामों और सिक्कों आदि के रूप में हैं और उनसे यह सिद्ध होता है कि भार शिवों का मूल स्थान कौशाम्बी और काशी के मध्य में था।

भार-शिवों का आरंभ

§ ६. प्रवरसेन प्रथम से पहले अथवा उसके समय तक भार-शिवों ने दस अश्वमेध यज्ञ किए थे और स्वयं प्रवरसेन प्रथम ने भी अश्वमेध यज्ञ किए थे; इसलिये भार-शिवों का अस्तित्व कम से कम एक शताब्द पहले से चला आता होगा। अतः यहाँ हम मोटे हिसाब से यह कह सकते हैं कि उनका आरंभ लगभग १५० ई० में हुआ था।

भार-शिवों का कार्य

§ ७. भार-शिवों ने मुख्य कार्य यह किया था कि उन्होंने एक नई परंपरा की नींव डाली थी या कम से कम एक पुरानी परंपरा का पुनरुद्धार किया था; और वह परंपरा हिंदू स्वतंत्रता तथा प्रधान राज्याधिकार की थी। हमारे राष्ट्रीय धर्मशास्त्र 'मानवधर्मशास्त्र" में कहा है कि आर्यावर्त आर्यों का ईश्वर-प्रदत्त देश है और म्लेच्छों को उसकी सीमाओं के उस पार तथा बाहर रहना चाहिए। इस देश के पवित्र विधान के अनुसार यह आर्यों का राजनीतिक तथा सार्वराष्ट्रीय जन्मसिद्ध अधिकार[1] था। इस अधिकार की रक्षा और स्थापना आवश्यक थी। भार-शिवों ने जो

"वाकाटकानाम्" अंकित है और जिसके नीचे उनका राजकीय "चक्र-चिह्न" है। इस ग्रंथ के अंत में परिशिष्ट देखिए।

१ इस विचार के पोषक उद्धरण § ३८ में देखिए।

परंपरा चलाई थी, वाकाटकों ने उसकी रक्षा की थी और पीछे गुप्तों ने भी उसी को ग्रहण किया था; और चंद्रगुप्त विक्रमादित्य से लेकर बालादित्य तक सभी परवर्त्ती सम्राटों ने पूर्ण रूप से उसकी रक्षा की थी। यदि भार-शिव न होते तो न तो गुप्त-साम्राज्य ही अस्तित्व में आता और न गुप्त विक्रमादित्य आदि ही होते।

§ ८. वाकाटक इतिहास-लेखकों ने इन भार-शिवों का इतिहास बहुत सुंदर रूप से सदा के लिये स्थायी कर दिया है।

भार शिवों का परम संक्षिप्त इतिहास

आज तक कभी इतने संक्षेप में और इतना अधिक सार गर्भित इतिहास नहीं लिखा गया था। वह इतिहास एक ताम्रलेख[1] की निम्नलिखित तीन पंक्तियों में है—

"अंशभार सन्निवेशितशिवलिंगोद्वाहनशिवसुपरितुष्टसमुत्पादित-राजवंशानाम् पराक्रम आधिगत=भागीरथी=अमलजलः मूर्द्धा-भिषिक्तानाम् दशाश्वमेध=अवभृथस्नानाम् भारशिवानाम्।"

अर्थात्—"उन भार-शिवों (के वंश) का, जिनके राजवंश का आरंभ इस प्रकार हुआ था कि उन्होंने शिव-लिंग को अपने कंधे पर वहन करके शिव को भली भाँति परितुष्ट किया था—वे भार-शिव जिनका राज्याभिषेक उस भागीरथी के पवित्र जल से हुआ था जिसे उन्होंने अपने पराक्रम से प्राप्त किया था वे भार-शिव जिन्होंने दस अश्वमेध यज्ञ करके अवभृथ स्नान किया था।"

---

१ फ्लीट कृत Gupta Inscriptions पृ० २४५ और २३६.

§ ९. वासुदेव अंतिम कुशन सम्राट् था और जैसा कि मथुरावाले लेख से प्रकट होता है[1], उसने कुशन संवत् ९८ तक राज्य किया था। या तो वासुदेव के शासन-काल के अंतिम वर्षों में (सन् १६५ ई०) और या उसकी मृत्यु (सन् १७६ ई०) पर कुशन साम्राज्य का अंत हो गया था। इस कुशन वंश के शासन के अंत के साथ ही साथ अश्वमेधी भार-शिवों की शक्ति का उत्थान हुआ था। जिस समय उनका उत्थान हुआ था, उस समय उन्हें सबसे पहले कुशन साम्राज्य का ही मुकाबला करना पड़ा था और उसी साम्राज्य को उन्हें तोड़ना पड़ा।

कुशन साम्राज्य का अंत

२. भार-शिव कौन थे

§ १०. जब प्रायः सौ वर्षों तक कुशनों का शासन रह चुका, तब उसके बाद भार-शिव वंश का एक हिंदू राजा गंगा के पवित्र जल से अभिषिक्त होकर हिंदू सम्राट् के पद पर प्रतिष्ठित हुआ था। इस कथन का एक महत्त्वपूर्ण अभिप्राय यह है कि बीच में सौ वर्षों तक हिंदू साम्राज्य का क्रम भंग रहने के उपरांत वह भार-शिव राजा फिर से विधिवत् अभिषिक्त होकर शासक बना था। इस संबंध में हम उस पौराणिक वचन का उल्लेख कर देना चाहते हैं जो भारतवर्ष के तत्कालीन विदेशी राजाओं के विषय में है और जिसका अभिप्राय यह है कि वे लोग अभिषिक्त राजा नहीं होते थे। वह वचन इस प्रकार है—

भार-शिव और पौराणिक उल्लेख

१. ल्यूडर्स सूची नं० ७६ Epigraphia Indica दसवाँ खंड; परिशिष्ट।

"नैव मूर्द्धाभिषिक्तास्ते"। ऐसी अवस्था में क्या यह कभी संभव है कि पुराण उन मूर्द्धाभिषिक्त राजाओं का उल्लेख छोड़ देंगे जो वैदिक मंत्रों और वैदिक विधियों के अनुसार राजसिंहासन पर अभिषिक्त हुए थे और जिनमें ऐसे कई राजा थे जिन्होंने आर्यों की पवित्र भूमि में एक दो नहीं बल्कि दस दस अश्वमेध यज्ञ किए थे ? यह एक ऐसा महत् कार्य है जो कलियुग के किसी ऐसे प्राचीन राजवंश ने नहीं किया था, जिसका पुराणों ने वर्णन किया है। भला ऐसा महत्त्वपूर्ण कार्य करनेवालों का उल्लेख पुराणों में किस प्रकार छूट सकता था ? शुंगों ने दो अश्वमेध यज्ञ किए थे और शुंगों का उल्लेख पुराणों की उस सूची में है जिसमें सम्राटों के नाम दिए गए हैं। शातवाहनों ने भी दो अश्मेध यज्ञ किए थे और पुराणों में उनका भी उल्लेख है। इसलिये जिन भार-शिवों ने दस अश्वमेध यज्ञ किए थे, वे किसी प्रकार छोड़े नहीं जा सकते थे। और वास्तव में वे छोड़े भी नहीं गए हैं।

भार-शिव नाग थे

§ ११. वाकाटकों के लेखों में एक भार-शिव राजा का नाम आया है; और वहाँ उसका उल्लेख इस प्रकार किया गया है— "भारशिवोमेके (अर्थात् भार-शिव राजवंश के) महाराज श्री भवनाग"। पुराणों में आंध्रों और उसके समकालीन तुषार मुरुंड राजवंश (अर्थात् वह राजवंश जिसे आजकल हम लोग सम्राज्य-भोगी कुशन कहते हैं) के पतन के उल्लेख के उपरांत यह वर्णन आता है कि किलकिला के तट पर विंध्य-शक्ति का उत्थान हुआ था। यह उल्लेख बुंदेलखंड के वाकाटक राजवंश के संबंध में है और किलकिला वास्तव में पन्ना के पास की एक नदी है[1]।

---

१ राय बहादुर (अब स्व०) डा० हीरालाल का मैं इसलिये

पुराणों में विंध्य-शक्ति के आत्मज के शासन का महत्व बतलाते समय आरंभ में नाग राजवंश का वर्णन किया गया है। इस नाग राजवंश का उत्थान विदिशा में हुआ था जो शुंगों के शासन-काल में उपराज या राज-प्रतिनिधि का प्रसिद्ध निवास-स्थान या केंद्र था।

विदिशा के नाम

§ १२. पुराणों ने विदिशा के नाग-राजवंश को नीचे लिखे दो भागों में विभक्त किया है—

(क) वे राजा जो शुंगों का अंत होने से पहले हुए थे; और

(ख) वे राजा जो शुंगों का अंत होने के उपरांत हुए थे।

अनुगृहीत हूँ कि उन्होंने मुझे यह सूचित किया है कि किलकिला एक छोटी नदी है जो पन्ना के पास है। इसके उपरांत सतना (रीवाँ) के श्रीयुत शारदाप्रसाद की कृपा से मैंने यह पता लगाया कि यह नदी पन्ना के पूर्व ४ मील पर उस सड़क पर पड़ती है जो सतना से पन्ना की ओर जाती है और आगे यह नदी पन्ना नगर तक चली गई है। अभी तक इसका वही पुराना नाम प्रचलित है। आगे चलकर इसका नाम "महाउर" हो जाता है और तब यह केन नदी में मिलती है। इसके अतिरिक्त वहाँ कोशला और मेकला नाम के दूसरे स्थान हैं और उनके भी वही तत्कालीन नाम अभी तक प्रचलित हैं जिससे इस बात का और भी मिलान मिल जाता है। उक्त सूचना मिलने के उपरांत मैंने स्वयं जाकर यह नदी देखी थी। पन्ना में सन् १८७० ई० में इस पर जो पुल बने थे, उन पुलों पर लगे हुए पत्थर भी मैंने देखे हैं, जिन पर लिखा है—"Kilkila Bridge" अर्थात् किलकिला का पुल।

यहाँ हम यह भी बतला देना चाहते हैं कि मत्स्यपुराण और भागवत में यह वचन आया है[१]—

सुशर्माणम् प्रसह्य (अथवा प्रगृह्य) तं

शुंगानाम् च=ऐव य च=च्छेशम् क्षपित्वा तु बलं तदा।

अर्थात्—(आंध्र राजा ने) सुशर्मन् (कण्व राजा) को वंदी बनाकर, और उस समय शुंग-शक्ति का जो कुछ अवशिष्ट था, वह सब नष्ट करके।

यह कथन उस शुंग शक्ति के संबंध में है जो अपने मूल निवास-स्थान विदिशा में बच रही थी। उक्त स्थान पर पुराणों में विदिशा के राजाओं का वर्णन है, अतः शुंगों के पहले और बाद विदिशा के जो नाग शक्तिशाली हुए थे, उनके विषय में आए हुए उल्लेख का संबंध आंध्र और शातवाहन-काल से होना चाहिए, जब कि शातवाहन लोग दक्षिणापथ के सम्राट् होने के साथ ही साथ आर्यावर्त्त के भी सम्राट् हो गए थे; और यह काल ईसवी सन् से लगभग ३१ वर्ष पूर्व का है[२].।

---

१ पारजिटर कृत Purana Text, पृ० ३८.

२ बिहार उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी का जनरल, पहला खंड, पृ० ११६.

पुष्यमित्र—राज्यारोहण	ई० पू०	१८८
शुंग वंश के राजा—११२ वर्ष	}	१५७
कण्व वंश के राजा—४५ वर्ष	}	३१ ई० पू०

२. यह सुरपुर वह इंद्रपुर हो सकता है जो आजकल बुलंदशहर जिले में इंदौरखेडा के नाम से प्रसिद्ध है, जहाँ बहुत से वे सिक्के पाए गए हैं जो आजकल मथुरावाले सिक्के कहलाते हैं। देखिए A. S. R. १२; पृ० ३६ की पाद-टिप्पणी।

§ १३. पौराणिक वंशावलियों के अनुसार नागवंश में ई० पू० ३१ से पहले नीचे लिखे राजा हुए थे—

(१) शेष—'नागों के राजा', 'अपने शत्रु की राजधानी पर विजय प्राप्त करनेवाले' (ब्रह्मांड पुराण के अनुसार सुरपुर[२])।

(२) भोगिन्—राजा शेष के पुत्र।

(३) रामचंद्र—चंद्रांशु,[१] दूसरे उत्तराधिकारी, अर्थात् शेष के पौत्र।

(४) नखबान (या नखपान)—अर्थात् नहपान। यहाँ यह बात ध्यान में रखने योग्य है कि विष्णुपुराण में दी हुई सूची में यह नाम नहीं है; और इसका कारण यही जान पड़ता है कि लोग इसे नाग-वंश का न समझ लें।

(५) धनवर्म्मन् या धर्मवर्म्मन्—(विष्णुपुराण के अनुसार धर्मवर्म्मन्)।

(६) वंगर[२]—वायुपुराण और ब्रह्मांडपुराण में वंगर का नाम नहीं दिया है, केवल यही कहा है कि वह चौथा उत्तराधिकारी था; अर्थात् शेष की चौथी पीढ़ी में था। संभवतः धर्म (इस सूची का पाँचवाँ राजा) शेष की तीसरी पीढ़ी में अथवा तीसरा उत्तराधिकारी था।

इसके उपरांत परवर्त्ती राजा के समय से पुराणों में निश्चित और स्पष्ट रूप से विभाग किया गया है। भागवत में तो पहले के

---

१. मैं 'चंद्रांशु' शब्द को रामचंद्र से अलग नहीं मानता, क्योंकि विष्णु पुराण में वह स्वतंत्र शब्द नहीं माना गया है।

२. यह नाम महाराज हस्तिन् के खोहवाले ताम्रलेख में वंगर गाँव (नौगढ़ के निकट) के नाम से मिलता है। G. I., पृ० १०८।

दिए हुए नाम बिलकुल छोड़ दिए गए हैं; और वायु पुराण तथा ब्रह्मांडपुराण में कहा गया है कि इसके बाद के राजा शुंग राज-वंश का अंत होने के उपरांत[1] हुए थे; अर्थात् उस काल के उपरांत हुए थे, जब कि शातवाहनों ने नहपान पर विजय प्राप्त की थी, जब वे मध्यभारत में आ गए थे और जब उन्होंने कन्वों और शुंगों पर भी विजय प्राप्त कर ली थी। शुंग नागों के इन परवर्त्ती राजाओं के नाम ये हैं—

(७) भूतनंदी या भूतिनंदी।

(८) शिशुनंदी।

(९) यशोनंदी—(शिशुनंदी का छोटा भाई)। शेष राजाओं के नामों का उल्लेख नहीं है।

वृष या नंदी

§ १४. आगे बढ़ने से पहले यहाँ हमें यह बात समझ रखनी चाहिए कि वायुपुराण में इन वैदिश नागों को वृष[2] अर्थात् शिव का साँड़ या नंदी कहा गया है; और शुंग राजवंश का अंत होने पर जो राजा हुए हैं, उनके नामों के अंत में यह नंदी शब्द मिलता है। जान पड़ता है कि जो भार-शिव उपाधि पीछे से ग्रहण की गई थी, वह भावतः वायुपुराण के "वृष" और नामों के अंत में मिलनेवाले 'नंदी" शब्द से संबद्ध है।

---

१ भूति (भूत) नंदिस्ततश्चापि वैदिशे तु भविष्यति शुंगानां तु कुलस्यान्ते। पारजिटर कृत Purana Text, पृ० ४९, पाद-टिप्पणी १५।

२. वृषान् वैदिशकांश्चापि भविष्यांश्च निबोधत। २-३७-३६०.

§ १५. इस बात का निश्चित रूप से समर्थन होता है कि शुंगों के परवर्ती ये नाग लोग ईसवी पहली शताब्दी में वर्त्तमान थे। पदम पवाया नामक स्थान में, जो प्राचीन पद्मावती नगरी के स्थान पर बसा है, यक्ष मणिभद्र की एक मूर्त्ति है जिसका उत्सर्ग किसी सार्वजनिक संस्था के सदस्यों ने राजा स्वामिन् शिवनंदी के राज्य-काल के चौथे वर्ष में किया था[१]। इस लेख की लिपि आरंभिक कुशनों की लिपि से पहले की है। उसमें "इ" की मात्राएँ (ि) टेढ़ी नहीं बल्कि सीधी हैं, उनका शोशा अभी ज्यादा बढ़ने नहीं पाया है। यक्ष की मूर्ति का ढंग भी कुछ पहले का है। लिपि के अनुसार यह मूर्त्ति ईसवी पहली शताब्दी की ठहरती है। यशःनंदी के बाद जिन राजाओं के नामों का उल्लेख नहीं है, उन्हीं में से शिवनंदी भी एक होगा। साधारणतः पुराणों में किसी राजवंश के उन राजाओं का उल्लेख नहीं मिलता, जो किसी दूसरे बड़े राजा की अधीनता स्वीकृत कर लेते हैं। इससे यही अनुमान होता है कि संभवतः शिवनंदी महाराज कनिष्क द्वारा परास्त हो गया था। पुराणों में कहा गया है कि पद्मावती पर विन्वस्फाणि नामक एक राजा का अधिकार हो गया था; और यह शासक कनिष्क का वही उपराज या राजप्रतिनिधि हो सकता है जिसका नाम महाक्षत्रप वनसपर था। देखो § ३३। शिवनंदी अपने राज्यारोहण के चौथे वर्ष तक स्वतंत्र

एक नाग लेख

---

१ भारत के पुरातत्त्व विभाग की सन् १९१५-१६ की रिपोर्ट (Archaelogical Survey of India Report) पृ० १०६, प्लेट-संख्या ५६।

राजा था, क्योंकि उक्त लेख में उसके राज्यारोहण का संवत् दिया है, कुशन संवत् नहीं दिया है। कुशनों के समय में सब जगह समान रूप से कुशन संवत् का ही उल्लेख होता था। राजा की उपाधि "स्वामी" ठीक उसी तरह से दी गई है, जिस तरह आरंभिक शातवाहनों के नामों के आगे लगाई जाती थी[1]। यह शब्द सम्राट् का सूचक है और हिंदू राजनीति-शास्त्रों से लिया गया था; और मथुरा के शक राजाओं ने भी इसे ग्रहण किया था। उदाहरणार्थ, स्वामी महाक्षत्रप शोडास के शासन-काल के ४२वें वर्ष के आमोहिनीवाले लेख में यह 'स्वामी' शब्द आया है। पर कनिष्क के शासनकाल से मथुरा में इस प्रथा का परित्याग हो गया था।

पद्मावती

§ १६. जान पड़ता है कि भूतनंदी के समय से, जब कि भागवत के कथनानुसार इस वंश की फिर से स्थापना या प्रतिष्ठा हुई थी, पद्मावती राजधानी बनाई गई थी। वहाँ स्वर्णबिंदु नाम का एक प्रसिद्ध शिवलिंग स्थापित किया गया था और उसके सात सौ वर्ष बाद भवभूति के समय में उसके संबंध में जन-साधारण में यह कहा जाता था (आख्यायते) कि यह किसी मनुष्य द्वारा प्रतिष्ठित नहीं है, बल्कि स्वयंभू है। पवाया[2] नामक स्थान में श्रीयुक्त गरदे ने वह वेदी ढूँढ़ निकाली

---

१ देखो ल्यूडर्स (Luders) की सूची नं० ११०० में पुलुमावि। नहपान के लिये मिलाओ सूची नं० ११७४; देखो आगे § २६ (क)।

२ A. S. R. १९१५-१६ पृ० १०० की पाद-टिप्पणी। पद्मावती के वर्णन के लिये देखिए खजुराहो का शिलालेख E. I. पहला

है जिस पर स्वर्णबिंदु शिवलिंग स्थापित था। वहाँ एक ऐसा नंदी भी मिला है जिसका सिर तो साँड़ का है और शरीर मनुष्य का है; और साथ ही गुप्त शैली की कई मूर्त्तियाँ भी पाई गई हैं।

§ १७. अब हम उन सिक्कों पर कुछ विचार करते हैं जो हमारी समझ में इस आरंभिक नाग वंश के हैं। इनमें से कुछ सिक्के साधारणतः मथुरा के माने जाते हैं। ब्रिटिश म्यूजियम में शेषदात, रामदात[1] और शिशुचंद्रदात के सिक्के हैं। शेषदात-वाले सिक्के की लिपि सबसे पुरानी है और वह ईसापूर्व

नाग के सिक्के

खंड, पृ० १४६। यह वर्णन (सन् १०००-१ ई०) उद्धृत करने के योग्य है। यह इस प्रकार है—"पृथ्वी-तल पर एक अनुपम (नगर) था जो ऊँचे ऊँचे भवनों से शोभित था और जिसके संबंध में यह लिखा मिलता है कि इसकी स्थापना पृथ्वी के किसी ऐसे शासक और नरेंद्र के द्वारा स्वर्ण और रजत युगों के बीच में हुई थी जो पद्म वंश का था। (इस नगर का) इतिहासों में उल्लेख है (और) पुराणों के ज्ञाता लोग इसे पद्मावती कहते हैं। पद्मावती नाम की इस परम सुंदर (नगरी) की रचना एक अभूतपूर्व रूप से हुई थी। इसमें बहुत बड़े बड़े और ऊँचे भवनों की बहुत सी पंक्तियाँ थीं; इसके राजमार्गों में बड़े बड़े घोड़े दौड़ते थे; इसकी दीवारें कांतियुक्त, स्वच्छ, शुभ्र और गगन-चुंबी थीं; यह आकाश से बातें करती थी और इसमें ऐसे बड़े बड़े स्वच्छ भवन थे जो तुषार-मंडित पर्वत की चोटियों के समान जान पड़ते थे।"

१ मि० कारले को इंदौरखेडा में राम (रामस) का एक ऐसा सिक्का मिला था जिसके अंत में "दात" शब्द नहीं था। A.S.R., खंड १२, पृ० ४३.

पहली शताब्दी की है। उसी वर्ग में रामदात के सिक्के भी हैं। मेरी समझ में ये तीनों राजा इस वंश के वही राजा हैं जो शेषनाग रामचंद्र और शिशुनंदी के नाम से प्रसिद्ध हैं। ये तीनों अपने सिक्कों के कारण परस्पर संबद्ध हैं और यह बात पहले से ही मानी जा चुकी है[1]। जैसा कि प्रो० रैप्सन ने बतलाया है (जनरल रायल एशियाटिक सोसाइटी, १६००, पृ० ११५), शेष और शिशु के सिक्कों का वीरसेन के सिक्कों के साथ घनिष्ठ संबंध है। वीरसेन के जिस सिक्के का चित्र प्रो० रैप्सन ने दिया है, इसमें राज-सिंहासन के पीछे एक खड़े हुए नाग का चित्र है ,राज-सिंहासन पर बैठी हुई स्त्री की मूर्त्ति है, जो अपने ऊपर उठाए हुए दाहिने हाथ में एक घड़ा लिए हुए है। यह मूर्त्ति गंगा की जान पड़ती है। वीरसेन का एक और सिक्का है जिसका चित्र जनरल कनिंघम ने दिया है। उसमें एक पुरुष की मूर्ति के पास खड़े हुए नाग का चित्र है। नव नाग के सिक्कों के ढंग पर (देखो § २०) इस नाग की मूर्त्ति के योग से "वीरसेन नाग" का नाम पूरा होता है। मूर्त्ति वीरसेन की है और उसके आगे का नाग इस बात का सूचक है कि वीरसेन "नाग" है। नाग सिक्कों पर मुख्यतः वृष या नंदी, नाग या साँप और त्रिशूल के चित्र ही पाए जाते हैं।

§ १८. अब तक लोग यही मानते रहे हैं कि शिशुचंद्रदात,[2] शेषदात और रामदात में जो "दात" शब्द है वह भी "दत्त"

---

१ रैप्सन—जरनल रायल एशियाटिक सोसाइटी, १६००, पृ० १०६।

२ J. R. A. S. १६००, पृ० ९७ के सामने का प्लेट, चित्र सं० १४।

शब्द के ही समान है; पर यह बात ठीक नहीं है। यह "दात" वस्तुतः दातृ या दात्व शब्द के समान है (जैसा कि शिशुचंद्रदात में स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ता है और जिसका अर्थ है—उदार, बलि चढ़ानेवाला, रक्षक और दाता)। हमारे इस कथन का एक और प्रमाण यह भी है कि इस प्रकार के कुछ सिक्कों में केवल "रामस" शब्द भी आया है, जिसके आगे दात नहीं है[1]।

§ १६. इसके अतिरिक्त उत्तमदात और पुरुपदात[2] के तथा कामदात और शिवदात के भी सिक्के हैं जिनका उल्लेख प्रो० रैप्सन ने (जनरल रायल एशियाटिक सोसाइटी १६००, पृ० १११ में कामदत्त और शिवदत्त के नाम से किया है) और भवदात के भी सिक्के हैं (जिनका चित्र जनरल रायल एशियाटिक सोसाइटी, १६००, पृ० ९७ के प्लेट नं० १३ में है) जिसे प्रो० रैप्सन ने भी मदत्त पढ़ा है, पर जो वास्तव में भवदात[3] है। फिर उन राजाओं के भी सिक्के हैं जिनके नाम पुराणों में नहीं आए हैं। ऐसे राजाओं में एक राजा "शिवनंदी" भी है जिसका उल्लेख पवायावाले शिलालेख में है और जिसके संबंध में अब हम सहज में कह सकते हैं कि यह वही सिक्कोंवाला शिवदात है।

§ २०. इस प्रकार हमें इस राजवंश के नीचे लिखे राजाओं के नाम मिलते हैं जिनके निम्नलिखित क्रमबद्ध सिक्के भी पाए जाते हैं—

---

१ A. S. I, खंड १२, पृ० ४३।

२ विंसेंट स्मिथ C. I. M., पृ० १६०, १९२।

३ मिलाओ विंसेंट स्मिथ, C. I. M., पृ० १९३।

(१) शेष नागराज (सिक्कों पर नाम) शेषदात ।
(२) रामचंद्र .... रामदात ।
(३) शिशुनंदी .... शिशुचंददात ।

(४) शिवनंदी	(यह नाम शिलालेख से लिया गया है। पुराणों में जिन राजाओं के नाम नहीं आए हैं, यह उन्हीं में से एक है।)	शिवदात[1]
(५) भवनंदी	(अनुल्लिखित राजाओं में से एक)	भवदात ।

§ २१. हम यह नहीं कह सकते कि शिशुनाग आदि आरंभिक नाग राजा मथुरा में शासन करते थे या नहीं; क्योंकि मथुरा एक ऐसा स्थान था, जहाँ पद्मावती, विदिशा, अहिच्छत्र आदि आस-पास के अनेक स्थानों से सिक्के आया करते थे। हाँ, पुराणों में हमें यह उल्लेख अवश्य मिलता है कि वे विदिशा में राज्य करते थे और उनमें से पहले राजा शेष ने अपने शत्रु की राजधानी जीती थी। इस विजित राजनगर का नाम ब्रह्मानंद ने सुरपुर दिया है, इसलिये हम यह मान सकते हैं कि शेष ने इंद्रपुर नामक नगर जीता था जो आजकल बुलंदशहर जिले में है। उन दिनों यह एक बहुत महत्त्वपूर्ण नगर था[2] और इसी स्थल पर

---

१ प्रो० रैप्सन ने J. R. A. S., १९००, पृ० १११ में इसे "शिवदत्त" लिखा है।

२ A. S. R. खंड १२, पृ० ३६ की पाद-टिप्पणी।

आरंभिक नाग राजाओं के कुछ सिक्के पाए गए हैं। हमें यह भी पता चलता है कि शिवनंदी का राज्य पद्मावती तक था। जो हो, पर इसमें संदेह नहीं कि विदिशा के साथ मथुरा का बहुत पुराना राजनीतिक संबंध है और आगे चलकर नाग राजाओं के समय में यह संबंध फिर से स्थापित हो गया था। यह माना जा सकता है कि आरंभिक नाग राजाओं ने मथुरा से क्षत्रपों को भगाने में बहुत कुछ कार्य किया था और इस सिद्धांत का इस बात से खंडन नहीं हो सकता कि मथुरा में एक ऐसे राजवंश का राज्य था, जिसके राजाओं के नाम के अंत में क्षत्रपों के समय के बाद के सिक्कों में "मित्र" शब्द मिलता है, क्योंकि ये सिक्के और भी बाद के जान पड़ते हैं[1]।

विदिशा के नागों की वंशावली

§ २२. संभवतः नीचे लिखे कोष्ठक से विदिशा के नागों की वंशावली का बहुत कुछ ठीक ठीक पता चल जायगा—

ई० पू० ११० से ई० पू० ३१ तक राजा तो पाँच, पर पीढ़ियाँ चार हुई	शेष	ई० पू० ११०–९०	सिक्के मिलते हैं
	भोगिन्	ई० पू० ९०–८०	सिक्के नहीं मिलते
	रामचंद्र	ई० पू० ८०–५०	बहुत सिक्के मिलते हैं
	धर्मवर्म्मन्	ई०पू० ५०–४०	सिक्के नहीं मिलते
	वंगर	ई० पू० ४०—३१	सिक्के नहीं मिलते

सन् ३१ ई० पू० के बाद के राजाओं का समय, जो अब आगे से संभवतः पद्मावती में राज्य करते थे, इस प्रकार होगा—

ई० पू० २०—१०	भूतनंदी	सिक्के नहीं मिलते
ई० पू० १०—२५ ई०	शिशुनंदी	बहुत से सिक्के मिलते हैं
२५—३० ई०	यशनंदी	सिक्के नहीं मिलते

१ विंसेंट स्मिथ C. I. M., पृ० १९०

ये वे राजा हैं जिनका पुराणों में उल्लेख नहीं है। इन्हीं में शिवनंदी (उसके राज्य-काल के चौथे वर्ष के लेख में यही नाम है; पर सिक्कों में शिवदात नाम मिलता है) भी है जिसका समय सन् ५० ई० के लगभग है। फिर सन् ८० से १७५ ई० तक कुशनों का राज्य था, जब कि नाग राजा लोग हटकर मध्यप्रदेश के पुरिका और नागपुर नंदिवर्द्धन नामक स्थान में चले गए थे (देखो §§ ३१ क और ४४)।

यदि हम उक्त दोनों सूचियों को मिलाकर आरंभिक नाग राजाओं की फिर से सूची तैयार करते हैं तो हमें नीचे लिखे राजा मिलते हैं—

(१) शेषनाग।

(२) भोगिन्।

(३) रामचंद्र।

(४) धर्मवर्म्मा।

(५) वंगर।

(६) भूतनंदी।

(७) शिशुनंदी।

(८) यशःनंदी। इन आठों का परस्पर जो संबंध है, वह ऊपर बतलाया जा चुका है। (देखो § १३)

(९) से १३ तक

पुरुषदात उत्तमदात कामदात भावदात शिवनंदी या शिवदात	लेखों और सिक्कों के आधार पर पाँच राजा। अभी यह निश्चित नहीं है कि ये लोग किस क्रम से सिंहासन पर बैठे थे।

इन राजाओं का समय लगभग ई० पू० ११० से सन् ७८ ई० तक प्रायः दो सौ वर्षों का है।

३. ज्येष्ठ नाग वंश और वाकाटक

विदिशा के मुख्य नागवंश का अधिकार दौहित्र को मिल गया था

§ २३. पुराणों के कथनानुसार ज्येष्ठ नागवंश, विवाह-संबंध के कारण, वाकाटकों में मिल गया था। और जैसा कि हम आगे चलकर बतलावेंगे, इस मत का समर्थन वाकाटकों के शिलालेखों आदि से भी होता है। पुराणों में कहा है कि यशनंदी के उपरांत उसके वंश में और भी राजा होंगे अथवा विदिशावाले वंश में—

> तस्मि आन्वये भविष्यन्ति राजानस्तत्र यस्तु।
> दौहित्राः शिशुको नाम पुरिकायां नृपो भवत्[1]॥

अर्थात्—इस वंश में और राजा होंगे; और इन्हीं में वह दौहित्र भी था, जिसका नाम शिशु था और जो पुरिका का राजा हुआ था[2]। यहाँ "राजानस्तत्र यस्तु" के स्थान पर कुछ प्रतियों में "राजानस्तम् (ना ते) त्रयस्तु वै" पाठ मिलता है जो स्पष्टतः अशुद्ध है, क्योंकि "त्रयः" शब्द के पहले "ते" शब्द की कोई

---

१. P. T. पृ० ४६, पाद-टिप्पणी २३।

२. पुरिका के लिये देखो J. R. A. S १९००, पृ० ४४५ में पारजिटर का Ancient Indian Historical Traditions शीर्षक लेख, पृ० २६२। इस लेख में पुरिका का जो स्थान निश्चित किया गया है, उससे यह होशंगाबाद जान पड़ता है।

आवश्यकता नहीं है; और यदि "तम्" हो तो उसका कोई अर्थ नहीं हो सकता। यदि "त्रयः" पाठ ही मान लिया जाय, जिसके होने में मुझे संदेह है, तो फिर उसका अर्थ यह मानना होगा कि यशःनंदी के आगे राजाओं की तीन शाखाएँ हो गई थीं; और यह अर्थ नहीं होगा कि यशःनंदी के बाद तीन और राजा हुए थे, क्योंकि आगे चलकर विष्णुपुराण में कहा है कि नव नागों[1] ने पद्मावती, मथुरा और कांतिपुरी इन तीन राजधानियों से राज्य किया था। यशः नंदी का वंश अथवा कम से कम उसकी एक शाखा समाप्त हो गई और जाकर दौहित्र में मिल गई जिसे साधारणतः लोग शिशु कहते हैं। नागों ने पद्मावती छोड़ दी थी; और ऐसा जान पड़ता है कि प्रबल कुशन राजाओं के आ जाने के कारण ही उन्हें पद्मावती छोड़नी पड़ी होगी। पुराणों में हमें निश्चित रूप से यह उल्लेख मिलता है कि विन्वस्फाणि पद्मावती में राज्य करता था और उसका राज्य मगध तक था (देखो §§ ३३-३४)। अतः अब हम यह बात मान सकते हैं कि सन् ८०-१०० ई० के लगभग नाग वंश के राजा लोग मथुरा और विदिशा के बीच के राजमार्ग से हट गए थे और उन्होंने मध्यप्रदेश के अगम्य जंगलों में जाकर शरण ली थी (§ ३१ क)।

---

१. नवनागाः पद्मावत्याम् कांतिपुर्याम् मथुरायाम्। अनुगंगा प्रयाग मागधा गुप्ताश्च भोक्ष्यंति। जिस प्रकार गुप्तों के साथ मागजाः विशेषण है, उसी प्रकार नागों के साथ विशेषण रूप से "नव" शब्द आया है। पर पुराणों में न तो गुप्तों की ही और न नागों की ही कोई संख्या दी गई है। अतः यहाँ इस "नव" शब्द का अर्थ "नौ" नहीं हो सकता। या तो इसका अर्थ "नये या परवर्त्ती नाग" हो सकता है या—"राजा नव के वंश के नाग"। (देखो § २९)

§ २४. पुराण जब नाग शाखा का उल्लेख करते हुए "शिशु राजा" तक पहुँचते हैं, तब वे विंध्यशक्तिवाली शाखा का उल्लेख आरंभ कर देते हैं, और विंध्यशक्ति के पुत्र का वर्णन करते हैं जिसके संबंध में वे यह कहते हैं कि वह जन-साधारण में प्रवीर या बहुत बड़ा वीर माना जाता था[1]। विष्णु पुराण में यह बात स्पष्ट रूप से कही गई है कि शिशु और प्रवीर दोनों मिलकर राज्य करते थे (शिशुक-प्रवीरौ)। वायुपुराण में इनके लिये बहुवचन क्रिया "भोक्ष्यन्ति" का प्रयोग हुआ है जो द्विवचन का प्राकृत रूप है[2]। भागवत में शिशु का कहीं नाम ही नहीं है और केवल प्रवीर का उल्लेख है। इस प्रकार यहाँ यह सिद्ध होता है कि पौराणिक इतिहास-लेखक यहाँ यह प्रकट करते हैं कि शिशु ने अपने मातामह या नागराज का राज्य पाया था और उस दौहित्र शिशु के नाम पर विंध्यशक्ति का पुत्र प्रवीर शासन करता था। वायुपुराण और ब्रह्मांडपुराण में जो "च=अपि" (विंध्यशक्ति सुतस् चापि) शब्द आया है, उससे भी दोनों का मिलकर ही शासन करना सिद्ध होता है। विष्णुपुराण ने तो स्पष्ट रूप से ही शिशु को पहला स्थान दिया है और वायु तथा ब्रह्मांडपुराणों के वर्णनों में इसका पता केवल प्रसंग से चलता है। वायु और ब्रह्मांड पुराणों में कहा गया है कि प्रवीर ने ६० वर्षों तक पुरिकांचनका में अथवा पुरिका और चणका में[3] राज्य किया था। यह पुरिका और चणकावाला अंतिम

पुरिका और चणका में नाग दौहित्र और प्रवीर प्रवरसेन

---

१ प्रवीरो नाम वीर्यवान्।

२. पारजिटर, पृ० ५०, पादटिप्पणी ३१।

३. पारजिटर के प्राकृत रूपों "पुलका" और "चलका" का ध्यान

पाठ ही अधिक ठीक जान पड़ता है, क्योंकि वहाँ "और" या "च" शब्द भी आता है। भार-शिवों और वाकाटकों के इतिहास का जो विवरण शिलालेखों आदि में मिलता है (देखो § २५) उसका भी इस मत से पूर्ण रूप से समर्थन होता है और इस विवरण से वह विवरण बिलकुल मिल जाता है।

शिलालेखों द्वारा पुराणों का समर्थन

§ २५. वाकाटक शिलालेखों[1] के अनुसार राज-सिंहासन गौतमीपुत्र को, जो सम्राट् प्रवरसेन का पुत्र और रुद्रसेन प्रथम का पिता था, नहीं मिला था, बल्कि रुद्रसेन प्रथम को मिला था जो सम्राट् प्रवरसेन का पोता भी था और भारशिव महाराज भवनाग का नाती भी था। पर यहाँ

रखते हुए और वायु पुराण के "पुरिकाम् चनकान् च वै" का भी ध्यान रखते हुए यह पाठ भी हो सकता है—"भोक्ष्यन्ति च समा षष्ठिम् पुरीम् कांचनकान् च वै"। यह चनका वही स्थान हो सकता है जिसे आज-कल नचना कहते हैं। साधारणतः अक्षरों का इस प्रकार का विपर्यय प्रायः देखने में आता है। अजयगढ़ रियासत में नचना एक प्राचीन राजस्थानी है जहाँ वाकाटकों के शिलालेख और स्मृति-चिह्न आदि पाए गए हैं। (A. S. R. २१। ९५) जैन साहित्य में भी चनकापुर का उल्लेख है, जहाँ वह राजगृह का पुराना नाम बतलाया गया है (अभि-धान राजेंद्र)। चनका का अर्थ होगा "प्रसिद्ध"। बहुत संभव है कि कांचनका और चनका एक ही स्थान के दो नाम हों। कालिका पुराण (३।१४।२।२१. वेंकटेश्वर प्रेस का संस्करण पृ० २९८) में नागों की राजधानी का नाम कांचनापुरी कहा गया है; और कहा है कि वहाँ पहाड़ी पर एक गुप्त गढ़ी थी (गिरिदुर्गावृता)। साथ ही देखो नचना के संबंध में § ६०।

१ फ्लीट कृत Gupta Inscriptions पृ० २३७, २४५।

विशेष ध्यान रखने की बात यह है कि वह पहले भार-शिव के नाती के रूप में और तब वाकाटक की हैसियत से राज्य का उत्तराधिकारी हुआ था, और वह समुद्रगुप्त की तरह उत्तराधिकारी नहीं हुआ था जो शिलालेखों में पहले तो गुप्त राजा कहलाता है और तब लिच्छवियों का नाती। वाकाटकों के एक ताम्रलेख (बालाघाट, खंड ६ पृ० २७०) में रुद्रसेन प्रथम स्पष्ट रूप से भार-शिव महाराज—भारशिवानाम् महाराज श्रीरुद्रसेनस्य—कहा गया है। इस प्रकार इस विषय में विष्णु पुराण का वाकाटक वंश के लेखों से पूरा पूरा समर्थन होता है। फिर वाकाटक लेखों में रुद्रसेन प्रथम की मृत्यु के समय वाकाटक काल का एक प्रकार से अंत कर दिया जाता है और वह दूसरे वाकाटक काल से पृथक् कर दिया जाता है जो पृथिवीषेण प्रथम और उसके पुत्र तथा उत्तराधिकारी से आरंभ होता है। जैसा कि हम आगे चलकर बतलावेंगे, इसका कारण यह है कि जब समुद्रगुप्त के द्वारा रुद्रसेन परास्त होकर मारा गया, तब वाकाटकों के सम्राट् पद का अंत हो गया (देखो §५२ की पाद-टिप्पणी)। समुद्रगुप्त ने इसे भी उसी प्रकार रुद्रदेव कहा है, जिस प्रकार नेपालवाले लेखों में वसंतसेन को वसंतदेव कहा गया है[1]। पृथिवीषेण प्रथम के राज्यारोहण के समय इस वंश को राज्य करते हुए पूरे सौ वर्ष हो गए थे; और इसीलिये लेखों में उस पहले काल का अंत कर दिया गया है जो स्वतंत्रता का काल था। यथा—वर्षशत

"भारशिवानांमहाराज श्री भवनाग दौहित्रस्य गौतमीपुत्रस्य पुत्रस्य वाकाटकानां महाराज श्री रुद्रसेनस्य"।

१. फ्लीट कृत Gupta Inscriptions की प्रस्तावना, पृष्ठ १८६—१६१।

अभिवर्द्धमान कोष दंड साधन[१] । वायु और ब्रह्मांडपुराणों में कहा गया है कि विंध्यशक्ति के वंश ने ९६ वर्षों तक राज्य किया था[२] । लेख में जो "सौ वर्ष" कहा गया है, वह उसी प्रकार कहा गया है, जिस प्रकार आज-कल हम लोग कहते हैं—'प्रायः एक शताब्दी तक' । मतलब यह कि यह बात प्रमाणित हो जाती है कि भूतनंदी नाग के वंशज ही भार शिव कहलाते थे ।

४. भार-शिव राजा और उनकी वंशावली

§ २६. कौशांबी की टकसाल का एक ऐसा सिक्का मिला है जो अनिश्चित या अज्ञात वर्ग के सिक्कों में रखा गया है और जिस पर "[दे] व" पढ़ा जाता है । विंसेंट स्मिथ ने अपने Catalogue of Indian Museum के पृष्ठ २०६, प्लेट २३ में इसका चित्र दिया है और उस चित्र की संख्या १५ और १६ है । यह सिक्का आगरा और अवध के संयुक्त प्रांतों में आम तौर से पाया जाता है । अभी तक निश्चित रूप से यह

नव नाग

---

१. जिसके वंश में बराबर पुत्र और पौत्र होते चलते थे, जिसका राजकोश और दंड या शासन के साधन बराबर सौ वर्षों तक बढ़ते चलते थे ।—फ्लीट ।

२. समाः षण्णवतिं भूत्वा [ज्ञात्वा], पृथिवी तु गमिष्यति । (Purana Texts पृ० ४८ पाद-टिप्पणियाँ ८६, ८८)—"९६ वर्ष पूरे होने पर साम्राज्य (आगे देखो तीसरा भाग § १२५) का अंत हो जायगा ।"

नहीं कहा जा सका है कि इसका पहला अक्षर क्या है। मैंने ईसवी पहली शताब्दी से लेकर तीसरी शताब्दी तक की लिपियों में आए हुए वैसे अक्षरों से उसका मिलान किया है, और मैं समझता हूँ; कि वह अक्षर 'न" है। यह "न" आरंभिक कुशन ढंग का है[१]। यह सिक्का 'नवस' है और नवस के ऊपर एक नाग या साँप का चित्र है जो फन फैलाए हुए है। यह नाग इस राजवंश का सूचक है जो इस वंश के और सिक्कों पर भी स्पष्ट रूप से दिया हुआ है (देखो § २६ ख)। मैं इसे नव नाग का सिक्का मानता हूँ। यहाँ जो ताड़ का चिह्न है, वह इस वर्ग के दूसरे सिक्कों तथा भार-शिवों के स्मृति-चिह्नों पर भी पाया जाता है। (देखो § ४६ क)।

इस सिक्के ने मुद्रा-शास्त्र के ज्ञाताओं को चक्कर में डाल रखा है[१]। यह सिक्का बहुत दूर दूर तक पाया गया है। इससे यह समझा जाता है कि जिस राजा का यह सिक्का है, वह राजा है, वह राजा प्रमुख होगा और इतिहास में उसका महत्त्वपूर्ण स्थान होगा। पर अभी तक यह पता नहीं चलता था कि यह राजा कौन है। न इसका नाम ही ज्ञात होता था और न वंश ही। पर फिर भी इस राजा के संबंध में इतना अवश्य निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि—

---

१. देखो E. I., खंड १, पृ० ३८८ के सामनेवाले प्लेट में पंद्रहवें वर्ष के नं० २ ए और पैंतीसवें वर्ष के नं० ७ बी में का 'न'। साथ ही मिलाओ खंड २, पृ० २०५ में ७६ वें वर्ष के नं० २० का 'न'।

१ मिलाओ विंसेंट स्मिथ कृत C. I. M., पृ० १६६—"ये देवस वर्ग के सिक्के, जिन पर अलग क्रमांक दिया गया है, चक्कर में डालने-

(१) यह राजा संयुक्त प्रांतों में राज्य करता था।

(२) इसके सिक्के कौशांबी से निकलते थे, जहाँ ये प्रायः पाए जाते हैं; और इन सिक्कों पर कौशांबी की हिंदू टकसाल के चिह्न और तत्त्व पाए जाते हैं।

(३) ये सिक्के उसी वर्ग के हैं, जिस वर्ग के सिक्के डा० स्मिथ ने Coin of Indian Musuem के २३ वें प्लेट पर प्रकाशित किए हैं और जिन्हें उन्होंने "अनिश्चित राजाओं के सिक्के" कहा है (देखो आगे § २६ ख)।

(४) इसके सिक्के विदिशा-मथुरा के नाग सिक्कों से मिलते-जुलते हैं।

(५) इसने कम से कम २७ वर्षों तक राज्य किया था, क्योंकि इसके सिक्कों पर राज्यारोहण-संवत् ६, २० और २७ है[१]।

(६) अपने सिक्कों के कारण एक ओर तो पद्मावती और विदिशा के साथ तथा दूसरी ओर वीरसेन तथा

वाले हैं। ये सिक्के आगरा और अवध के संयुक्त प्रांतों में आम तौर पर पाये जाते हैं और इस तरह का एक अच्छा सिक्का, जो पहले मेरे पास था, इलाहाबाद जिले के कोसम नामक स्थान से आया था। इसके ऊपर के अक्षर पुराने ढग के अक्षरों के समान जान पड़ते हैं। प्रो० रैप्सन ने इस पर लिखे हुए अक्षरों का देवस पढ़ा है। पहला अक्षर, जिसका आकार विचित्र है, साधारणतः 'ने' पढ़ा गया है, पर शुद्ध पाठ 'दे' जान पड़ता है। पर इस बात का किसी प्रकार पता नहीं चलता कि यह देव कौन था।'

१. विंसेंट स्मिथ कृत C. I. M. पृ० २०६।

कौशांबीवाले सिक्कों के दूसरे राजाओं के साथ इसका संबंध स्थापित होता है।

जैसा कि हम आगे चलकर § २६ ख में बतलावेंगे, कौशांबी के सिक्के वास्तव में भार-शिव राजाओं के सिक्के हैं। इनमें से कई सिक्कों पर ऐसे नाम हैं जिनके अंत में नाग शब्द आया है। हमारे सिक्कों का यह नव नाग वही राजा जान पड़ता है जिसके नाम पर पुराणों ने नव नाग या नव नाक राजवंश का नामकरण किया है। यही उस नव नाग राजवंश का प्रतिष्ठापक था जिस राजवंश की राजकीय उपाधि भार-शिव थी। इसके सिक्कों पर के अक्षर आकार में वैसे ही हैं, जैसे हुविष्क वासुदेव के लेखों के अक्षर हैं; इसलिये हम यह मान सकते हैं कि यह वासुदेव का समकालीन था और इसका समय लगभग सन् १४०–१७० ई० निश्चित कर सकते हैं।

§ २६ क. हमें पता चलता है कि सन् १७५ या १८० ई० के लगभग एक नाग राजा ने मथुरा में फिर से हिंदू राज्य स्थापित किया था। वह राजा वीरसेन था। वीरसेन के उत्थान से केवल नाग-वंश के इतिहास में ही नहीं बल्कि आर्यावर्त्त के इतिहास में भी मानों एक नवीन युग का आरंभ होता है। उसके अधिकांश सिक्के उत्तरी भारत में और विशेषतः समस्त संयुक्त प्रांत में पाए गए हैं और कुछ सिक्के पंजाब में भी मिले हैं[1]।

सन् १७५–१८० के लगभग वीरसेन द्वारा मथुरा में भार-शिव राज्य की स्थापना

१. विंसेंट स्मिथ के शब्दों में—"ये सिक्के पश्चिमोत्तर प्रांतों और पंजाब में भी साधारणतः पाए जाते हैं।" J. R. A. S., १८९७, पृ० ८७६। साथ ही देखो Catalogue of Coins in Lahore Musuem, तीसरा भाग, पृ० १२८ राजस C. I. M., तीसरा भाग, पृ० ३२–३३।

मथुरा में तो ये बहुत अधिकता से पाए जाते हैं जहाँ से कनिंघम को प्रायः सौ सिक्के मिले थे। कारलेली को बुलंदशहर जिले के इंदौरखेड़ा नामक स्थान में ऐसे तेरह सिक्के मिले थे। ऐसे सिक्के एटा जिले के कुछ स्थानों में, कन्नौज में तथा फर्रुखाबाद जिले के कुछ और स्थानों में भी पाए गए हैं[1]। इस प्रकार यह सूचित होता है कि वह मथुरा में रहता था और समस्त आर्यावर्त्त दोआब पर राज्य करता था। आम तौर पर उसके जो सिक्के पाए जाते हैं, वे छोटे और चौकोर होते हैं। उन पर सामने की ओर ताड़ का पेड़ होता है[2] और सिंहासन पर बैठी हुई एक मूर्त्ति होती है[3] (विसेंट स्मिथ C. I. M. पृ० १९१)। जैसा कि पहले बतलाया जा चुका है, यह ताड़ का वृक्ष नागों का चिह्न है। जैसा कि हम आगे चलकर बतलावेंगे, यह चिह्न भार-शिवों के बनवाए हुए स्मृति चिह्नों आदि पर भी मिलता है (§ ४६ क)। इस राजा के एक और तरह के भी सिक्के मिलते हैं जिनमें के एक सिक्के का चित्र जनरल कनिंघम ने अपने Coins of Ancient India के आठवें प्लेट में दिया है। इसका क्रमांक १८ है। इसमें एक मनुष्य[4] की कदाचित् बैठी हुई मूर्त्ति है जिसके हाथ में एक खड़ा हुआ नाग है। इस राजा के एक तीसरे प्रकार के सिक्के का चित्र प्रो०

---

१. विसेंट स्मिथ कृत C. I. M, पृ० १९१।

२. उक्त ग्रंथ पृ० १९१।

३. सिंहासन पर जो छत्र बना है, उसे कुछ लोग प्रायः भूल से राजमुकुट समझते हैं। (मिलाओ C. I. M, पृ० १९७)।

४. देखो यहाँ दिया हुआ प्लेट १। इसमें दिए हुए चित्र कनिंघम के दिए हुए चित्र के फोटो नहीं हैं, बल्कि उन्हें देखकर हाथ से तैयार किए हुए चित्र हैं।

त्रय नाग
(इंडियन म्यूजियम)
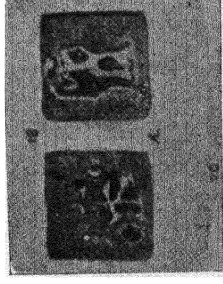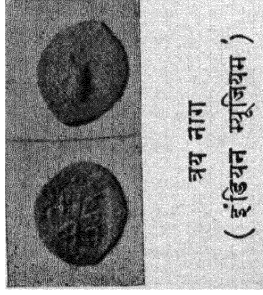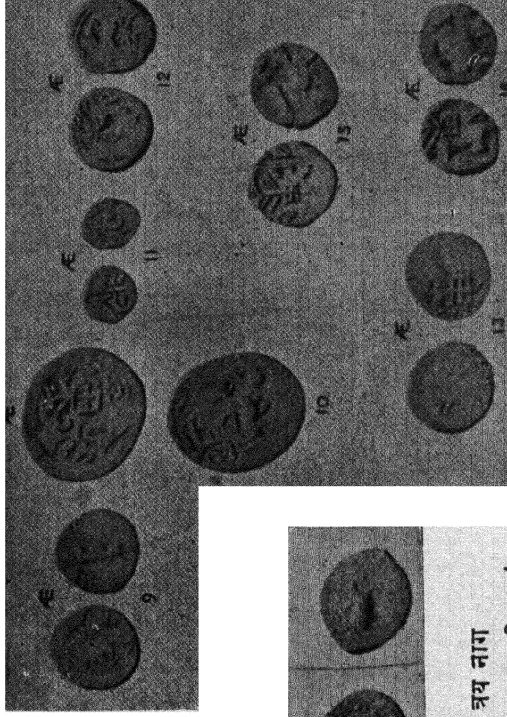
Coins of Indian Museum प्लेट २३
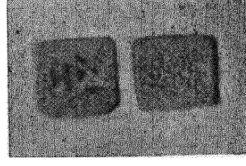
Coins of Ancient India प्लेट २३

जनरल रायल एशियाटिक सोसाइटी
१९०० पृ० ६७ वीरसेन
पृ० ३३

रैप्सन ने सन् १६०० के जनरल रायल एशियाटिक सोसाइटी में, पृष्ठ ६७ के सामनेवाले प्लेट में, दिया है जिसका क्रमांक १५ है। उसमें एक छत्रयुक्त सिंहासन पर एक बैठी हुई स्त्री की मूर्त्ति है और सिंहासन के नीचे वाले भाग से नाग उठकर छत्र तक गया है; और ऐसा जान पड़ता है कि वह नाग छत्र को धारण किए हुए है और सिंहासन की रक्षा कर रहा है। यह मूर्त्ति गंगा की है, क्योंकि इसके दाहिने हाथ में एक घड़ा है[1]। सिक्के के दूसरे या पिछले भाग में ताड़ का एक वृक्ष है जिसके दोनों ओर उसी तरह के कुछ चिह्न हैं। बनावट की दृष्टि में यह सिक्का भी वैसा ही है, जैसे नव के और सिक्के हैं; और इसमें राजा की उपाधि की पूर्ति करने के लिये नाग की मूर्त्ति दी गई है। इस पर समय भी उसी प्रकार दिया गया है, जिस प्रकार नव के और सिक्कों पर दिया गया है। नाग तो वंश का सूचक है और ताड़ का वृक्ष राजकीय चिह्न है। कुछ सिक्कों में राजसिंहासन पर के छत्र तक जो नाग बना है, उसका संभवतः दोहरा अर्थ और महत्त्व है। वह नागवंश का सूचक तो है ही, पर साथ ही संभवतः वह अहि-च्छत्र का भी सूचक है; अर्थात् वह यह सूचित करता है कि यह सिक्का अहिच्छत्र की टकसाल में ढला हुआ है। इस राजा का पद्मावती की टकसाल का ढला हुआ भी एक सिक्का है[2] जिस पर लिखा है—महाराज व(वि); और साथ ही उस पर मोर का एक

---

१. देखो यहाँ दिया हुआ प्लेट नं० १। [उस समय के जिस ढले हुए सिक्के का चित्र प्लेट २३ क्रमांक २ में है, उसमें की खड़ी हुई मूर्त्ति मुझे गंगा की जान पड़ती है।]

२ कनिंघम कृत Coins of Mediovał India, प्लेट २, चित्र सं० १३ और १४।

चित्र है जो वीरसेन या महासेन देवता का वाहन है। पद्मावती के नाग राजाओं के सिक्कों में से यह सबसे आरंभिक काल का सिक्का है (§ २७)। तौल, आकार और चिह्न आदि के विचार से भी ये सब सिक्के हिंदू सिक्कों के ही ढंग के हैं। यही बात हम दूसरे ढंग से यों कह सकते हैं कि वीरसेन ने कुशनों के ढंग के सिक्कों का परित्याग करके हिंदू ढंग के सिक्के बनवाए थे।

वीरसेन का शिलालेख

फर्रुखाबाद जिले की तिरवा तहसील के जानखट नामक गाँव में सर रिचर्ड बर्न ने छत्तीस वर्ष पहले[२] इस राजा का एक शिलालेख ढूँढ़ निकाला था। मि० पारजिटर द्वारा संपादित Epigraphia Indica खंड ११, पृ० ८५ में यह लेख प्रकाशित हुआ है। कई टूटी हुई मूर्तियाँ और नक्काशी किए हुए पत्थर के टुकड़े हैं और यह लेख पत्थर की बनी हुई एक पशु की मूर्त्ति के सिर और मुँह पर खुदा है[१]। इसमें भी वही राजकीय चिह्न खुदे हैं जो उस सिक्के में हैं जिसका चित्र प्रो० रैप्सन ने दिया है। उसमें एक वृक्ष का सा आकार बना है जो उन्हीं के सिक्कों पर बने हुए वृक्ष के ढंग का है; और इसलिए हम कह सकते हैं कि वह

---

२ J. R. A. S, १६००, पृ० ५५३।

१ इसमें संदेह नहीं कि मूर्त्तियों आदि के ये टुकड़े भार-शिव कला के नमूने हैं। सौभाग्य से मुझे इनका एक फोटो मिल गया। यह भारत के पुरातत्त्व विभाग द्वारा सन् १६०६ में लिया गया था। देखो यहाँ दिया हुआ प्लेट नं० २। इस चित्र के लिये मैं पुरातत्त्व विभाग के डाइरेक्टर जनरल राय बहादुर दयाराम साहनी को धन्यवाद देता हूँ। इसमें का स्तंभ मकर तोरण है। इसमें की स्त्री की मूर्त्ति गंगा की है जो राजकीय चिह्न है।

वृक्ष ताड़ का है। उसके आस-पास सजावट के लिये कुछ और भी चिह्न बने हैं; और ये चिह्न भी सिक्कों पर बने हुए चिह्नों के समान ही हैं; पर अभी तक यह पता नहीं चला है कि ये चिह्न किस बात के सूचक हैं। ये राजकीय चिह्न हैं; और इसी कारण मैं समझता हूँ कि ये राज्य अथवा राजवंश की स्थापना के सूचक हैं। यह शिलालेख स्वामिन् वीरसेन के राज्य-काल के तेरहवें वर्ष का है (स्वामिन् वीरसेन संवत्सरे १०, ३)। इसका शेष अंश इतना टूटा-फूटा है कि उससे यह पता नहीं चल सकता कि इस लेख के अंकित करने का उद्देश्य क्या था। इस पर ग्रीष्म ऋतु के चौथे पक्ष की आठवीं तिथि अंकित है।........इसके अक्षर वैसे ही हैं, जैसे अहिच्छत्रवाले सिक्के पर के अच्छर हैं। इसके अतिरिक्त और सभी बातों में वे अक्षर आदि हुविष्क और वासुदेव के उन शिलालेखों के अक्षरों से ठीक मिलते हैं जो मथुरा में पाए गए थे और जो डा० बुहलर द्वारा प्रकाशित Epigraphia Indica के पहले और दूसरे खंडों में दिए हैं। उदाहरण के लिये, इस शिलालेख को उस शिलालेख से मिलाइए, जो कुशान संवत् ९० का है और जो उक्त ग्रंथ के दूसरे खंड में पृ० २०५ के सामने-वाले प्लेट पर दिया है। दोनों में ही स, क और न की खड़ी पाइयों का ऊपरी भाग अपेक्षाकृत मोटा है। यद्यपि जानखट-वाले शिलालेख में का इ कुछ पुराने ढंग का है, पर फिर भी वह कुशान संवत् ९० के उक्त शिलालेख के इ से बहुत कुछ मिलता-जुलता है। इस शिलालेख में जो मात्राएँ हैं, वे कुछ झुकी हुई सी हैं और वैसी ही हैं, जैसी कुशान संवत् ४ के मथुरावाले शिलालेख नं० ११ की तीसरी पंक्ति में सह, दासेन और दानम् शब्दों में हैं; अथवा कुशान संवत् १८ के शिलालेख नं० १३ की तीसरी पंक्ति में हैं अथवा दूसरी पंक्ति के 'गणातो' में और साथ ही दूसरे शब्दों

के साथ आए हुए 'तो' में हैं और कुशन संवत ६८ के शिलालेख (क्षुणे गणातो) में हैं। जानखट के शिलालेख की कई बातें वासुदेव के समय के शिलालेखों की बातों से कुछ पुरानी हैं; और कुछ बातें उसी समय की हैं, इसलिये हम कह सकते हैं कि यह शिलालेख कम से कम वासुदेव कुशन के समय के बाद का नहीं है[1]।

---

१ डा० विंसेंट स्मिथ के Catalogue of Coins में वीरसेन के जो सिक्के दिए हैं, उनका समय पढ़ने में मि० पारजिटर ने एक वाक्यांश का कुछ गलत अर्थ किया है। उन्होंने यह समझा था कि डा० स्मिथ ने यह बात मान ली है कि वीरसेन का समय लगभग सन् ३०० ई० है। पर उन्होंने इस बात पर ध्यान नहीं दिया कि वीरसेन के जिन सिक्कों के चित्र कनिंघम और रैप्सन ने दिए हैं, वे सिक्के दूसरे हैं और आगे या बाद के वर्ग या विभाग में वीरसेन के नाम से जो सिक्के दिए गए हैं, वे उन सिक्कों से बिलकुल अलग हैं। [बाद-वाला वीरसेन वास्तव में प्रवरसेन है (§ ३०)]। इन दोनों प्रकार के सिक्कों का अंतर समझने में अभाग्यवश मि० पारजिटर से जो भूल हो गई है, उसका फल बुरा हुआ है। यद्यपि वे यह मानते हैं कि ई० पू० पहली शताब्दी से लेकर ई० दूसरी शताब्दी तक के शिलालेखों आदि में इ और व के तो यही रूप मिलते हैं, पर श का यह रूप केवल ईसवी दूसरी शताब्दी के ही लेखों में मिलता है; पर फिर भी वीरसेन के समय के संबंध में मि० विंसेंट स्मिथ ने जो अनुमान किया है [पर डा० स्मिथ का यह अनुमान उस वीरसेन के संबंध में कभी नहीं था, जिसके विषय में हम यहाँ विवेचन कर रहे हैं।] उससे इस शिलालेख के समय का मेल मिलाने के लिये मि० पारजिटर कहते हैं कि यह शिलालेख ईसवी तीसरी शताब्दी का होगा और बहुत संभव है कि

राजा नव की तरह वीरसेन ने भी अपने राज्य-काल के पहले वर्ष से ही महाराज के समस्त शासनाधिकार अपने हाथ में ले

उक्त शताब्दी के अंतिम भाग का हो। मि० पारजिटर के ध्यान में यह बात कभी नहीं आई कि डा० स्मिथ ने दो वीरसेन माने थे। मि० पारजिटर ने इस शिलालेख का समय कुछ बाद का निर्धारित करने के दो कारण बतलाए हैं; पर उनमें से एक भी कारण जाँचने पर ठीक नहीं ठहरता। इनमें से एक कारण वे यह बतलाते हैं कि 'ा' की जो मात्रा ऊपर की ओर कुछ झुकी हुई है, वह कुशन ढंग की नहीं बल्कि गुप्त ढंग की है। दूसरा कारण वे यह बतलाते हैं कि इस शिलालेख के अक्षरों का ऊपरी भाग अपेक्षाकृत कुछ मोटा है। पर सिद्धांततः भी और वस्तुतः भी मि० पारजिटर की ये दोनों ही बातें गलत हैं। किसी शिलालेख का काल निर्धारित करने के लिये उन्होंने यह सिद्धांत बना रखा है कि उस शिलालेख में अक्षरों के जो बाद के या नये रूप मिलते हैं, उनका व्यवहार कब से (अर्थात् अमुक समय से) होने लगा था। इस सिद्धांत के संबंध में केवल मुझे ही आपत्ति नहीं है, बल्कि मुझसे पहिले और भी कुछ लोगों ने इस पर आपत्ति की है। स्वयं डा० फ्लीट ने एक पाद-टिप्पणी में इस पर आपत्ति की है [E.I. ११; ८६]। किसी लेख में पहले के या पुराने ढंग के कुछ अक्षर भी मिल सकते हैं और उस दशा में उनका समय पहले से निश्चित समय की अपेक्षा और भी पुराना सिद्ध हो सकता है। यदि मि० पारजिटर के दोनों कारण वस्तुतः ठीक भी मान लिए जायें तो भी जिस लेख के अक्षरों को वे ई० पू० पहली शताब्दी से ईसवी दूसरी शताब्दी तक के मानते हैं, और उसके बाद के नहीं मानते, उन्हीं अक्षरों के आधार पर यह लेख ईसवी तीसरी शताब्दी का कभी माना नहीं जा सकता। पर वास्तविक घटनाओं के विचार से भी मि० पारजिटर का मत भ्रमपूर्ण

लिए थे। जानखट-वाला शिलालेख स्वयं उसी के राज्यारोहण-संवत का है[1]; पर कुशन शासन-काल में सब जगह कुशन संवत् लिखने की ही प्रथा थी। शिवनंदी के शिलालेख में भी स्वामिन् शब्द का प्रयोग किया गया है; और हिंदू धर्मशास्त्रों तथा राजनीति-शास्त्रों के अनुसार (मनु ६, २६४; ७, १६७;) इसका अर्थ होता है,—देश का सबसे बड़ा राजा या महाराज। वीरसेन ने जिस प्रकार अपने सिक्कों में फिर से हिंदू पद्धति ग्रहण की थी उसी प्रकार यहाँ अपनी उपाधि देने में भी उसने उसी सनातन पद्धति का अवलंबन किया था। कुशनों में जो बड़ी बड़ी राजकीय

कुशन संवत् ४ के लेखों के अक्षरों में भी उनका ऊपरी भाग कुछ मोटा ही मिलता है। (देखिए Epigraphia Indica, भाग २ में पृ० २०३ के सामनेवाले प्लेट में का लेख नं० ११ और उससे भी पहले का अयोध्यावाला शुंग शिलालेख जो मैंने संपादित करके J. B. O. R. S. खंड १०, पृ० २०२ में छपवाया है और E. I. खंड २, पृ० २४२ में प्रकाशित पभोसावाले शिलालेख, जिन्हें सभी लोगों ने ई० पू० शताब्दियों का माना है।) उनका यह मत है कि इस शिलालेख में 'ा' की मात्राएँ ऊपर की ओर कुछ अधिक उठी हुई हैं; पर यह मत इसलिये बिलकुल नहीं माना जा सकता कि E. I., खंड २ में पृ० २४३ के सामनेवाले प्लेट में पभोसा का जो शिलालेख है, उसकी पहली पंक्ति में 'ा' की सभी मात्राएँ ऐसी हैं: और इसी प्रकार के दूसरे बहुत से उदाहरण भी दिए जा सकते हैं।

१ डा० विंसेंट स्मिथ ने यह मानने में भूल की थी कि इसका समय कुशन संवत् ११३ है (C. I. M. पृ० १६२); और सर रिचर्ड बर्न ने उसे जो १३ पढ़ा था, वह बहुत ठीक पढ़ा था।

उपाधियाँ लिखने की प्रथा थी, उसका वीरसेन ने यहाँ भी परित्याग किया है और अपने यहाँ की प्राचीन पारिभाषिक उपाधि ही दी है।

एक तो ये सिक्के बहुत दूर दूर तक पाए जाते हैं; और दूसरे इस तरह की कुछ और भी बातें हैं जिनसे यह प्रमाणित होता है कि वीरसेन ने मथुरा के आस-पास के समस्त स्थानों और गंगा तथा यमुना के बीच के सारे दोआब से, जो सब मिलाकर आधुनिक संयुक्तप्रांत है, कुशनों को निकाल दिया था। कुशनों के शिलालेखों, सिक्कों के समय और वीरसेन के शिलालेखों से यह बात निश्चित रूप से सिद्ध हो जाती है कि कुशन संवत् ९८ के थोड़े ही दिनों बाद वीरसेन ने मथुरा पर अधिकार कर लिया था और यह समय सन् १८० ई० के लगभग हो सकता है। अंतः जानखट-वाला शिलालेख संभवतः सन् १८०-८५ के लगभग का होगा। वीरसेन ने कुछ अधिक दिनों तक राज्य किया था। जनरल कनिंघम ने उसके एक सिक्के का जो चित्र दिया है, उस पर मेरी समझ से उसका राज्यारोहण-संवत् ३४ है यदि उसका शासन-काल चालीस वर्ष मान लें तो हम कह सकते हैं कि वह सन् १७० से २१० ई० तक कुशनों के स्थान में सम्राट् पद पर था।

उससे पहले इस वंश का जो राजा नव नाग उसका पूर्वाधिकारी था, वह वासुदेव के शासन-काल में संयुक्तप्रांत के पूर्वी भाग में एक स्वतंत्र शासक की भाँति राज्य करता रहा होगा; और वीरसेन के शासन का दसवाँ या तेरहवां वर्ष वासुदेव के अंतिम समय में पड़ा होगा। इस प्रकार वह सन् १७० ई० के लगभग सिंहासन पर बैठा होगा।

वीरसेन के सिक्कों और असंदिग्ध भार-शिव राजाओं के

सिक्कों में जो घनिष्ठ संबंध है (§ २६ ख), उसके सिक्कों पर मानों उसके नाम की पूर्त्ति करने के लिये नाग का जो चिह्न है, और मथुरा में उसके उत्थान और राज्य-स्थापन का जो समय है, उसको देखते हुए हम कह सकते हैं कि यह वीरसेन शिलालेखों में के भार-शिव नागों और पुराणों में के नव नागों में के आरंभिक राजाओं में से एक था।

§ २६ ख. वीरसेन के संबंध में हम विवेचन कर चुके हैं और अब हम दूसरे राजाओं के संबंध में विचार कर सकते हैं।

दूसरे भार-शिव राजा

शिलालेखों से हमें यह पता चलता है कि भवनाग भार-शिव था और भार-शिव राजाओं में अंतिम था। सिक्कों से पता चलता है कि उससे पहले उसके वंश में और भी कई राजा हो चुके थे। उन सिक्कों से यह भी पता चलता है कि इनका वंश आगरा और अवध के संयुक्त प्रांतों में राज्य करता था, क्योंकि वहीं ये सिक्के बहुत अधिक संख्या में मिलते हैं; और उन्हीं सिक्कों से यह भी पता चलता है कि कौशांबी में इन राजाओं की एक खास टकसाल थी। मुद्राशास्त्र अथवा इतिहास के ज्ञाताओं ने अभी तक यह निश्चित नहीं किया है कि ये सिक्के किस राजवंश के हैं; और न अभी तक इन सिक्कों का पारस्परिक संबंध ही निश्चित हुआ है। इसलिये मैं यहाँ इस संबंध में पूरा पूरा विचार करता हूँ।

इस प्रकार के सब सिक्के कलकत्ते के इंडियन म्यूजियम में हैं। ये सब दसवें विभाग में रखे गए हैं और यह विभाग उत्तरी भारत के अनिश्चित फुटकर प्राचीन सिक्कों का है। इसके चौथे

उपविभाग (C. I. M. पृ० २०५, २०६) में नीचे लिखे सिक्कों के विवरण हैं[1]।

क्रमांक ७. A. S. B. प्लेट नं० २३, चित्र नं० ६—डा० स्मिथ इसके वर्णन में कहते हैं कि रेलिंग या कठघरे में से एक विलक्षण चीज निकली हुई है। ब्राह्मी न; पीछे की ओर अशोक लिपि का ज (?)।

क्रमांक ८. A. S. B. प्लेट नं० २३, चित्र नं० १०—कठघरे के अंदर एक वृक्ष, जिसकी पाँच शाखाएँ या पत्तियाँ हैं और ईसवी दूसरी शताब्दी के अक्षरों में एक ब्राह्मी लेख है जिसे डा० स्मिथ ने "चीज" पढ़ा है। पीछे की ओर शेर और उसके ऊपर कठघरा या रेलिंग है। लिपि ब्राह्मी। पहले पढ़ा नहीं गया था।

क्रमांक ९. A. S. B. प्लेट नं० २३, चित्र नं० ११—यह अपेक्षाकृत कुछ छोटा सिक्का है जिस पर ब्राह्मी अक्षरों में लेख है जिसे डा० स्मिथ ने "चराज" या "चराजु" (बड़े अक्षरों में) पढ़ा है। पीछे की ओर क्षेत्र में एक ब्राह्मी अक्षर है जो डा० स्मिथ के मत से ल है।

क्रमांक १०. A. S.B. इसका चित्र डा० वि० स्मिथ ने नहीं दिया है। इसमें भी कठघरे में एक वृक्ष है। पीछे की ओर शेर खड़ा है जिसके ऊपर एक कुंडल सा बना है। उसके बगल में जो

---

१. सुभीते के लिये मैंने इन सिक्कों के चित्र प्लेट नं० १ पर दे दिए हैं। सिक्के आकार में कुछ छोटे कर दिए गए हैं। मुझे इंडियन म्यूजियम से श्रीयुक्त के० एन० दीक्षित की कृपा से विशेष रूप से इन सिक्कों के ठप्पे मिल गए थे, जिसके लिये मैं दीक्षित जी को धन्यवाद देता हूँ।

कुछ लिखा है, उसे डा०, स्मिथ ने "त्रय नागस" पढ़ा है। त्रय के पहले यन (?) है। इसका आकार और इस पर के चिह्न वैसे ही हैं, जैसे इसके बादवाले सिक्के में हैं जिसका क्रमांक ११ है और जो प्लेट नं० २३ का १२ वाँ चित्र है। इस सिक्के का चित्र भी मैं यहाँ देता हूँ।

क्रमांक ११. A. S. B. प्लेट नं० २३, चित्र नं० १२—कटघरे में वृक्ष है और ब्राह्मी में एक लेख है जिसे डा० स्मिथ ने "रथ यण गिच (ि) म त (स) ?" पढ़ा है। पीछे की ओर शेर खड़ा है। उसकी पीठ पर ब्राह्मी अक्षर हैं जिन्हें डा० स्मिथ ने निश्चित रूप से ब पढ़ा है और जिसके नीचे एक और अक्षर है जिसे उन्होंने य पढ़ा है।

क्रमांक १२. I. M., Æ., प्लेट २३, चित्र नं० १३—डा० स्मिथ ने इसका वर्णन इस प्रकार किया है—कटघरे में वृक्ष, वज्र, किनारे पर कुछ लेख के चिह्न। (यह वास्तव में सीधा या सामने का भाग है, उलटा या पीछे का भाग नहीं है।) [पीछे की ओर कटघरे में वृक्ष और अस्पष्ट चिह्न, किनारे पर ब्राह्मी में लेख (?) ग भेमनप (या ह)।]

इन सिक्कों के वर्ग के ठीक नीचे उपविभाग नं० २ में डा० स्मिथ ने आठ और सिक्कों की सूची दी है जिन्हें वे देव के सिक्के कहते हैं; पर उन पर का लेख 'देव' है, या नहीं, इसमें उन्हें कुछ संदेह है (पृ० २०६, २०५, १६६)। जैसा कि ऊपर बतलाया जा चुका है, ये सिक्के वास्तव में नव नाग के हैं। इन सिक्कों पर भी कटघरे के अंदर वैसा ही वृक्ष बना है, जैसा ऊपर बतलाए हुए सिक्कों में है और जिसे उन्होंने तथा मुद्राशास्त्र के दूसरे ज्ञाताओं ने कोसम-चिह्न बतलाया है (प्लेट २३, चित्र नं० १५ और १६)।

इन सिक्कों में से कुछ के पिछले भाग पर तो साँड़ की मूर्ति है और कुछ पर हाथी की। सामने की ओर राजा के नाम के ऊपर एक छोटे फनवाले नाग का चित्र है।

इन सिक्कों के नीचे लिखी विशेषताएँ ध्यान में रखने के योग्य हैं।

कठघरे के अंदर पाँच शाखाओं वाला जो वृक्ष है, वह चित्र नं० १०, १२, १५ और १६ पर तथा क्रमांक १३ के सिक्कों पर समान रूप से पाया जाता है। नं० १२, १५ और १६ के सिक्कों का रूप और आकार एक समान है। नं० १० का सिक्का आकार में तो कुछ बड़ा है, पर उसका रूप उक्त सिक्कों के समान ही है। नं० ११ का सिक्का आकार में तो बहुत छोटा है, पर उसका भी रूप वैसा ही है। इन सिक्कों को देखने से यह निश्चित हो जाता है कि ये सब सिक्के एक ही वर्ग के हैं। और फिर एक बात यह भी है कि इन सभी सिक्कों पर समय या संवत् दिया हुआ है।

क्रमांक १० के सिक्के का चित्र डा० स्मिथ ने नहीं दिया है; पर मैंने उसका ठप्पा बहुत ध्यानपूर्वक देखा है और उसकी सब बातों पर विचार किया है। जिस लेख को डा० स्मिथ ने निश्चयपूर्वक त्रय नागस पढ़ा है, वह स्पष्ट और ठीक है[1]। उस सिक्के के एक ठप्पे का चित्र मैं यहाँ देता हूँ। फोटो लेने में इसका आकार कुछ छोटा हो गया है। इसका वास्तविक आकार वही है जो डाक्टर

---

१. इस सिक्के और C. I. M., पृ० २०६ के क्रमांक १२ के ठप्पों के लिये मैं इंडियन म्यूजियम के श्रीयुक्त एन० मजुमदार को धन्यवाद देता हूँ। यद्यपि अक्षर त्र मेरे फोटोग्राफ में नहीं आया है, पर फिर भी वह मेरे ठप्पे पर स्पष्ट रूप से आया है।

स्मिथ के क्रमांक १२, प्लेट २३ के चित्र नं० १३ का है। इस पर भी वही वृक्ष का चिह्न है जो औरों पर है। इसमें का त्र कटघरे के नीचे वाले भाग के पास से आरंभ होता है। उससे पहले और कोई अक्षर नहीं है। संभव है कि वहाँ और किसी प्रकार का कोई चिह्न रहा हो, पर इस संबंध में मैं निश्चयपूर्वक कुछ नहीं कह सकता। डा० स्मिथ ने नागस में जिस अक्षर को स पढ़ा है, वह संभवतः स्य है। पीछे की ओर शेर के ऊपर सूर्य और चंद्रमा हैं--कोई मंडल नहीं है—जो ऊपर की ओर उभड़े हुए हैं। इसका विशेष महत्त्व यही है कि इससे यह सिद्ध होता है कि संयुक्तप्रांत में इस प्रकार के नाग सिक्के बनते थे। अब मैं उस स्थान के संबंध में कुछ कहना चाहता हूँ जहाँ देव (शुद्ध रूप 'नव') वर्ग के सिक्के मिले हैं। डा० स्मिथ का मत है कि वे कोसम की टकसाल के जान पड़ते हैं, क्योंकि इस वर्ग का एक सिक्का उन्हें कौशांबी से मिला था; और उस पर वृक्ष का जो चिह्न है, उसका संबंध कौशांबी की टलसाल से प्रसिद्ध है। इस वर्ग के जिन सिक्कों के चित्र प्रकाशित हुए हैं, अब मैं उनके संबंध में अपने विचार बतलाता हूँ।

क्रमांक ८ और ९ प्लेट के चित्र नं० १० और ११ पर एक ही नाम अंकित है। वह चरज पढ़ा जाता है। नं० ८ के अक्षर भी चरज ही पढ़े जाते हैं। इसमें च और ज के बीच में जो र है, उसे डा० स्मिथ इसलिये पढ़ना भूल गए थे कि वह दूसरे अक्षरों की अपेक्षा कुछ पतला है। इस सिक्के पर पीछे की ओर प्लेट २३ चित्र नं० १० की दूसरी पंक्ति नागश पढ़ी जाती है। और उसी के पीछे की ओर शेर के ऊपर २० और ८ (२८) के सूचक अंक या

१. २० के सूचक चिह्न के पहले एक खंडित अक्षर है जो संभवतः स = संवत् है।

चिह्न हैं। इस प्रकार यह सिक्का चरज नाग का है और उसके राज्यारोहण संवत् २८ का है। चर मंगल ग्रह का एक नाम है।

क्रमांक ११ (प्लेट में के चित्र नं० १२) पर लिखा है—(श्री) हय नागश २०, १०। डा० स्मिथ ने इसमें जिसे र पढ़ा है और खड़ी पाई की तरह समझा है, वह संभवतः श्री का एक अंश है; जिसे उन्होंने थ पढ़ा है, वह वास्तव में ह है; और जिसे उन्होंने नागि पढ़ा है, वह नाग है। जिसे वह च पढ़ते हैं, उसे मैं २० का चिह्न समझता हूँ और जिसे वह म समझते हैं, वह १० का सूचक चिह्न है। उसमें कहीं कोई त और स नहीं है और इसके संबंध में स्वयं उन्हें भी पहले से संदेह ही था। कठघरे के नीचे वाले भाग के कुछ अंश को डा० स्मिथ कोई अक्षर या लेख समझते थे। पीछे की ओर ऊपर वाले जिस चिह्न को डा० स्मिथ ने व पढ़ा था पर जिसके ठीक होने में उन्हें संदेह था, और उसके ऊपर जिसे उन्होंने य पढ़ा था, वह दोनों मिलकर साँड़ का चिह्न हैं। इस साँड़ के नीचे कोई अक्षर नहीं है। डा० स्मिथ ने इसके पिछले भाग का ऊपरी सिरा नीचे की ओर करके पढ़ा है। उस पर का सारा लेख इस प्रकार है—श्री हयनागश ३०।

अब हम छोटे और कम दामवाले सिक्के पर विचार करते हैं जिसका क्रमांक ७ है और जो प्लेट नं० २३ का नवाँ चित्र है। डा० स्मिथ ने इसके सामने वाले भाग पर केवल एक अक्षर न पढ़ा था और पीछेवाले भाग पर अशोक लिपि का केवल ज पढ़ा था। जिसे वह अशोक लिपि का ज कहते हैं, वह ६ का सूचक चिह्न या अंक है और यह राज्यारोहण-संवत् है। सामने वाले भाग का लेख स य ह पढ़ा जाता है। यह लेख उलटी तरफ से पढ़ने पर ठीक पढ़ा जाता है और सिक्कों तथा मोहरों पर के लेखों

के पढ़ने का यह क्रम कोई नया नहीं है। इसे दाहिनी ओर के ह से पढ़ना शुरू करना चाहिए। वह हयस है अर्थात् हय नाग का। इसके छोटे आकार के विचार से इसका मिलान चरज के छोटे सिक्के के साथ करना चाहिए जिससे यह मेल खाता है।

चरज के छोटे सिक्के के पीछे वाले भाग पर समय या संवत् है। डा० स्मिथ ने उसे ज पढ़ा है, पर मैं कहता हूँ कि वह ३० का सूचक चिह्न या अंक है। यह सिक्का कम मूल्य का है और चरज के बड़े सिक्के के बाद बना था।

क्रमांक १२ [प्लेट २३, चित्र नं० १३]—इसके सामनेवाले भाग पर, जिसे डा० स्मिथ ने भूल से पिछला भाग समझ लिया है, (श्री) ब (र्) हिनस लिखा है। बाईं ओर के वृक्ष की पत्तियाँ मोर की दुम के साथ मिली हुई हैं; अर्थात् यदि नीचे की ओर से देखा जाय तो वे वृक्ष की शाखाएँ जान पड़ती हैं; और यदि सिक्के का ऊपरी सिरा नीचे कर दिया जाय तो वही शाखाएँ मोर की दुम बन जाती हैं। यह मोर राजा के नाम बर-हिन का सूचक है। सिक्के के पिछले भाग पर भी वही वृक्ष है और कुछ लेख है जिसका कुछ अंश घिस गया है। टप्पे पर जो कुछ आया है, वह मेरी समझ में ना ग स है; अर्थात् बीच का केवल ग पढ़ा जाता है और उसके पहले का न तथा बाद का स घिस गया है। जिसे डा० स्मिथ ने वज्र समझा है, वह संभवतः ७ का अंक है और यह अंक साँड़ की मूर्ति के नीचे है।

इस प्रकार हमें नव नाग और बीरसेन के बाद नीचे लिखे चार राजा मिलते हैं—हय नाग जिसने तीस वर्ष या इससे कुछ अधिक समय तक राज्य किया था। चरज नाग जिसका शासन-काल भी तीस वर्ष या इससे अधिक है; बर्हिन नाग (सात वर्ष)

और त्रय नाग जिसके शासन-काल की अवधि का अभी तक पता नहीं चला है। हय नाग के सिक्के पर की लिपि सबसे अधिक प्राचीन है और वीरसेन के समय की लिपि से मेल खाती है। उसका समय वीरसेन के समय के ठीक उपरांत अर्थात् सन् २१० ई० के लगभग होना चाहिए। यहाँ इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि इन सभी राजाओं के सिक्कों पर समय भी दिए हुए हैं और ताड़ का वृक्ष भी है; और प्रो० रैप्सन के अनुसार वीरसेन के सिक्के पर भी वही ताड़ का वृक्ष है। मैंने भी मिलाकर देखा है कि वीरसेन के शिलालेख में जो वृक्ष का चिह्न है, वह भी ऐसा ही है। वह वृक्ष बिलकुल वैसा ही है जैसा भार-शिवों के इन सिक्कों पर है। वीरसेन का समय तो सन् २१० ई० है ही; अब यदि हम बाद के चारों राजाओं का समय अस्सी वर्ष भी मान लें तो उनका समय लगभग सन् २१० से २६० ई० तक होता है। ऐसा जान पड़ता है कि इन चारों में से कुछ राजाओं ने अधिक दिनों तक राज्य किया था; और जिस प्रकार गुप्त सम्राटों में छोटे लड़के राज्याधिकारी हुए थे, उसी प्रकार इनमें कुछ छोटे लड़के ही सिंहासन पर बैठे होंगे। वाकाटक और गुप्त वंशावलियों का ध्यान रखते हुए मैंने भव नाग का समय लगभग सन् ३०० ई० निश्चित किया है। भव नाग वास्तव में प्रवरसेन प्रथम का सम-कालीन था और प्रवरसेन प्रथम उधर समुद्रगुप्त का सम-कालीन था, यद्यपि समुद्रगुप्त के समय प्रवरसेन प्रथम की अवस्था कुछ अधिक थी। इसलिये इन राजाओं के जो समय यहाँ निश्चित किए गए हैं, वे अप्रत्यक्ष रूप से भव नाग के समय को देखते हुए भी ठीक जान पड़ते हैं।

सिक्कों पर दिए हुए लेखों और उनकी बनावट तथा उन पर की दूसरी बातों का ध्यान रखते हुए भार शिवों या मुख्य वंश के नव नागों की सूची इस प्रकार बनाई जा सकती है।

लगभग			
सन् १४०—१७० ई०	१ नव नाग	(सिक्के मिलते हैं)	२७ वर्ष या इससे अधिक समय तक शासन किया।
सन् १७०—२१० ई०	२ वीरसेन नाग	(सिक्के और शिलालेख मिलते हैं)	३४ वर्ष या अधिक तक शासन किया।
सन् २१०—२४५ ई०	३ हय नाग	(सिक्के मिलते हैं)	३० वर्ष या अधिक तक शासन किया।
सन् २४५—२५० ई०	४ त्रय नाग	(सिक्के मिलते हैं)	... ...
सन् २५०—२६० ई०	५ बर्हिन नाग	(सिक्के मिलते हैं)	७ वर्ष या अधिक तक शासन किया।
सन् २६०—२९० ई०	६ चरज नाग	(सिक्के मिलते हैं)	३० वर्ष या अधिक तक शासन किया।
सन् २९०—३१५ ई०	७ भव नाग	(शिलालेख मिलते हैं)	... ...

यह सूची पुराणों से भी ठीक ठीक मिलती है, क्योंकि उनमें कहा है कि नवनागों के सात राजाओं ने राज्य किया था[1]। अब हम इस बात पर विचार करना चाहते हैं कि नव नागों की जो और शाखाएँ पद्मावती तथ दूसरे स्थानों में गई थीं, उनका क्या हुआ और मुख्य वंश भार-शिव के राजाओं की राजधानी कहाँ थी।

भारशिव कांतिपुरी और दूसरी नाग राजधानियाँ

§ २७. कुशन सम्राटों का शासन-काल लगभग एक सौ वर्ष है। यह बात मथुरावाले उन शिलालेखों से मालूम होती है जो उनके राज्य-काल के ९८ वें वर्ष तक के मिलते हैं। कुशन राजाओं के शासन-काल का ९८ वाँ वर्ष वासुदेव के शासन-काल में पड़ता था और इसके बाद फिर हमें वासुदेव का और कोई समय या संवत् नहीं मिलता[2]। जब भार-शिव लोग फिर से होशंगाबाद और जबलपुर के जंगलों से निकले, तब जान पड़ता है कि वे बघेलखंड होकर गंगा तक पहुँचे थे। बघेलखंडवाली सड़क से जो यात्री गंगा

---

१. नागा भोक्ष्यन्ति सप्त वै। विष्णु और ब्रह्मांड पुराण। I. P. T., ५३।

२. J. B. O. R. S. १६, ३११, ल्यूडर्स की सूची नं० ७६, ७७. E. I. १० परिशिष्ट, पृ० ८. राजतरंगिणी (C. I. १६६-१७२) में कहा है कि काश्मीर में तुरुष्कों की केवल तीन पीढ़ियों ने शासन किया था; यथा हुष्क (हुविष्क), जुष्क (वासिष्क), और कनिष्क। इसके क्रम लगाने के लिये अंतिम नाम से आरंभ करके पीछे की ओर चलना चाहिए।

की ओर चलते हैं, वे कंतित[1] के उस पुराने किले के पास आकर पहुँचते हैं जो मिरजापुर और विंध्याचल के कस्बों के बीच में है। जान पड़ता है कि यह कंतित वही है जिसे विष्णु की कांतिपुरी कहा गया है। इस किले के पत्थर के खंभे के एक टुकड़े पर मैंने एक बार आधुनिक देवनागरी में कांति लिखा हुआ देखा था। यह गंगा के किनारे एक बहुत बड़ा और प्रायः एक मील लंबा मिट्टी का किला है जिसमें एक बड़ी सीढ़ीनुमा दीवार है और जिसमें कई जगह गुप्त काल की बनी पत्थर की मूर्त्तियाँ[2] या उनके टुकड़े आदि पाए जाते हैं। यह किला आजकल कंतित के राजाओं की जमींदारी में है जो कन्नौज और बनारस के गाहड़वाल राजाओं के वंशज हैं। मुसलमानों के समय में यह किला नष्ट कर दिया गया था और तब यहाँ के राजा उठकर पास की पहाड़ियों के विजयगढ़ और माँडा नामक स्थानों में चले गए थे जहाँ अब तक दो शाखाएँ रहती हैं। कंतित के लोग कहा करते हैं कि गहरवारों से पहले यह किला भर राजाओं का था। ऐसा जान पड़ता है कि यह भर शब्द उसी भार-शिव शब्द का अपभ्रंश है और इसका मतलब उस भर जाति से नहीं है जिसके मिरजापुर और विंध्याचल में शासन होने का कोई प्रमाण नहीं मिलता। यही बात भर देउल[3]

---

१. मुसलमानी काल के कंतित का हाल जानने के लिये देखो A. S. I. २१; पृ० १०८ की पाद-टिप्पणी।

२. यहाँ प्रायः सात फुट लंबी सूर्य की एक मूर्ति है जो स्पष्ट रूप से गुप्त काल की जान पड़ती है। आज कल यह किले के फाटक के रक्षक भैरव के रूप में पूजी जाती है।

३. A. S. R. खंड २१, प्लेट ३ और ४ जिनका वर्णन पृ० ४—७ पर है।

के संबंध में भी कही जाती है जो किसी समय शिव का बहुत बड़ा मंदिर था जिसमें बहुत बड़ा मंदिर था जिसमें बहुत से नाग (सर्प) राजाओं की मूर्त्तियाँ हैं। यह मंदिर विंध्य की पहाड़ी पर इलाहाबाद से पश्चिम और दक्षिण-पश्चिम प्रायः पचीस मील की दूरी पर मौघाट नामक स्थान में था। यह स्थान भरहुत[1] नामक प्रांत में है जो भारभुक्ति का अपभ्रंश है और जिसका अर्थ है—भारों का प्रांत। आजकल इस देश में भर नाम के जो आदिम निवासी बसते हैं, उनके संबंध में इस बात का कोई ऐतिहासिक प्रमाण नहीं मिलता कि मिर्जापुर या इलाहाबाद के जिले में अथवा इनके आस-पास के स्थानों में ऐतिहासिक काल में कभी उनका शासन था। यदि यह मान लिया जाय कि यह दंत-कथा भार-शिव राजवंश के संबंध में है तो इसका सारा अभिप्राय स्पष्ट हो जाता है। भर देउल की वास्तु-कला और मूर्त्तियों आदि का संबंध मुख्यतः नागों से है; और किट्टो (Kittoe) ने लिखा है कि उसके समय यह करकोट नाग का मंदिर कहलाता था। और इन दोनों बातों से हमारे इस मत का समर्थन होता है कि इसमें का यह भर शब्द भार-शिव के लिये है। नागौढ़[2] और नागदेय

---

१. मैंने लोगों को भारहुत और भरहुत कहते हुए भी सुना है। मूलतः यह शब्द भारभुक्ति रहा होगा जिसका अर्थ है—भार प्रांत या भारों का प्रांत।

२. मैं तीन बार इस कस्बे से होकर गुजरा हूँ। यह नागौढ़ और नागौद कहलाता है। नागौढ़ शब्द का अर्थ हो सकता है—नागों की अवधि या सीमा। मत्स्य पुराण ११३-१० में यह 'अवधि' शब्द इसी सीमा के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।

इन दोनों स्थान-नामों से यह सूचित होता है कि इन पर किसी समय बघेलखंड के नाग राजाओं का अधिकार था; और इसी प्रकार भारहुत और संभवतः भर देउल[1] नामों से भी यही सूचित होता है कि ये भार-शिव राजाओं से संबंध रखते हैं।

कंतित[2] है भी ऐसे स्थान पर बसा हुआ कि भार-शिवों के इतिहास के साथ उसका संबंध बहुत ही उपयुक्त रूप से बैठ जाता है; क्योंकि भार-शिव राजा बघेलखंड से चलकर गंगा-तट पर पहुँचे थे। विष्णुपुराण में कहा है—

नव-नागा पद्मावत्यां कांतिपुर्याम् मथुरायां।

इस संबंध में एक यह बात भी महत्त्व की है कि अन्यान्य पुराणों में कांतिपुरी का नाम नहीं दिया है। इसका कारण यही हो सकता है कि भव-नाग का वंश जाकर वाकाटक वंश में मिल

---

१. इस मदिर की छत चिपटी थी और इसके बरामदे पर ढालुएँ पत्थर लगे थे। पहले इस पर नुकीली दीवारगीर या ब्रैकेट था जो टूट गया था और फिर से बनाकर ठीक किया गया है। कनिंघम ने इसका जो चित्र दिया है, वह फिर से बने हुए ब्रैकेट का है। इस प्रकार के ब्रैकेट मध्ययुग की वास्तुकला में प्रायः सभी जगह पाए जाते हैं; पर निश्चित रूप से कोई यह नहीं कह सकता कि कितने प्राचीन काल से इसकी प्रथा चली आती थी। वहाँ जो बड़ी ईंटे तथा इसी प्रकार की और कई चीजें पाई जाती हैं, वे अवश्य ही बहुत पहले की हैं।

२. यूल का मत है कि टालेमी ने जिसे किंडिया कहा है, वह आजकल का मिरजापुर ही है। देखो मैक्क्रिंडल का Ptolemy, पृ० १३४।

गया था। पुराणों में भार-शिवों को नव - नाग कहा है। पहले विदिशा में जो नाग हुए थे, वे अर्थात् शेष से वंगर तक नाग राजा आरंभिक नाग हैं। पर भूतनंदी के समय से, जब कि नाम के अंत में नंदी (वृष) शब्द लगने लगा तब अथवा जब सन् १५०–१७० ई० के लगभग उनका फिर से उत्थान हुआ; तब से वे लोग निश्चित रूप से भार-शिव कहलाने लगे। राजा नव और उसके उत्तराधिकारियों के सिक्कों में नागों के आरंभिक सिक्कों से मुख्य अंतर यही है कि उनमें आरंभिक सिक्कों का दात शब्द नहीं पाया जाता और उसके स्थान पर नाग शब्द का प्रयोग मिलता है। भागवत में नव नागों का उल्लेख नहीं है और केवल भूतनंदी से प्रवीरक तक का ही वर्णन है। अतः भागवत के कर्ता के अनुसार भूतनंदी के वंश और प्रवीरक के शासन में ही नव नागों का अंतर्भाव हो जाता है। प्रवीर प्रवरसेन वास्तव में शिशु रुद्रसेन का संरक्षक या अभिभावक था और दूसरे पुराणों के अनुसार ये दोनों मिलकर शासन करते थे। विष्णु पुराण में, जिसके कर्त्ता के पास कुछ ऐसी सामग्री थी जिसका उपयोग और लोगों ने नहीं किया था, राजधानियों का क्रम इस प्रकार दिया है—पद्मावती, कांतिपुरी और मथुरा। संभवतः इसका अर्थ यही है कि नागों की राजधानी पहले पद्मावती में थी; फिर वहाँ से उठकर कांतिपुरी और वहाँ से मथुरा गई। आज-कल इस विषय में जो बातें ज्ञात हैं, उनसे भी इस मत का समर्थन होता है। भूतनंदी के वंशज राजा शिवनंदी के समय तक और उसके बाद प्रायः आधी शताब्दी तक राजधानी पद्मावती में रही। इसके उपरांत पद्मावती कुशन क्षत्रपों की राजधानी हो गई (§§ ३३, ३४)। कुशन साम्राज्य के अंतिम काल में, अर्थात् सन् १५० ई० के लगभग, भार-शिव लोग गंगा नदी के तट पर कांतिपुरी में पहुँचे। काशी में या उसके

आस-पास उन लोगों ने अश्वमेध यज्ञ[1] किए और वहीं उन लोगों के राज्याभिषेक हुए। काशी के पास का नगवा नामक स्थान, जहाँ आजकल हिंदू-विश्वविद्यालय है, उनके नाम से संबद्ध जान पड़ता है। कांतिपुरी से वे लोग पश्चिम की ओर बढ़े और वीरसेन के समय में, जिसने बहुत अधिक संख्या में सिक्के चलाए थे और जिसके सिक्के अहिच्छत्र के पूर्व से मथुरा तक पाए जाते हैं, उन्होंने फिर पद्मावती और मथुरा पर अधिकार प्राप्त कर लिया था। पद्मावती वाले सिक्कों में से जो आरंभिक सिक्के हैं और जिनपर वि[2] तथा व (˙) अक्षर अंकित हैं, वे वीरसेन के हैं। इन दोनों सिक्कों पर पीछे की ओर जो मोर बना है, वह वीरसेन का प्रसिद्ध चिह्न है; और यह वीरसेन भी महासेन ही जान पड़ता है जिसका अर्थ है—देवताओं का सेनापति। फिर भीम नाग और स्कंद नाग ने भी अपने सिक्कों पर मोर की मूर्त्ति रखी है[3] जिससे जान पड़ता है कि इन दोनों राजाओं ने भी वीरसेन का ही अनुकरण किया

---

१. जान पड़ता है कि संभवतः अश्वमेध यज्ञ कर चुकने के उपरांत जो बच्चा पैदा हुआ था, उसका नाम हय नाग रखा गया था।

२. कनिंघम ने इसे ख पढ़ा है, पर मैं इसे वि मानता हूँ; क्योंकि इसकी पाई ऊपर की ओर मुड़ी हुई है और इकार की मात्रा जान पड़ती है। मैं इन्हें उन्हीं सिक्कों के वर्ग में मानता हूँ जिन पर महाराज व लिखा है, क्योंकि इन दोनों ही प्रकार के सिक्कों का पिछला भाग और उन पर के अक्षर आदि समान ही हैं। (देखिए कनिंघम कृत Coins of Mediaeval India प्लेट २, नं० १३ और १४।)

३. कनिंघम कृत Coins of Mediaeval India प्लेट २, नं० १५ और १६, पृ० २३।

था। यद्यपि स्कंद के साथ तो मोर का संबंध है, पर भीम के साथ उसका कोई संबंध नहीं है, वीरसेन मथुरा तक, बल्कि उससे भी और आगे इंदौरखेड़ा तक पहुँच गया था, क्योंकि वहाँ भी उसके बहुत से सिक्के जमीन में से खोदकर निकाले गए हैं[१] जिससे सूचित होता है कि बुंदेलखंड के जिस पश्चिमी भाग पर प्रायः सौ वर्ष पहले नागों को हटाकर कुशनों ने अधिकार कर लिया था, उस पश्चिमी बुंदेलखंड पर भी वीरसेन ने फिर से नाग-वंश का राज्य स्थापित करके उसे अपने अधिकार में कर लिया था

नव नाग

§ २८. पुराणों में जो "नव-नाग" पद का प्रयोग किया गया है, वह समझ-बूझकर किया गया है; क्योंकि यदि वे उन्हें भार-शिव कहते अथवा स्वयं अपने रखे हुए वैदिशाक अथवा वृष नाग आदि नामों से अभिहित करते तो यह पता न चलता कि ये नागों के ही अंतर्गत थे और इन्होंने फिर से अपना नवीन राजवंश चलाया था; और न यही पता चलता कि बीच में कुशनों का राज्य स्थापित हो जाने के कारण इस वंश की शृंखला बीच से टूट गई थी; और उस दशा में व्यर्थ ही एक गड़बड़ी खड़ी हो जाती। विंध्य का अर्थात् वाकाटकों के साम्राज्य का वर्णन करने के उपरांत पुराणों में इस प्रकरण का अंत कर दिया गया है और गुप्तों के राजवंश तथा उनके साम्राज्य का वर्णन आरंभ करने से पहले नव-नागों का इतिहास समाप्त कर दिया गया है। ऐसा करने का कारण यह था कि शिशुक रुद्रसेन की स्थिति कुछ विलक्षण थी। वह यद्यपि प्रवरसेन वाकाटक का पोता था, तो भी वह भारशिवों के दौहित्र के रूप में सिंहासन पर बैठा था।

---

१. कनिंघम A. S. I. खंड १२, पृ० ४१-४२।

इस बात का इतना अधिक महत्त्व माना गया था कि बालाघाट में वाकाटकों के जो ताम्रलेख आदि मिले हैं, उनमें वह केवल भार-शिव महाराज ही कहा गया है और यह नहीं कहा गया है कि वह वाकाटक भी था[1]। और जैसा कि हम आगे चलकर (भाग २, § ६४) बतलावेंगे, युद्ध-क्षेत्र में समुद्रगुप्त द्वारा मारा जानेवाला रुद्रसेन था जिसका उल्लेख रुद्रदेव के रूप में आया है। यहाँ 'देव' शब्द का अर्थ महाराज है। इस प्रकार नागों का वंश वाकाटकों के युग में समुद्रगुप्त के समय तक चलता रहा। पुराणों में साफ साफ यह भी बतला दिया गया है कि नाग वंश में नव नागों का कौन सा स्थान था; और यह भी बतला दिया गया है कि उनके राज्य की सीमा कहाँ तक थी। पुराणों में नव-नागों को वि (न्) वस्फाणि और मगध के गुप्तों के बीच में स्थान दिया गया है। यह वि (न) वस्फाणि कुशनों का क्षत्रप था जो मगध और पद्मावती में शासन करता था। मगध के गुप्तों के संबंध में विष्णुपुराण में यह कहा गया है कि उनका उत्थान नव नागों के शासन-काल में हुआ था। यह बात मगध के इतिहास के बीच में जोड़ दी गई है और वाकाटक सम्राटों के इतिहास के बाद मगध के इतिहास का एक नया प्रकरण आरंभ किया गया है। नव नागों का राज्य केवल संयुक्त

---

१. यदि कानून या धर्मशास्त्र की दृष्टि से देखा जाय तो रुद्रसेन प्रथम (पुत्रिकापुत्र) के राज्यारोहण के कारण मानों भार-शिव राजवंश ने वाकाटकों को दबाकर उनका स्थान ले लिया था; और इस विचार से यही माना जायगा कि प्रवरसेन प्रथम की मृत्यु के साथ ही साथ वाकाटक राजवंश और उसके साम्राज्य तथा शासन का भी अंत हो गया।

प्रांत में ही नहीं था, बल्कि पूर्वी और पश्चिमी बिहार में भी था, क्योंकि वायु तथा ब्रह्मांड पुराण की सभी प्रतियों में कहा गया है कि उनकी राजधानी मथुरा में भी थी और चंपा[1] (चंपावती-भागलपुर) में भी। जैसा कि हम आगे चलकर तीसरे भाग में बतलावेंगे, गुप्तों ने चंपा में अपना एक अलग राज्य स्थापित किया था और पुराणों में जहाँ गुप्त साम्राज्य-प्रणाली का वर्णन किया गया है, वहाँ इस बात का विशेष रूप से उल्लेख किया गया है[2]। वहाँ भार-शिव वाकाटक राज्य को हटाकर गुप्त सम्राट् अपना राज्य स्थापित कर रहा था।

---

१. चंपा नाम की केवल दो ही नगरियाँ थीं—एक तो अंग में जो आजकल चंपानगर कहलाता है और जो भागलपुर से प्रायः पाँच मील की दूरी पर है। यह एक पुराना कस्बा था जिसमें वासुपूज्य के जैन मंदिर थे। इस वासुपूज्य का जन्म और मृत्यु चंपा में ही हुई थी। और दूसरा आज-कल की चंबा पहाड़ियों में एक कस्बा था।

२. वाकाटक साम्राज्य और गुप्त साम्राज्य के संबंध में पुराणों में बहुत अधिक बातें आई हैं। जान पड़ता है कि उस समय की घटनाओं आदि का काल-क्रम से जो लेखा तैयार हुआ था, वह वाकाटक देश में और वाकाटक राजकर्मचारियों द्वारा हुआ था; क्योंकि वहीं और उन्हीं लोगों को दोनों के संबंध की सभी बातें ब्योरेवार और सहज में मिल सकती थीं। पुराणों में आंध्रों के करद राज्यों का उल्लेख करके (देखो आगे चौथा भाग) आंध्रों की साम्राज्य-प्रणाली का भी कुछ वर्णन करने का प्रयत्न किया गया है, पर वह वर्णन उतना विवरणात्मक नहीं है। किंतु वाकाटकों का इतिहास देते समय पुराणों ने उनके आरंभिक इतिहास तक का उल्लेख किया है और यह बतलाया है कि नागों का साम्राज्य किस प्रकार वाकाटकों के साम्राज्य से सम्मिलित हो

नागों की साशन-प्रणाली

§ २९. नागों की शासन-प्रणाली संघात्मक थी जिसमें नीचे लिखे राज्य सम्मिलित थे—(१) नागों के तीन मुख्य राजवंश, जिनमें से एक वंश भार-शिवों का था जो साम्राज्य के नेता और सम्राट थे और जिनके अधीन प्रतिनिधि-स्वरूप शासन करनेवाले और भी कई वंश थे। और (२) कई प्रजातंत्री राज्य भी उस संघ में संमिलित थे। पद्मावती और मथुरा भार-शिवों के द्वारा स्थापित दो शाखाएँ थीं और इन दोनों राजवंशों की दो अलग अलग उपाधियाँ थीं। पद्मावती वाला राजवंश टाक-वंश कहलाता था। यह नाम भाव-शतक में आया है जो गणपति नाग को समर्पित किया गया था (§ ३१) मथुरावाला वंश यदुवंश कहलाता था; और यह नाम कौमुदीमहोत्सव नामक नाटक में आया है और इसका रचना-काल भी वही है जो भाव-शतक का है। इन दोनों नामों से नव नागों के मूल का भी पता

गया था। उधर आंध्रों के इतिहास में भी पुराणों में उनके मूल से लेकर वर्णन आरंभ किया गया है और उनके सम्राट् पद पर आरूढ़ होने से लेकर मगध के राजसिंहासन तक का वर्णन किया गया है। इस प्रकार पुराणों में किसी राजवंश का इतिहास लिखते समय आलोचनात्मक दृष्टि से उनके मूल तक का वर्णन किया गया है और सम्राटों के वंशों का आरंभिक इतिहास तक दिया गया है। आंध्रों, विंध्यकों और नागों के संबंध में उन्होंने इसी प्रकार मूल से आरंभ करके उनका इतिहास दिया है और यदि पुराणों के कर्त्ता गुप्तों का भी पूरा इतिहास देने पाते तो वे उनके संबंध में भी ऐसा ही करते। तो भी विष्णु पुराण (देखो आगे तीसरा भाग, § १२२) में गुप्तों का आरंभिक इतिहास देने का भी प्रयत्न किया गया है।

चल जाता है। ये लोग यादव थे और टक्क देश[1] पंजाब से आए थे। मथुरावाले वंश ने कभी अपने सिक्के नहीं बनाए थे। परंतु पद्मावती में शासन करनेवाले राजवंश ने आदि से अंत तक बराबर अपने सिक्के चलाए थे। इससे सिद्ध होता है कि उनका राजवंश स्वतंत्र था और भार-शिवों के अधीन वे उसी प्रकार थे, जिस प्रकार कोई राज्य किसी साम्राज्य में होता है। ऐसा जान पड़ता है कि मथुरा में राज्य करनेवाला वंश और वह वंश जिसमें नाग-दत्त (लहौरवाली मोहर के महाराज महेश्वर नाग का पिता) हुआ था और जिसका राज्य अंबाले जिले के कहीं आस-पास संभवतः स्रुघ्न नाम की पुरानी राजधानी में था, प्रत्यक्ष रूप से भार-शिवों के ही अधीन और शासन में था। बुलंदशहर जिले के इंद्रपुर (इंदौरखेड़ा) में या उसके आस-पास भी एक और वंश राज्य करता था। बुलंदशहर में मत्तिल की मोहर पाई गई थी जिसपर एक नाग चिन्ह (शंखपाल)[2] अंकित था और जिस पर राजन् उपाधि नहीं थी। ग्राउज और फ्लीट ने सिद्ध किया है कि समुद्रगुप्त के शिलालेख में जिस मत्तिल का उल्लेख है, वह यही

---

१. टक्कों और टक्क देश के संबंध में देखो कनिंघम A. S. R. खंड २, पृ० ६; और उस देश में यादवों के निवास के संबंध में देखो उसी ग्रंथ का पृ० १४। हेमचंद्र ने अपने अभिधान-चिंतामणि (४. २५.) में वाहीक को ही टक्क कहा है।

२. देखो गुप्त इतिहास के संबंध में तीसरा भाग § १४०; और Indian Antiquary भाग १८, पृ० २८९ प्लेट, जहाँ एक शंख और एक सर्प का आकार बना है। सर्प के शरीर से प्रकाश निकलकर चारों ओर फैल रहा है।

मत्तिल है[१]। यह प्रांत अंतर्वेदी गंगा और यमुना के बीच के प्रदेश का पश्चिमी भाग कहा गया है, जहाँ एक अलग गवर्नर या शासक राज्य करता था; और इस बात का उल्लेख इंदौर के ताम्रलेखों में है जो सर्वनाग नाम के एक नाग शासक ने, जो समुद्रगुप्त का गवर्नर था, लिखवाए थे।[२] नागदत्त, नागसेन या मत्तिल अथवा उनके पूर्वजों ने अपने सिक्के नहीं चलाए थे और न भार-शिवों के समय में अहिच्छत्र के किसी और गवर्नर या शासक ने ही अपने सिक्के चलाए थे। अहिच्छत्र के अच्युत नामक एक शासक ने ही पहले पहल अपने सिक्के चलाए थे। सिक्कों पर तो उसका नाम अच्युत है और समुद्रगुप्त के शिलालेख में उसे अच्युतनंदी कहा गया है। पर उस समय वह वाकाटकों के अधीन था, जिससे यह सूचित होता है कि वाकाटकों ने कदाचित् लिच्छवियों और गुप्तों के मुकाबले में वहाँ कोशल (अवध प्रांत) के पास ही अपने एक करद राजवंश को प्रतिष्ठित कर दिया था। जहाँ तक भार-शिव राज्य का संबंध है हमें राज्य के केवल दो ही प्रधान केंद्र मिलते हैं—एक कांतिपुरी और दूसरा पद्मावती। वायु और ब्रह्मांड पुराण[३] में चंपावती (भागलपुर) में भी एक केंद्र होने का उल्लेख है; पर जान पड़ता है कि वहाँ का केंद्र अधीनस्थ था, क्योंकि चंपावती के सिक्के नहीं मिलते। जैसा कि हम आगे चलकर बतलावेंगे (§ १३२, १४०), समुद्रगुप्त चे

---

१. Indian Antiquary भाग १८, पृ० २८९।

२. G. I. पृ० ६८।

३. नव नाकास् (नागास्) तु भोक्ष्यन्ति पुरीम् चम्पावतीं नृपाः। T. P. पृ० ५३।

शिलालेख में आर्यावर्त्त के शासक दो भागों में बिभक्त किए गए हैं। एक वर्ग या भाग का आरंभ गणपति नाग से होता है। इस वर्ग में वे राजा आए हैं, जो समुद्रगुप्त के प्रथम आर्यावर्त्त युद्ध में मारे गए थे; और दूसरा वर्ग उन राजाओं का है जिन पर दूसरे युद्ध के समय अथवा उसके बाद आक्रमण हुआ था और जो रुद्रदेव अर्थात् रुद्रसेन वाकाटक से आरंभ करके स्थान-क्रम या देश-क्रम से गिनाए गए हैं। प्रथम वर्ग में सबसे पहले गणपति नाग का नाम आया है। वाकाटकों के समय में वह नाग शासकों में सर्व-प्रधान था; और इस बात का समर्थन भावशतक से भी होता है (§ ३१)। मालवे और राजपूताने के प्रजातंत्र और संभवतः पंजाब का कुणिंदों का प्रजातंत्र भी, जिन्होंने भार-शिवों के समय में अपने अपने सिक्के चलाए थे, इस भार-शिव राज्य-संघ के स्वराज्यभोगी सदस्य थे (§ ४३)।

नागों की शाखाएँ

§ २९ क. पुराणों में कहा है कि पद्मावती और मथुरा के नागों की, अथवा यदि विष्णु पुराण का मत लिया जाय तो पद्मावती, कांतिपुरी और मथुरा के नागों की सात पीढ़ियों ने राज्य किया था (देखो ऊपर पृ० ५८)। सिक्कों और शिलालेखों के आधार पर नीचे जो कोष्ठक दिया जाता है, उससे यह मत पूर्ण रूप से सिद्ध हो जाता है।

भार-शिव, कांतिपुरी में उत्थान लगभग सन् १४० ई०

नव नाग (सिक्के पर २७वाँ वर्ष)	... ...	नव नाग वंश (भार-शिव) का
(लगभग सन् १४०–१७० ई०)	... ...	संस्थापक
वीरसेन (सिक्के पर ३४वाँ बर्ष)	... ...	मथुरा और पद्मावती की
(लगभग सन् १७०–२१० ई०)	... ...	शाखाओं का संस्थापक

पद्मावती (टाक वंश)	कांतिपुरी (भार-शिव वंश)	मथुरा (यदु वंश)
लगभग सन् २१०–२३० ई०	लगभग सन् २१०–२४५ ई०	नाम अज्ञात
भीम नाग	(हय नाग सिक्के पर ३०वाँ वर्ष)	
लगभग सन् २३०–२५० ई०	लगभग सन् २४५–२५० ई०	नाम अज्ञात
स्कंद नाग	त्रय नाग	
लगभग सन् २५०–२७० ई०	लगभग सन् २५०–२६० ई०	नाम अज्ञात
बृहस्पति नाग	बर्हिन् नाग (सिक्के पर ७वाँ वर्ष)	

वाकाटकों के प्रभुत्व का आरंभ लगभग सन् २८४ ई०

लगभग सन् २७८-२९० ई०	लगभग सन् २६ – ९० ई० चरज	... ...
५ व्याघ्र नाग[1]	नाग (सिक्के पर ३०वाँ वर्ष)	
लगभग सन् २९०-३१० ई०	लगभग सन् २९०–३१५ ई०	लगभग सन् ३१५–३४० ई०
देव नाग	भव नाग	कीर्त्तिषेण
लगभग सन् ३१०–३४४ ई०	[लगभग सन् ३१५–३४४ ई०	लगभग सन् ३४०–३४४ ई०
गणपतिनाग	रुद्रसेन पुरिका में]	नागसेन

प्रतिनिधि या गवर्नर के रूप में शासन करनेवाले नाग वंश

अहिच्छत्र वंश	अंतर्वेदी वंश जिसकी राजधानी संभवतः इंद्रपुर (इंदौरखेड़ा) में थी।	अघ्न (?) वंश	चंपावती वंश
ल० सन् ३२४ ३४४ ई०	लगभग सन् ३२८–३४८ ई०	ल० सन् ३२८-३ ८ ई०	नाम अज्ञात
अच्युत नंदी	मतिल	नागदत्त	
		ल० सन् ३४८-३६८ ई०	
		महाराज महेश्वर नाग	

१. कनिंघम ने केवल व्याघ्र...हो पढ़ा था; पर प्लेट (C. M. I. प्लेट २, चित्र नं० २२) मे व्याघ्र नाग लिखा मिलता है।

पद्मावती के राजाओं के राज्यारोहण का जो क्रम मैंने ऊपर दिया है, उसके कारण ये हैं। गणपति नाग अंतिम राजा था; और समुद्रगुप्त का समय हमें ज्ञात है, इससे हमें गणपति नाग के समय का भी ठीक ठीक पता लग जाता है। उसके हजारों ही सिक्के मिलते हैं। बल्कि सच तो यह है कि जितने अधिक सिक्के गणपति नाग के मिले हैं, उतने अधिक सिक्के हिंदू काल के और किसी राजा के नहीं मिले हैं। इसलिये हमें यही कहना पड़ता है कि उसने बहुत अधिक समय तक राज किया था। फिर उसके सिक्के भी कई प्रकार के हैं। मैंने प्रायः आठ प्रकार के सिक्के गिने हैं। इसलिये मैं कहता हूँ कि उसने पैंतिस वर्षों तक राज्य किया था। भीम नाग के सिक्के ठीक बीरसेन के बाद के हैं और स्कंद नाग के सिक्के भीम नाग के ठीक बाद के हैं। जान पड़ता है कि गणपति नाग से ठीक पहले देव नाग हुआ था; क्योंकि दोनों ही समय समय पर अपने नामों के साथ "इंद्र" शब्द का प्रयोग करते हैं, जैसे देवेंद्र; गणेंद्र (A. S. R. १९१५-१६, पृ० १०५)। बृहस्पति नाग और व्याघ्र नाग में से देव नाग से ठीक पहले व्याघ्र नाग हुआ था, क्योंकि इन दोनों के सिक्कों पर वाकाटक सम्राटों का चक्र-चिह्न है (देखो § ६१ क और १०२[1])।

मथुरावाले वंश में का अंतिम नाम 'नागसेन' उस उल्लेख से लिया गया है जो समुद्रगुप्त की विजयों से संबंध रखता है। समुद्रगुप्त के शिलालेख के अनुसार, जिसका विवेचन आगे तीसरे भाग में किया गया है, नागसेन की राजधानी निश्चित रूप से

१. साथ ही देखो अंत में दुरेहा स्तंभ के संबंध में परिशिष्ट।

मथुरा ही जान पड़ती है। कौमुदी-महोत्सव में कहा गया है कि कीर्त्तिषेण सुंदर-वर्म्मन् का मित्र और कल्याण वर्म्मन् का ससुर था। यह कल्याण वर्म्मन् उक्त सुंदर वर्म्मन् का पुत्र था और इसी ने पाटलिपुत्र पर से चंद्रगुप्त का अधिकार हटाया था। तीसरे भाग में गुप्तों के इतिहास के अंतर्गत इसके समय का विवेचन किया गया है (§ १३३)। उस समय के आधार पर ही कहा गया है कि नागसेन ने केवल चार वर्षों तक और कीर्त्ति-षेण ने लगभग सन् ३१५ से ३४० ई० तक राज्य किया था। सात पीढ़ियाँ पूरी करने के लिये मथुरा में वीरसेन के बाद तीन और राजा भी हुए ही होंगे। हर्ष-चरित में का नागसेन मथुरा में नहीं बल्कि पद्मावती में राज्य करता था और वह संभवतः गुप्तों के अधीन रहा होगा। उसके पद्मावती के सिक्के नहीं मिलते।

अहिच्छत्र वंश के शासन-क्षेत्र का पता एक तो अच्युत के सिक्कों से लगता है और दूसरे समुद्रगुप्त के शिलालेख में आए हुए उसके अच्युत के नाम से लगता है। इस लेख का विवेचन आगे तीसरे भाग में किया गया है। उसके सिक्कों पर भी साम्राज्य संबंधी वही चक्र-चिह्न है (C. I. M. प्लेट २२, ६) जो पद्मावती के देवसेन के सिक्के पर है (C. I. M. प्लेट २, २४)। स्कंदगुप्त के शासन-काल के जो ताम्रलेख इंदौरखेड़ा में मिले हैं और जो अंतर्वेदी के गवर्नर या विषयपति सर्व नाग के खुदवाए हुए हैं (G. I. पृ० ७०), उनके आधार पर मेरा मत है कि अहिच्छत्र वंश का शासन अंतर्वेदी प्रांत में था। मैं यह भी समझता हूँ कि उनकी राजधानी इंद्रपुर (इंदौरखेड़ा में थी; ब्रह्मांडपुराण में उनकी राजधानी सुरपुर में बतलाई गई है जो इंद्रपुर भी हो सकता है। इसके अतिरिक्त जिस इंदौरखेड़ा नामक

स्थान में ये ताम्रलेख पाए गए हैं, वह स्थान भी बहुत प्राचीन है; और इसीलिये इस बात की बहुत अधिक संभावना है कि उक्त वंश की राजधानी वहीं रही होगी। बहुत कुछ संभावना इसी बात की है कि सर्व नाग भी मत्तिल का एक वंशज था, जिसके संबंध में मैंने आगे तीसरे भाग में विवेचन किया है (§ १४०)। उसका राजनगर अंबाले जिले में श्रुघ्न नामक स्थान में या उसके कहीं आस-पास ही रहा होगा। उसके लड़के की मोहर लाहौर में पाई गई है (G. I. पृ० २८२) जो अपने समय में गुप्तों के अधीनस्थ और करद राजा अथवा नौकर की भाँति शासन करता रहा होगा। वायु और ब्रह्मांड पुराण में यह तो कहा गया है कि चंपावती भी एक राजधानी थी, पर वहाँ के शासकों के नामों का अभी तक पता नहीं चला है।

प्रवरसेन का सिक्का जो वीरसेन का माना गया है

§ ३०. हम यहाँ भार-शिव राजाओं के सिक्कों का विवेचन कर रहे हैं, इसलिये हम एक ऐसे सिक्के पर भी कुछ विचार कर लेना चाहते हैं जो वीरसेन का माना गया है, पर जो मेरी समझ में वाकाटक सिक्का है और प्रवरसेन प्रथम का है। यह सिक्का भी उसी वर्ग में है जिस वर्ग के सिक्कों का हम विवेचन करते चले आ रहे हैं। यह सिक्का प्राचीन सनातनी हिंदू ढंग का है। इसकी लिपि तो कुशनों के बाद की है और ढंग या शैली गुप्तों से पहले की है। डा० विंसेंट स्मिथ ने इंडियन म्यूजियम के सिक्कों की सूची (Coins of Indian Museum) के प्लेट नं० २२ पर चित्र नं० १५ में यह सिक्का दिखलाया है[1]। इस पर की लिपि को उन्होंने व (?)

---

१. देखो इस ग्रंथ में दिया हुआ तीसरा प्लेट।

रसेनस पढ़ा है। इसमें की ि वाली मात्रा को वे संदिग्ध समझते हैं और यद्यपि वे इसे वीरसेन का ही मानते हैं, पर फिर भी कहते हैं कि यह वीरसेन के प्रारंभिक सिक्कों के बाद का है[1]। समय के विचार से उन्होंने इन दोनों सिक्कों में जो अंतर समझा है और जो यह निर्णय किया है कि यह किसी दूसरे और बाद के राजा का सिक्का है, वह तो ठीक है, परंतु उस पर के नाम को वीरसेन पढ़ने में उन्होंने भूल की है। इस सिक्के पर के लेख को मैं प्रवरसेनस (स्य) मानता हूँ और सिक्के में बाईं और नीचेवाले कोने में लेख का जो पहला अक्षर है, उसे 'प्र' पढ़ता हूँ। नामके नीचे मैं ७६ (७०, ६) भी पढ़ता हूँ। सिक्के पर सामने की ओर एक ओर बैठी हुई स्त्री की मूर्त्ति है जिसके दाहिने हाथ में एक घड़ा है, जिससे सूचित होता है कि यह गंगा की मूर्त्ति है (देखो § १७)[2]। नीचे की ओर दाहिने कोने पर वाकाटक चक्र भी है जो हमें नचना और जासो में भी मिलता है (देखो अंतिम परिशिष्ट)।

§ ३१. गणपति नाग के वंश के इतिहास का पता मिथिला के

---

१. C. I. M. पृ० १६२ और पृ० १६७ की दूसरी पाद-टिप्पणी।

२. इस मूर्त्ति के सिर पर ऐसा मुकुट नहीं है जिसमें से प्रकाश की किरणें चारों ओर निकलकर फैल रही हों, जैसा कि C. I. M. पृ० १६७ में कहा गया है, बल्कि वह छत्र है जो सिंहासन में लगा हुआ है। साथ ही आगे वाकाटक सिक्कों के संबंध में देखो § ६१।

भाव-शतनक और नागों का मूल निवास स्थान

एक ऐसे हस्तलिखित काव्य की प्रति से चला है जो स्वयं गणपति नाग के ही शासनकाल में लिखा गया था और उसी को समर्पित हुआ था। उसमें कवि कहता है कि नाग राजा[1] वाक (सरस्वती) और पद्मालया (पद्मावती) दोनों से ही श्रृंगरित या सुशोभित है और पद्य में उसमें उसका नाम गजवक्त्रश्री (गज या हाथी के मुखवाले राजा) नाग[2] दिया है। एक और पद्य में वह कहता है कि गणपति को देखकर और सब नाग भयभीत हो जाते हैं[3]। यह राजा धारा पश्चिमी मालवा का स्वामी या अधीश्वर कहा गया है[4]। उसके वंश का नाम टाक कहा गया है और उसका गोत्र कर्पटी बतलाया गया है। न तो उसका पिता जालप ही और न उसका प्रपिता विद्याधर ही राजा था। इससे यह जान पड़ता है कि वह किसी राजा का सगोत्र और बहुत निकट संबंधी होने के कारण सिंहासन पर बैठा था। इस ग्रंथ का नाम भावशतक है जिसमें सौ से कुछ अधिक छंद हैं जिनमें से ९५ छंदों में प्रायः भावों का ही विवेचन है। प्रत्येक छंद स्वतः पूर्ण है और उसमें कवित्व का एक ही विचार या भाव उसी प्रकार आया है, जिस प्रकार अमरु में है। बहुत से छंद शिवजी की प्रशंसा में हैं जो कवि के आश्रयदाता का इष्ट

१-२. जायसवाल कृत Catalogue of Mithila Mss दूसरा खंड, पृ० १०५।

नागराज समं [शतं] ग्रंथं नागरान तन्वता
अकारि गजवक्त्र-श्रीनागराजो गिरां गुरुः ॥

३-४. पन्नगपतयः सर्वे वीक्ष्यंते गणपतिं भीताः (८०)। धाराधीशः (९२)।

देवता है। कवि ने अपने आश्रयदाता का स्वभाव उग्र और कठोर बतलाया है और कहा है कि सुंदरी स्त्रियों में उसका मन नहीं रमता और वह स्वभाव से ही युद्धप्रिय और भारी योद्धा है। यह ग्रंथ काव्यमाला नामक संस्कृत पुस्तकमाला के सन् १८९९ वाले चौथे खंड में पृ० ३७ से ५२ तक छपा है[1]। परंतु काव्यमालावाली प्रति के दूसरे श्लोक में राजा का नाम इस प्रकार गलत दिया गया है—गतवक्त्रश्रीर्नागराजः[2]। पर मिथिलावाली हस्तलिखित प्रति में वह नाम इस प्रकार दिया है—गजवक्त्रश्रीर्नागराजः अर्थात् श्री गणपति नागराज; और इसी से मुझे यह पता चला कि यह उल्लेख गणपति नाग के संबंध में है। यह बात प्रायः सभी लोग अच्छी तरह जानते हैं कि जम्मू के पास तथा पंजाब के और कई स्थानों में टाक नाग रहा करते थे[3]। राजपूताने के चारणों, चंद बरदाई और मुसलमान इतिहास-लेखकों ने उनके राजवंश का उल्लेख किया है। महाभारत में उनके गोत्र कर्पटी का भी उल्लेख मिलता है जहाँ पंजाब राजपूताने के प्रदेश में मालवों के साथ पंचकर्पट भी रखे गए हैं। स्पष्टतः ये सब प्रजा-

---

१. गणपति नाग के चरित्र और स्वभाव आदि के संबंध में देखो छंद सं० ७३, ९६ और ६२ आदि। साथ ही काव्यमालावाली प्रति में देखो छंद सं० १ और ९८-१०० जिनमें गणपति नाग के वंश का वर्णन है।

२. देखो इस पुस्तक में पृ० ८१ की पाद-टिप्पणी ३।

३. कनिंघम A.S.R. खंड २, पृ० १०। मध्य युग में मध्य देश में टक्करिका नाम का एक भट्ट गाँव था जिसके वर्णन के लिये देखो I. A. १७, पृ० २४५।

तंत्री समाज थे[1]। जान पड़ता है कि यह नाग वंश अपने निकट-तम पड़ोसी मालवों के ही संबंधी थे जो मालव करकोट नाग की पूजा करते थे, करकोट नाग के उपासक थे और पंजाब में चलकर राजपूताने में आ बसे थे। (देखो आगे इस ग्रंथ का तीसरा भाग (§§ १४५–६)

सन् ८० से १४० ई० तक नागों के शरण लेने का स्थान

§ ३१ क. नंदी नाग ने जब कुशन काल में सन् ८० ई० के लगभग पद्मावती और विदिशा का रहना छोड़ा था, तब वे लोग वहाँ से मध्यप्रदेश में चले गए और वहीं के पहाड़ों में रक्षित रहकर वे लोग पचास वर्ष से अधिक समय तक राज्य करते रहे। इस बात का एक निश्चित प्रमाण है कि मध्य प्रदेश के नागपुर जिले पर उनका अधिकार था। राष्ट्रकूट राजा कृष्णराज द्वितीय के जो देवलीवाले ताम्रलेख (E. I. खंड ५, पृ० १८८) मध्य प्रदेश की आधुनिक राजधानी नागपुर से कुछ ही मीलों की दूरी पर पाए गए थे और जिन पर शक संवत् ८५२ (सन् ९४०-४१ ई०) अंकित है, उनमें कहा गया है कि दान की हुई भूमि नागपुर-नंदिबर्द्धन के प्रदेश में है और इन दोनों ही नामों का नंदी नागों से संबंध है। इस लेख से बहुत पहले का भी हमें नंदिबर्द्धन का उल्लेख मिलता है, अर्थात् उन वाकाटकों के समय का उल्लेख मिलता है जो भार-शिव नागों के बाद ही साम्राज्य के उत्तरा-धिकारी हुए थे। प्रभावती गुप्त के पूनावाले ताम्रलेखों में, जिनका संपादन E.I. खंड १५, पृ० ३९ में हुआ है, नंदिबर्द्धन नगर का

---

१. देखो मेरा लिखा हुआ 'हिंदू राज्यतंत्र' पहला भाग, पृ० २५७ और महाभारत सभापर्व अ० ३२, श्लोक ७–९।

नाम आया है। जैसा कि मि० पाठक और मि० दीक्षित ने E. I. खंड १५, पृ० ४१ में बतलाया है, राय बहादुर हीरालाल ने यह पता लगा लिया है कि यह नंदिबर्द्धन वही कस्बा है जो आजकल नगरधन कहलाता है और जो नागपुर से बीस मील की दूरी पर है[1] कस्बे का नंदिबर्द्धन नाम कभी वाकाटकों या भार-शिवों के समय में नहीं रखा गया होगा; क्योंकि उनके समय में तो नंदी-उपाधि का परित्याग किया जा चुका था, बल्कि यह नाम भार-शिवों के उत्थान से भी बहुत पहले रखा गया होगा। जिस समय नाग राजा लोग पद्मावती और विदिशा से चले थे, उस समय उनके नामों के साथ नंदी की वंशगत उपाधि लगती थी। ऐसा जान पड़ता है कि नंदी नागों ने प्रायः पचास वर्षों तक विंध्य पर्वतों के उस पारवाले प्रदेश—अर्थात् मध्य प्रदेश में जाकर शरण ली थी जहाँ वे स्वतंत्रतापूर्वक रहते थे और जहाँ कुशन लोग नहीं पहुँच सकते थे। आर्यावर्त्त के एक राजवंश के इस प्रकार मध्य प्रदेश में जा बसने का बाद के इतिहास पर बहुत बड़ा प्रभाव पड़ा था और इसी प्रभाव के कारण भार-शिवों और उनके उत्तराधिकारी वाकाटकों के शासन-काल में दक्षिणा-पथ के एक भाग के साथ आर्यावर्त्त संबद्ध हो गया था। सन् १०० ई० से सन् ५५० ई० तक मध्य प्रदेश का विंध्यवर्त्ती आर्यावर्त अर्थात् बुंदेलखंड के साथ इतना अधिक घनिष्ठ संबंध हो गया था कि दोनों मिलकर एक हो गए थे और उस समय इन दोनों प्रदेशों में जो एकता स्थापित हुई थी, वह आज तक बराबर चली चलती है। बुंदेलखंड का एक अंश और

---

१. हीरालाल कृत Inscriptions in C. P. & Berar पृ० १०—नागवर्द्धन=नगरधन।

प्राचीन दक्षिणापथ का नागपुरवाला अंश दोनों मिलकर एक हिंदुस्तानी प्रदेश बने रहे हैं और निवासियों, भाषा तथा संस्कृति के विचार से पूरे उत्तरी हो गए हैं और आर्यावर्त्त का विस्तार वस्तुतः निर्मल पर्वत-माला तक हो गया है। साठ वर्षों तक नाग लोग जो निर्वासित होकर वहाँ रहे थे, उसी के इतिहास का यह परिणाम है। एक ओर तो नागपुर से पुरिका होशंगाबाद तक और दूसरी ओर सिवनी से होते हुए जबलपुर तक उन्होंने पूर्वी मालवा से भी, जहाँ से उनका राज्याधिकार हटाया गया था और बघेलखंड रीवाँ के साथ भी अपना संबंध बराबर स्थापित रखा था; और फिर इसी बघेलखंड से होते हुए वे अंत में गंगा-तट तक पहुँचे थे। उनका यह नवीन निवास-स्थान आगे चलकर गुप्तों के समय में वाकाटकों का भी निवास-स्थान हो गया था; और इसी से अजंटा का वैभव बढ़ा था जो अपने मुख्य इतिहास काल में बराबर भार-शिवों और वाकाटकों के प्रभाव और प्रत्यक्ष अधिकार में बना रहा। अजंटा की कला मुख्यतः नागर भार-शिव और वाकाटक कला है। सन् २५०-२७५ ई० के लगभग शातवाहनों के हाथ से निकलकर यह अजंटा भार-शिव वाकाटकों के हाथ में चला आया था।

§ ३२. स्कंदगुप्त के शासन-काल तक कुछ नाग करद राजा थे, क्योंकि इस बात का उल्लेख मिलता है कि स्कंदगुप्त ने नागों के एक विद्रोह का कठोरतापूर्वक दमन किया था[1]। चंद्रगुप्त द्वितीय ने कुबेर नाग नाम की एक नाग राजकुमारी के साथ विवाह किया था जो महादेवी थी और जिसके गर्भ से प्रभावती गुप्त उत्पन्न हुआ था। यदि यह नागकुमारी ध्रुवदेवी नहीं थी तो

१. G. I. पृ० ५६, (जूनागढ़ पंक्ति) ३।

संभवतः चंद्रगुप्त की दूसरी रानी अवश्य थी। इस बात का भी उल्लेख मिलता है कि कोटा (राजपूताना) में मध्य युगों में करद नाग राजाओं का एक वंश रहता था[२]। राय बहादुर हीरालाल ने बस्तर के जो शिलालेख आदि प्रकाशित किए हैं, उनमें भी नागवंशियों का उल्लेख है; और ये नागवंशी लोग संभवतः, मध्य प्रदेश के उन्हीं नागों के वंशज थे जो अपने नाम के स्मृति-चिह्न के रूप में नागपुर[३] और नगरवर्धन ये दो नाम-स्थान छोड़ गए हैं और जो संभवतः भार-शिरों के अधिकृत स्थानों के अवशिष्ट हैं।

५. पद्मावती और मगध में कुशन शासन

(लगभग सन् ८० ई० से १८० ई० तक)

§ ३३. नव नागों और गुप्तों के उत्थान से पहले का पद्मावती

---

२. I. A. खंड १४, पृ० ४५।

३. नागपुर (आजकल के मध्य प्रदेशवाला) का उल्लेख दसवीं शताब्दी के एक शिलालेख में मिलता है। देखो हीरालाल का Inscriptions in the C. P. & Berar दूसरा संस्करण पृ० १० और E. I. खंड ५. पृ० १८८. ग्यारहवीं और उसके बाद की शताब्दियों के नागवंशियों के वर्णन के लिये देखो हीरालाल का उक्त ग्रंथ पृ० २०६, २१०. और पृ० १९६ में आया हुआ उसका एक और उल्लेख नगरधन, जैसा कि ऊपर (§ ३१ क) बतलाया जा चुका है, प्राचीन नंदिवर्द्धन नगर के ही स्थान पर बसा हुआ है; और इस नगर का उल्लेख प्रभावती गुप्त के पूनावाले ताम्रलेखों और राष्ट्रकूट लेख (देवली का ताम्रलेख) में भी आया है। आजकल यह नगरधन कहलाता है जिसका अर्थ है—नागों का वर्द्धन। इसमें का 'नगर' शब्द नागर के लिये आया है।

और मगध का इतिहास पूरा करने के लिये पुराणों ने बीच में वनस्पर का इतिहास भी जोड़ दिया है।

वनस्पर

पुराणों में इस शब्द के कई रूप मिलते हैं; तथा विश्वस्फटि (क), विश्वस्फाणि और विंबस्फाटि[1] जिसमें के खरोष्ठी लिपि के न को लोगों ने भूल से श पढ़ा और श ही लिखा है[2]। इस प्रकार की भूल लोगों ने कुणाल के संबंध में भी की है और उसे कुशाल पढ़ा है। यह विंस्फाटि और वि (न्) वस्फाणि भी वही है जो सारनाथवाले शिलालेखों के वनस्फर और वनस्पर हैं। सारनाथ के दो शिलालेखों से हमें पता चलता है (E. I. खंड ८, पृ० १७३) कि कनिष्क के शासन-काल के तीसरे वर्ष में वनस्पर उस प्रांत का क्षत्रप या गवर्नर था जिसमें बनारस पड़ता था। उस समय वनस्फर (वनस्पर) केवल एक क्षत्रप या गवर्नर था। और उसका प्रधान खरपल्लान महाक्षत्रप या वाइसराय था। बाद में वनस्फर भी महाक्षत्रप हो गया होगा। उसका शासन-काल कुछ अधिक दिनों तक था, इसलिये हम यह मान सकते हैं कि उसका समय लगभग सन् ६० ई० से १२० ई० तक रहा होगा। यह वही समय है जो विदिशा के नागों ने अज्ञातवास में बताया था।

§ ३४. इस वनस्पर का महत्त्व इतना अधिक था कि इसके वंशज, जो बुंदेलखंड के बनाफर कहलाते हैं, चंदेलों के समय तक अपनी वीरता और युद्धकौशल के लिये बहुत प्रसिद्ध थे। मूल या उत्पत्ति के विचार से ये लोग कुछ निम्न कोटि के

---

१. पार्जिटर कृत Purana Text पृ० ५२ की पाद-टिप्पणी नं० ४५ तथा दूसरी टिप्पणियाँ।

२. उक्त ग्रंथ पृ० ८५।

माने जाते थे और राजपूतों के साथ विवाह-संबंध स्थापित करने में इन्हें कठिनता होती थी। आज तक ये लोग समाज में कुछ निम्न कोटि के ही माने जाते हैं। बुंदेलखंड में उनके नाम से एक बनाफरी बोली भी प्रचलित है। विंवस्फाटि ने भागवत के अनुसार पद्मावती में अपना केंद्र स्थापित किया था और सब पुराणों के अनुसार मगध तक अपने राज्य का विस्तार किया था। पुराणों में उसकी वीरता की बहुत प्रशंसा की गई है और कहा गया है कि उसने पद्मावती से बिहार तक का सारा प्रदेश और बड़े बड़े नगर जीते थे। पुराणों में यह भी कहा है कि वह युद्ध में विष्णु के समान था और देखने में हीजड़ा सा जान पड़ता था। प्रसिद्ध इतिहास-लेखक (Gibbon) ने हूणों के संबंध में जो बात कही है; वही बात पुराणों ने बहुत पहले से इन बनाफरों के संबंध में भी कही है; अर्थात्–इन लोगों के चेहरों पर दाढ़ियाँ प्रायः होती ही नहीं थीं, इसलिये इन लोगों को न तो कभी युवावस्था की पुरुषोचित शोभा ही प्राप्त होती थी और न वृद्धावस्था का पूज्य तथा आदरणीय रूप ही। अतः ऐसा जान पड़ता है कि बनस्पर की आकृति हूणों की सी थी और वह देखने में मंगोल सा जान पड़ता था।

उसकी नीति

उसकी नीति विशेष रूप से ध्यान में रखने योग्य है। उसने अपनी प्रजा में से ब्राह्मणों का बिलकुल नाश ही कर दिया था—प्रजाश्च अब्राह्म-भूयिष्ठाः। उसने उच्च वर्ग के हिंदुओं को बहुत दबाया था और निम्न कोटि के लोगों तथा विदेसियों को अपने राज्य में उच्च पद प्रदान किए थे। उसने क्षत्रियों का भी नाश कर दिया था और एक नवीन शासक-जाति का निर्माण किया था। उसने अपनी प्रजा को अब्राह्मण कर दिया था। जैसा कि

हम आगे चलकर बतलावेंगे (§ १४६ ख), कुशनों ने भी बाद में इसी नीति का अवलंबन किया था। वे अपने राजनीतिक उद्देश्यों की सिद्धि के लिये समाज पर अत्याचार करते थे और बड़े धर्मांध होते थे—दूसरे धर्मवालों को बहुत कष्ट देते थे। कैवर्त्तों में से, जो भारत के आदिम निवासियों में से एक छोटी जाति है और खेती-बारी करती है और जिसे आजकल केवट कहते हैं, उसने शासकों और राजकर्मचारियों का एक नया वर्ग तैयार किया था; और इसी प्रकार पंचकों में से भी, जो शूद्रों से भी निम्न कोटि के होते हैं और अस्पृश्य माने जाते हैं, उसने अनेक शासक और राजकर्मचारी तैयार किए थे। उसने मुद्रकों को भी बिहार से बुंदेलखंड में बुलवाया था जो पहले पंजाब में रहा करते थे और चकों तथा पुलिंदों या चक-पुलिंदों या पुलिंद यवु लोगों[1] को भी अपने यहाँ बुलाकर रखा था। शासन आदि के कार्यों के लिये उत्तर से पूर्व में प्रथम वर्ग के जो लोग बुलाए गए थे, उनका महत्त्व इस विचार से है कि उससे सूचित होता है कि उसने धन देकर भारत के एक भाग से दूसरे भाग में

---

१. पारजिटर P. T., पृ० ५२, पाद टिप्पणी ४८।

विष्णुपुराण में कहा है—कैवर्त्त यदु (यवु) पुलिंद अब्राह्मणानाम् (न्यान्) राज्ये स्थापयिष्यथि उत्साद्यखिल क्षत्र-जाति।

भागवत में कहा है—करिष्यति अपरान् वर्णान् पुलिंद-यवु,मद्र-कान्। प्रजाश्च अब्रह्म भुयिष्ठाः स्थापयिष्यति दुर्मतिः॥

वायुपुराण में कहा है—उत्साद्य पार्थिवान् सर्वान् सोऽन्यान् वर्णान् करिष्यति। कैवर्त्तान् पंचकांश्चैव पुलिंदान् अब्रह्मणानांस्तथा॥

दूसरे पाठ—कैवर्त्त्यासाम् सकांश्चैव पुलिंदान्। और—कैवर्त्तान् य पुमांश्चैव आदि।

आदमियों को बुलाने की नीति का अवलंबन किया था। चक-पुलिंद वास्तव में शक पुलिंद हैं, क्योंकि भारत में प्रायः शक से चक शब्द भी बना लिया जाता है, जैसा कि गर्ग संहिता में[1] किया गया है। उनके साथ यपु या यवु विशेषण लगाया जाता है और वे पुलिंद यपु और पुलिंद अब्राह्मणानाम् कहे गए हैं[2]। दूसरे शब्दों में यही बात यों कही जाती है कि वे भारतीय पुलिंद नहीं थे बल्कि अब्राह्मण और शक पुलिंद थे। ये लोग वही पालद या पालक-शाक जान पड़ते हैं जिन्होंने स्वयं अपने सिक्के चलाने के कारण और समुद्रगुप्त तथा चंद्रगुप्त के सिक्कों को ग्रहण कर लेने के कारण[3] चौथी शताब्दी तथा पाँचवीं शताब्दी के आरंभ में कुछ विशेष महत्त्व प्राप्त कर लिया है।

§ ३५. इस कुशन क्षत्रप के शासन का जो वर्णन ऊपर दिया गया है, उससे हमें इस बात का बहुत कुछ पता लग जाता है कि भारत में कुशनों का शासन किस प्रकार का था। काश्मीर के इतिहास राजतरंगिणी में कुशनों के शासन के संबंध में जो कुछ कहा गया है (१, १, १७४-८५), उससे इस मत की और भी पुष्टि हो जाती है। उन दिनों काश्मीर में जो नागों की उपासना प्रचलित थी, उसे कुशनों ने बंद कर दिया था और उसके स्थान पर बौद्ध धर्म का प्रचार किया था। एक बौद्ध धर्म ही ऐसा था जिसके द्वारा विदेशी शक

---

१. J. B. O. R. S. खंड १४, पृ० ४०८।

२. पारजिटर P. T. पृ० ५२; ३५ वीं तथा और पाद-टिप्पणियाँ।

३. J. B. O. R. S. खंड १८, पृ० २०६. [अफगानिस्तान में उत्तरी पुलिंद भी थे जो संभवतः आजकल पोविंदाह कहलाते हैं। देखो मत्स्यपुराण ११३-४१।]

लोग उस प्राचीन सनातनी और अभिमानी समाज का मुकाबला कर सकते थे जो मनुष्यों के प्राकृतिक तथा जातीय विभागों के आधार पर संघटित हुआ था। ब्राह्मणों की वर्ण-व्यवस्था के कारण ये म्लेच्छ शासक बहुत ही उपेक्षा और घृणा की दृष्टि से देखे जाते थे जिससे उन म्लेच्छों को बहुत बुरा लगता था और इसीलिये उस सामाजिक व्यवस्था के नाश के लिये वे लोग अनेक प्रकार के उपाय करते थे जो उन्हें बहिष्कृत रखती थी। इसके परिणाम-स्वरूप काश्मीर में बहुत बड़ा आंदोलन हुआ था, और इस बात का उल्लेख मिलता है कि राजा गोनर्द तृतीय ने उस नाग उपासना को फिर से प्रचलित किया था जिसका हुष्क, जुष्क और कनिष्क के तुरुष्क अर्थात् कुशन शासन ने नाश कर डाला था। भारतवर्ष में भी ठीक यही बात हुई थी, और बिना इस बात को जाने हम यह नहीं समझ सकते कि भार-शिवों के समय में जो राष्ट्रीय आंदोलन खड़ा हुआ था, उसका क्या कारण था।

कुशानों के पहले के सनातनी स्मृति-चिह्न और कुशनों की सामाजिक नीति

कुशन शासन-काल में हमें केवल बौद्ध और जैन धर्मों के ही स्मृति-चिह्न आदि मिलते हैं। उस समय का ऐसा कोई स्मृति-चिह्न नहीं मिलता जो हिंदू ढंग की सनातनी उपासना से संबंध रखता हो। यद्यपि सब लोग यह बात अच्छी तरह जानते हैं कि जिस समय बौद्धों के सबसे आरंभिक स्मृति-चिह्न बने थे, उससे बहुत पहले से ही सनातनी और हिंदू लोग अनेक प्रकार स्मृति-चिह्न, भवन और मूर्त्तियाँ आदि बनाया करते थे, तो भी हमें बौद्धों से पहले का सनातनी हिंदुओं का कोई स्मृति-चिह्न या वस्तु अथवा

तक्षण कला का कोई नमूना या प्रमाण नहीं मिलता[1]। मत्स्य पुराण में मंदिरों तथा देवी-देवताओं की मूर्तियों के निर्माण के संबंध में हमें बहुत कुछ विस्तृत और वैज्ञानिक विवेचन मिलता है; और हिंदुओं के और भी बहुत से ग्रंथों में इस विषय के उल्लेख भरे पड़े हैं[2] जिनसे यह प्रमाणित होता है कि सन् ३०० ई० से पहले भी इस देश में हिंदू देवताओं और देवियों के बहुत से और अनेक आकार-प्रकार के मंदिर आदि बना करते थे। इन सब प्रमाणों को देखते हुए इस बात में किसी प्रकार का संदेह नहीं किया जा सकता कि गुप्तों के समय से पहले भी सनातनी हिंदुओं की वास्तु-विद्या और राष्ट्रीय कला अपनी उन्नति के बहुत ऊँचे शिखर पर पहुँच गई थी; और जब भार-शिवों वाकाटकों तथा गुप्तों के समय में उनका फिर से उद्धार होने लगा, तब वैसे अच्छे भवन आदि फिर नहीं बने; और जो बने भी, वे पुराने भवनों आदि के मुकाबले के नहीं थे। स्वयं बौद्धों और जैनों के स्मृति-चिह्नों की अनेक आंतरिक बातों से ही यह बात भली भाँति प्रमाणित हो जाती है। एक उदाहरण ले लीजिए। बौद्धों और जैनों के स्तूपों आदि पर की नक्काशी में अप्सराओं के लिये कोई स्थान नहीं हो सकता था और उन पर अप्सराओं की मूर्तियाँ आदि नहीं बननी चाहिए थीं। परंतु वास्तव में यह बात नहीं है और हमें बोध गया

---

१. इसका एक अपवाद भीटा का पंचमुखी शिवलिंग है (A. S. R. १९०९-१०) जिस पर ई० पू० दूसरी शताब्दी का एक लेख अंकित है।

२. श्रीयुक्त बृंदावन भट्टाचार्य ने अपने The Hindu Images नामक ग्रंथ में इन सबका बहुत ही योग्यतापूर्वक संग्रह किया है।

के रेलिंगवाले द्वार पर, मथुरा के जैन स्तूपों पर और नागार्जुनी कोंडा स्तूपों तथा इसी प्रकार के और अनेक भवनों आदि पर ऐसी मूर्त्तियाँ मिलती हैं जिनमें अप्सरा अपने प्रेमी गंधर्व के साथ अनेक प्रकार की प्रेमपूर्ण क्रीड़ा करती हुई दिखाई पड़ती है। अप्सराओं की भावना का बौद्ध और जैन धर्मों में कहीं पता नहीं है; पर हाँ हिंदुओं की धर्मपुस्तकों में—उदाहरणार्थ मत्स्यपुराण में—अवश्य है जिनका समय कम से कम ईसवी तीसरी शताब्दी तक पहुँचता है। मत्स्य पुराण में इस विषय का जो विवेचन है, उसमें पहले के अठारह आचार्यों के मत उद्धृत किए गए हैं जिससे सिद्ध होता है कि शताब्दियों पहले से इस देश में इन विषयों की चर्चा होती आई थी[1]। हिंदू ग्रंथों में इस संबंध में कहा गया है कि मंदिरों के द्वारों अथवा तोरणों पर गंधर्व-मिथुन या गंधर्व और उसकी पत्नी की मूर्त्तियाँ होनी चाहिएँ[2] और मंदिरों पर अप्सराओं, सिद्धों और यक्षों आदि की मूर्त्तियाँ नकाशी हुई होनी चाहिएँ। मथुरा में स्नान आदि करती हुई स्त्रियों

१. मत्स्यपुराण के अध्याय २५१—२६९ में इस विषय का विवेचन है और वह विवेचन ऐसे १८ आचार्यों के मतों के आधार पर है जिनके नाम उसमें दिए गए हैं (अ० २५१, २-४) अ० २७० से वास्तु कला के इतिहास का प्रकरण चलता है (अ० २७०-२७४) और इस इतिहास का अंत सन् २४० ई० के लगभग हुआ है। इन अठारह आचार्यों के कारण यह कहा जा सकता है कि इस विषय के विवेचन का आरंभ कम से कम ई० पू० ६०० में हुआ होगा।

२. मत्स्यपुराण २५७, १३-१४ (विष्णु के संबध में)—

तोरणान् चोपरिष्टात् तु विद्याधरसमन्वितम्।
देवदुन्दुभिसंयुक्तं गन्धर्वमिथुनान्वितम्॥

की मूर्तियाँ हैं। उनकी मुख्य बातें अप्सराओं की सी ही हैं और उनके स्नान करने की भाव-भंगियाँ आदि के कारण ही वे जल-अप्सराएँ कही गई हैं। जब प्रश्न यह है कि बौद्धों और जैनों को ये अप्सराएँ कहाँ से मिलीं। बौद्धों और जैनों को गज-लक्ष्मी कहाँ से मिली; और गरुड़ध्वज धारण करनेवाली वैष्णवी ही बौद्धों को कहाँ से मिली ? मेरा उत्तर यह है कि उन्होंने ये सब चीजें सनातनी हिंदू इमारतों से ली हैं। उन दिनों वास्तुकला में इन सब बातों का इतना अधिक प्रचार हो गया था कि इमारतें बनानेवाले कारीगर आदि उन्हें किसी प्रकार छोड़ ही नहीं सकते थे। जिस समय बौद्धों ने अपने पवित्र स्मृति-चिन्ह आदि बनाने आरंभ किए थे, उस समय कुछ ऐसी प्रथा सी चल गई थी कि जिन भवनों और मंदिरों आदि में इस प्रकार की मूर्त्तियाँ नहीं होती थीं, वे पवित्र और धार्मिक ही नहीं समझे जाते थे; और इसीलिये बौद्धों तथा जैनों आदि को भी विवश होकर उसी ढंग की इमारतें बनानी पड़ती थीं, जिस ढंग की इमारतें पहले देश में बनती चली आ रही थीं। हिंदू मंदिरों पर तो इस प्रकार की मूर्त्तियों का होना योग और परंपरा आदि के विचार से सार्थक ही था, क्योंकि हिंदुओं में इस प्रकार की भावनाएँ वैदिक युग से चली आ रही थीं और हिंदुओं के प्राचीन पौराणिक इतिहास के साथ इनका घनिष्ठ संबंध था; और हिंदुओं के अंतिम दिनों तक उनके मंदिरों और मूर्त्तियों आदि में ये सब बातें बराबर चली आई थीं। पर बौद्ध तथा जैन भवनों आदि में इस प्रकार की मूर्त्तियों के बनने का इसके सिवा और कोई अर्थ नहीं हो सकता कि वे केवल भवनों की शोभा और शृंगागार के लिये बनाई जाती थीं और सनातनी हिंदू भवनों से ही वे ली गई थीं और उन्हीं की नकल पर बनाई गई थीं। कुशन काल से पहले की जो सनातनी इमा-

रतें थीं, वे पूर्ण रूप से नष्ट हो गई हैं। पर इन्हें नष्ट किसने किया था? मेरा उत्तर है कि कुशन शासन ने उन्हें नष्ट कर डाला था। एक स्थान पर इस बात का उल्लेख मिलता है कि पवित्र अग्नि के जितने मंदिर थे, वे सब एक आरंभिक कुशन ने नष्ट कर डाले थे और उनके स्थान पर बौद्ध मंदिर बनाए थे[1]। एक कुशन क्षत्रप की लिखित नीति से हमें पता चलता है कि उसने ब्राह्मणों और सनातनी जातियों का दमन किया था और सारी प्रजा को ब्राह्मणों से हीन या रहित कर दिया था। सन् ७८ ई० में इस देश में जो शक शासन प्रचलित था, उसकी विशेषता का उल्लेख अलबेरूनी ने इस प्रकार किया है—

"यहाँ जिस शक का उल्लेख है, उसने आर्यावर्त्त में अपने राज्य के मध्य में अपनी राजधानी बनाकर सिंधु से समुद्र तक के प्रदेश पर अत्याचार किया था। उसने हिंदुओं को आज्ञा दे दी थी कि वे अपने आपको शक ही समझें और शक ही कहें; इसके अतिरिक्त अपने आपको और कुछ न समझें या न कहें।" (२, ६)

गर्ग संहिता में भी प्रायः इसी प्रकार की बात कही गई है—

"शकों का राजा बहुत ही लोभी, शक्तिशाली और पापी था। ....इन भीषण और असंख्य शकों ने प्रजा का स्वरूप नष्ट कर दिया था और उनके आचरण भ्रष्ट कर दिए थे।" (J. B. O. R. S. खंड १४, पृ० ४०४ और ४०८।)

गुणाढ्य ने भी ईसवी पहली शताब्दी में उन म्लेच्छों और विदेशियों के कार्यों का वर्णन किया है जो विक्रमादित्य शालिवाहन द्वारा परास्त हुए थे (J. B. O. R. S. खंड १६, पृ० २६६)।

---

१. J. B. O. R. S. १८-१५।

उसने कहा है—

"ये म्लेच्छ लोग ब्राह्मणों की हत्या करते हैं और उनके यज्ञों तथा धार्मिक कृत्यों में बाधा डालते हैं। ये आश्रमों की कन्याओं को उठा ले जाते हैं। भला ऐसा कौन सा अपराध है जो ये दुष्ट नहीं करते ?' (कथासरित्सागर १८)।

सामाजिक अवस्था पर महाभारत

§ ३६ क—कुशनों के समय के बौद्ध भारत को हिंदू जाति सन् १५०-२०० ई० की जिस दृष्टि से देखती थी, उसका वर्णन संक्षेप में महाभारत के बनपर्व के अध्याय १८८ और १९०[1] में इस प्रकार किया गया है –

"इसके उपरांत देश में वहुत से म्लेच्छ राजाओं का राज्य होगा। ये पापी राजा सदा मिथ्या आचरण करेंगे, मिथ्या सिद्धांतों के अनुसार शासन करेंगे और इनमें मिथ्या विरोध

---

१. अध्याय १९० में प्रायः वही बातें दोहराई गई हैं जो पहले अध्याय १८८ में आ चुकी हैं। ऐसा जान पड़ता है कि आरंभ में अध्याय १८८ का ही पाठ था जो अध्याय १९० के रूप में दोहराया गया है और उसके अंत में कल्कि का नाम जोड़ दिया गया है जो अध्याय १८८ में नहीं है और जो स्पष्ट रूप से वायु-प्रोक्त पुराण से लिया गया है (अ० १९१, १६)। यद्यपि वायु-प्रोक्त ब्रह्मांड पुराण में कल्कि का उल्लेख है, पर आज-कल के वायुपुराण में उसका कहीं उल्लेख नहीं है। यह समय लगभग सन् १५० ई० से २०० ई० तक का उन राजाओं के नामों के आधार पर निश्चित किया गया है जिनका अध्याय १८८ में उल्लेख है।

चलेंगे। इसके उपरांत आंध्र, शक, पुलिंद, यवन (अर्थात् यौन), कांभोज, वाह्लीक और शूर-आभीर लोग शासन करेंगे (अध्याय १८८ श्लोक ३४-३६)। उस समय वेदों के वाक्य व्यर्थ हो जायँगे, शूद्र लोग "भो" कहकर समानता-सूचक शब्दों में (ब्राह्मणों को) संबोधन करेंगे और ब्राह्मण लोग उन्हें आर्य कह-कर संबोधन करेंगे (३६)। कर के भार से भयभीत होने के कारण नागरिकों का चरित्र भ्रष्ट हो जायगा (४६)। लोग इहलौकिक बातों में बहुत अधिक अनुरक्त हो जायँगे जिनसे उनके मांस और रक्त का सेवन और वृद्धि होती है (४६)। सारा संसार म्लेच्छ हो जायगा और सब प्रकार के कर्मकांडों और यज्ञों का अंत हो जायगा (१६०-२६)। ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य न रह जायँगे। उस समय सब लोगों का एक ही वर्ण हो जायगा, सारा संसार म्लेच्छ हो जायगा और लोग श्राद्ध आदि से पितरों को और तर्पण आदि से प्रेतात्माओं को तृप्त नहीं करेंगे (४६)। वे लोग देवताओं की पूजा वर्जित कर देंगे और हड्डियों की पूजा करेंगे। ब्राह्मणों के निवास-स्थानों, बड़े-बड़े ऋषियों के आश्रमों, देवताओं के पवित्र स्थानों, तीर्थों और नागों के मंदिरों में एड्डूक (बौद्ध स्तूप) बनेंगे जिनके अंदर हड्डियाँ रखी रहेंगी। वे लोग देवताओं के मंदिर नहीं बनवावेंगे।"[1] (श्लोक ६५,६६ और ६७)।

---

१. एड्डूकान् पूजयिष्यन्ति वर्जयिष्यन्ति देवताः ।
शूद्राश्च प्रभविष्यन्ति न द्विजाः युगसंक्षये ॥
आश्रमेषु महर्षीणां ब्राह्मणावसथेषु च ।
देवस्थानेषु चैत्येषु नागानामालयेषु च ॥
एड्डूकचिन्हा पृथिवी न देवगृहभूषिता ।
कुम्भकोणम् वाला संस्करण, पृ० ३१४ ।

यह वर्णन अनेक अंशों में उस वर्णन से मिलता है जो शक शासन-काल के भारतवर्ष के संबंध में गर्ग संहिता में दिया है। यह वर्णन देखने में ऐसा जान पड़ता है कि किसी प्रत्यक्षदर्शी का किया हुआ है। इस वर्णन में जिन आंध्र, शक, पुलिंद, बैक्ट्रियन (अर्थात् कुशन) और आभीर आदि राजाओं के नाम आए हैं, उनसे सूचित होता है कि यह वर्णन के शासन-काल के अंतिम भाग का है। हम ऊपर यह बात कह आए हैं कि कुशनों ने हिंदू मंदिर नष्ट कर डाले थे। इस मत की पुष्टि महाभारत में आए हुए निम्नलिखित वाक्यों से भी होती है। समस्त हिंदू जगत् म्लेच्छ बना दिया गया था। सब जातियाँ या वर्ण नष्ट कर दिए गए थे और उनकी जगह केवल एक ही जाति या वर्ण रह गया था। श्राद्ध आदि कर्म बंद हो गए थे और लोग हिंदू देवताओं के स्थान में उन स्तूपों आदि की पूजा करते थे जिनमें हड्डियाँ रखी होती थीं। वर्णाश्रम प्रथा दबा दी गई थी। इस दमन का परिणाम यह हुआ कि लोगों के आचार भ्रष्ट होने लगे। इन्हीं अध्यायों में विस्तारपूर्वक यह भी बतलाया गया है कि लोगों का कितना अधिक नैतिक पतन हो गया था।

शकों के शासन का उद्देश्य ही यह था कि जैसे हो, हिंदुओं का हिंदुत्व नष्ट कर दिया जाय और उनकी राष्ट्रीयता की जड़ खोद दी जाय। शकों ने खूब समझ-बूझकर सामाजिक क्रांति उत्पन्न करने का प्रयत्न किया था। उनकी योजना यह थी कि उच्च वर्ग के लोगों और कुलीनों का दमन किया जाय, क्योंकि वही लोग राष्ट्रीय संस्कृति तथा राष्ट्रीय स्वतंत्रता के रक्षक थे। इस प्रकार वे लोग ब्राह्मणों और क्षत्रियों का सब प्रकार से दमन करते थे। हिंदू राजाओं की सैनिक शक्ति से शक लोग नहीं घबराते

थे, क्योंकि उस पर वे विजय प्राप्त कर ही चुके थे; पर हिंदुओं की सामाजिक प्रथा से उन्हें बहुत डर लगता था। वे जनसाधारण के मन में निरंतर भय उत्पन्न करके और उन्हें बलपूर्वक धर्म-भ्रष्ट करके तथा अपने धर्म में मिलाकर आचार-भ्रष्ट करना चाहते थे। गर्गसंहिता में कहा गया है कि वे सिप्रा के एक चौथाई निवासियों को अपनी राजधानी अर्थात् बैक्ट्रिया में ले गए थे। उन्होंने कई बार एक साथ बहुत से लोगों की जो हत्याएँ कराई थीं, उनका उल्लेख गर्ग संहिता में भी है और पुराणों में भी।[1] वे लोग इस देश का बहुत सा धन अपने साथ बैक्ट्रिया लेते गए होंगे। वे धन के बहुत बड़े लोभी हुआ करते थे। उन्होंने बराबर हिंदुओं पर अब्राह्मण धर्म लादने का प्रयत्न किया था। सारांश यह कि उन दिनों हिंदू जीवन एक प्रकार से कुछ समय के लिये बिलकुल बंद ही हो गया था। उत्तर भारत के सनातनी साहित्य में ऐसा एक भी ग्रंथ नहीं मिलता जो सन् ७८ ई० से १८० ई० के बीच में लिखा गया हो। इस कारण हिंदुओं के लिये यह बहुत ही आवश्यक हो गया था कि इस प्रकार के राजनीतिक तथा सामाजिक संकट से अपने देश को बचाने का प्रयत्न करें।

६ भार-शिवों के कार्य और साम्राज्य

भार-शिवों के समय का धर्म

§ ३७. भार-शिवों ने गंगा-तट पर पहुँचकर अपने देश को इस राष्ट्रीय संकट (§३६) से मुक्त करने का भार अपने ऊपर लिया था। प्रत्येक युग और प्रत्येक देश में जब कोई मानव समाज कोई बड़ा राष्ट्रीय कार्य आरंभ करता है, तब उसके सामने एक ऐसा मुख्य तत्त्व रहता है, जिससे उसके समस्त कार्य

१ देखो आगे तीसरा भाग § १४६ ख और § १४७-

संचालित होते हैं। हमें यहाँ यह बात भूल न जानी चाहिए कि उस समय भारत के हिंदू समाज में भी इसी प्रकार का एक मुख्य तत्त्व काम कर रहा था। वह तत्त्व आध्यात्मिक विचार और विश्वास का है। जो इतिहास लेखक इस तत्त्व पर ध्यान नहीं देता और केवल घटनाओं की सूची तैयार करने का प्रयत्न करता है, वह मानों चिड़ियों को छोड़कर उनके पर ही गिनता है। इस बात में बहुत कुछ संदेह है कि राष्ट्रीय विचारों और भावनाओं का पूरा पूरा ध्यान रखे बिना वह वास्तविक घटनाओं को भी ठीक तरह से समझ सकता है या नहीं।

§ ३८. अब प्रश्न यह है कि वह कौन सा राष्ट्रीय धर्म और विश्वास था जिसे लेकर भार-शिव लोग अपना उद्देश्य सिद्ध करने निकले थे। हमें तो उस समय सब जगह शिव ही शिव दिखाई देते हैं। हमें भार-शिवों के सभी कार्यों के संचालक शिव ही दिखाई देते हैं और वाकाटकों के समय के भारत में भी सर्वत्र उन्हीं का राज्य दिखाई देता है। जिन काव्य ग्रंथों में साधारणतः प्रेम-चर्चा होती है और होनी चाहिए, उन दिनों उन काव्यग्रंथों में भी भगवान् शिव की ही चर्चा होती थी। हिंदू राज्य-निर्माताओं की राष्ट्रीय सेवा भी उसी सर्वप्रधान शक्ति को समर्पित होती थी जिसके हाथ में मनुष्यों का सारा भाग्य रहता है। उस समय राष्ट्र की जैसी प्रवृत्तियां और जैसे भाव थे, उन्हीं के अनुरूप ईश्वर का एक विशिष्ट रूप उन लोगों ने चुन लिया था और उसी रूप को उन्होंने अपनी सारी सेवा समर्पित कर दी थी। उस समय उन्होंने जो राजनीतिक सेवा की थी, वह सब संहारकर्त्ता भगवान् शिव को अर्पित की थी। भार-शिवों ने उस समय शिव का आवाहन किया था और शिव ने गंगा-तट के मैदानों में वहाँ के निवासियों के द्वारा अपना तांडव नृत्य दिखलाना आरंभ कर दिया था। उस

समय हमें सर्वत्र शिव ही शिव दिखाई पड़ते हैं। उस समय सब जगह सब लोगों के मन में यही विश्वास समा गया था कि स्वयं संहारकर्त्ता शिव ने ही भार-शिव राज्य की स्थापना की है और वही भार-शिव राजा के राज्य तथा प्रजा के संरक्षक हैं। भगवान् शिव ही अपने भक्तों को स्वतंत्र करने के लिये उठ खड़े हुए हैं और वे उन्हें इस प्रकार स्वतंत्र कर देना चाहते हैं कि वे भली भाँति अपने धर्म का पालन कर सकें, स्वयं अपने मालिक बन सकें और आर्यों के ईश्वरदत्त देश आर्यावर्त्त में स्वतंत्रतापूर्वक रह सकें। यह एक ऐसी भावना है जो राजनीतिक भी है और भौगोलिक भी और इसके अनुसार लोग आरंभ से ही यह समझते रहे हैं कि आर्यावर्त्त में हिंदुओं का ही राज्य होना चाहिए, और इसका उल्लेख मानव धर्मशास्त्र (२, २२-२३) तक में है, और यह भावना पतंजलि के समय (ई० पू० १८०[1]) से मेधातिथि [आक्रम्याक्रम्य न चिरं त्रत म्लेच्छाः स्थातारो भवन्ति][2] और बीसलदेव (सन् ११६४ ई०) तक बराबर लोगों के मन में ज्यों की त्यों और जीवित रही है [आर्यावर्त्तं यथार्थं पुनरपि कृतवान् म्लेच्छविच्छेदनाभिः][3]। इस पवित्र सिद्धांत का खंडन हो गया था और यह सिद्धांत टूट गया था और इसे फिर से स्थापित करना आवश्यक था। और लोगों का विश्वास था कि भगवान् शिव ही इस सिद्धांत की फिर से और अवश्य स्थापना करेंगे, और वे यह कार्य अपने ढंग से अपना संहारकारक नृत्य आरंभ करके करेंगे।

---

१. J. B. O. R. S. खंड ४, पृ० २०२।

२. टैगोर व्याख्यान—"मनु और याज्ञवल्क्य" पृ० ३१-३२।

३. दिल्ली का स्तंभ I. A. खंड १९, पृ० २१२।

नाग राजा लोग भार-शिव हो गए। उन्होंने वह संहारक राष्ट्रीय नृत्य करने का भार अपने ऊपर लिया और गंगा-तट के मैदानों में बहुत सफलतापूर्वक यह नृत्य किया। उस समय के भार-शिव राजाओं ने वीरसेन, स्कंद नाग, भीम नाग, देव नाग और भव नाग आदि अपने जो नाम रखे थे, उन सबसे यही प्रमाणित होता है कि उन दिनों इसी बात की आवश्यकता थी कि सब लोग शिव के भाव से अभिभूत हो जायँ और उसी प्रकार के उत्तरदायित्व का अनुभव करें। उन्होंने जिस प्रकार बार बार वीर और योद्धा देवताओं के नाम रखे थे और बार बार जो अश्वमेध यज्ञ किए थे, वे स्वयं ही इस बात के बहुत बड़े प्रमाण हैं। भार-शिवों ने अनेक बार बहुत वीरतापूर्वक युद्ध किए और उनके इन प्रयत्नों का फल यह हुआ कि आर्यावर्त्त से कुशनों का शासन धीरे धीरे नष्ट होने लगा।

वीरसेन के उत्थान के कुछ ही समय बाद हम देखते हैं कि कुशन लोग गंगा-तट से पीछे हटते हटते सरहिंद के आसपास पहुँच गए थे। सन् २२६–२४१ ई० के लगभग कुशन राजा जुनाह यौवन[1] ने सरहिंद से ही प्रथम सासानी सम्राट् अरदसिर के साथ कुछ राजनीतिक पत्र-व्यवहार और संबंध किया था[2]। उस समय तक उत्तर-पूर्वी भारत का पंजाब तक का हिस्सा स्वतंत्र हो गया था। इस

कुशनों के मुकाबले में भार-शिव नागों की सफलता

---

१. J. B. O. R. S. खंड १८, पृ० २०१।

२. विंसेंट स्मिथ कृत Early History of India चौथा संस्करण, पृ० २८९ की पाद-टिप्पणी।

बात का बहुत अच्छा प्रमाण स्वयं वीरसेन के सिक्कों से ही मिलता है जो समस्त संयुक्त प्रांत में और पंजाब के भी कुछ भाग में पाए जाते हैं। कुशन राजाओं को भार-शिवों ने इतना अधिक दबाया था कि अंत में उन्हें सासानी सम्राट् शापूर (सन् २३६ और २६६ ई० के बीच में) के संरक्षण में चला जाना पड़ा था, जिसकी मूर्त्ति कुशन राजाओं को अपने सिक्कों तक पर अंकित करनी पड़ी थी। समुद्रगुप्त के समय से पहले ही पंजाब का भी बहुत बड़ा भाग स्वतंत्र हो गया था। माद्रकों ने फिर से अपने सिक्के बनाने आरंभ कर दिए थे और उन्होंने समुद्रगुप्त के साथ संधि करके उसका प्रभुत्व स्वीकृत कर लिया था। जिस समय समुद्रगुप्त रंगस्थल पर आया था, उस समय काँगड़े की पहाड़ियों तक के प्रदेश फिर से हिंदू राजाओं के अधिकार में आ गए थे। और इस संबंध का अधिकांश कार्य दस अश्वमेध यज्ञ करनेवाले भार-शिव नागों ने ही किया था; और उनके उपरांत वाकाटकों ने भी भार-शिव राजाओं की नीति का ही अवलंबन करके उस स्वतंत्रता प्राप्त राज्य की पचास वर्षों तक केवल रक्षा ही नहीं की थी, बल्कि उसमें वृद्धि भी की थी।

कुशनों की प्रतिष्ठा और शक्ति तथा भार-शिवों का साहस

§ ३६. भार-शिवों की सफलता का ठीक ठीक अनुमान करने के लिये हमें पहले यह बात अच्छी तरह समझ लेनी चाहिए कि बैक्ट्रिया के उन तुखारों का, जिन्हें आज-कल हम लोग कुशन कहते हैं, कितना अधिक प्रभाव था। वे ऐसे शासक थे जिनके पास बहुत अधिक रक्षित शक्ति या सेना थी; और वह रक्षित शक्ति उनके मूल निवास-स्थान मध्य एशिया में रहती थी जहाँ से उनके सैनिकों के

बहुत बड़े बड़े दल बराबर आया करते थे। इन लोगों का राज्य वंक्षु नदी के तट से लेकर बंगाल की खाड़ी तक[1] यमुना से लेकर नर्मदा तक[2] और पश्चिम में काश्मीर तथा पंजाब से लेकर सिंध और काठियावाड़ तक और गुजरात, सिंध तथा बलोचिस्तान के समुद्र तक भली भाँति स्थापित हो गया था। प्रायः सौ वर्षों तक ये लोग बराबर यही कहा करते थे कि हम लोग दैवपुत्र[3] हैं और हिंदुओं पर शासन करने का हमें ईश्वर की ओर से अधिकार प्राप्त हुआ है और साथ ही इन लोगों के संबंध में यह भी एक बहुत प्रसिद्ध बात थी कि ये लोग बहुत ही कठोरतापूर्वक शासन करते थे। यों तो एक बार थोड़ी सी यूनानी प्रजा ने भी विशाल पारसी साम्राज्य के विरुद्ध सिर उठाया था और उसे ललकारा था, पर भार-शिवों के एक नेता ने, जो अज्ञात-वास से निकलकर तुखारों की इतनी बड़ी शक्ति के विरुद्ध सिर उठाया था और उसे ललकारा था, वह बहुत अधिक वीरता का काम था।

---

१. वासुदेव के सिक्के पाटलिपुत्र तक की खुदाई में पाए गए थे—A. R. A. S; E. C. १९१३-१४, पृ० ७४। यद्यपि कुशन और पूरी-कुशन सिक्कों का प्रभाव बंगाल की खाड़ी तक था, पर बिहार के बाहर साधारणतः राजमहल की पहाड़ियों तक ही उनका प्रचार तथा प्रभाव था। ऐसा प्रसिद्ध है कि उड़ीसा पर भी एक बार यवनों का आक्रमण हुआ था, पर यह आक्रमण संभवतः कुशन यवनों का था।

२. भेड़ाघाट में एक कुशन शिलालेख पाया गया है।

३. कनिष्क का पूर्वज बर्हतकीन अपने संबंध में जो जो बातें कहा करता था, उन्हें जानने के लिये देखो अलबेरूनी २, १० (J. B. O. R. S. खंड १८, पृ० २२५।)

उन यूनानियों पर कभी पारसियों का प्रत्यक्ष रूप से शासन नहीं था; पर जो प्रदेश आज-कल संयुक्त प्रांत और बिहार कहलाता है, उस पर कुशन साम्राज्य का प्रत्यक्ष रूप से अधिकार और शासन था। यह कोई नाम मात्र की अधीनता नहीं थी जो सहज में दूर कर दी जाती और न यह केवल दूर पर टँगा हुआ प्रभाव का परदा था जो सहज में फाड़ डाला जाता। यहाँ तो प्रत्यक्ष रूप से ऐसे बलवान् और शक्तिशाली साम्राज्य-शक्ति पर आक्रमण करना था जो स्वयं उस देश में उपस्थित थी और प्रत्यक्ष रूप से शासन कर रही थी। भार-शिवों ने एक ऐसी ही शक्ति पर आक्रमण किया था और सफलतापूर्वक आक्रमण किया था। जो शातवाहन इधर तीन शताब्दियों से दक्षिण के सम्राट् होते चले आ रहे थे, वे शातवाहन अभी पश्चिम में शक-शक्ति के विरुद्ध लड़-झगड़ ही रहे थे कि इधर भार-शिवों ने वह काम कर दिखलाया जिसे अभी तक दक्षिणापथ के सम्राट् पूरा नहीं कर सके थे।

भार-शिव शासन की सरलता

§ ४० जिस प्रकार शिवजी बराबर योगियों और त्यागियों की तरह रहते हैं; उसी प्रकार भार-शिवों का शासन भी बिलकुल योगियों का सा और सरल था। उनकी कोई बात शानदार नहीं होती थी, सिवा इसके कि जो काम उन्होंने उठाया था, वह अवश्य ही बहुत बड़ा और शानदार था। उन्होंने कुशन साम्राज्य के सिक्कों और उनके ढंग की उपेक्षा की और फिर से पुराने हिंदू ढंग के सिक्के बनाने आरंभ किए। उन्होंने गुप्तों की सी शान-शौकत नहीं बढ़ाई। शिव की तरह उन्होंने भी जान-बूझकर अपने लिये दरिद्रता अंगीकार की थी। उन्होंने हिंदू प्रजातंत्रों को स्वतंत्र किया और उन्हें इस

योग्य कर दिया कि वे अपने यहाँ के लिये जैसे सिक्के चाहें, वैसे सिक्के बनावें और जिस प्रकार चाहें, जीवन निर्वाह करें। जिस प्रकार शिवजी के पास बहुत से गण रहा करते थे, उसी प्रकार इन भार-शिवों के चारों ओर भी हिंदू राज्यों के अनेक गण रहा करते थे। वस्तुतः वही लोग शिव के बनाए हुए नंदी या गणों के प्रमुख थे। वे केवल राज्यों के संघ के नेता या प्रमुख थे और सब जगह स्वतंत्रता का ही प्रचार तथा रक्षा करते थे। वे लोग अश्वमेध यज्ञ तो करते थे, पर एकराट् सम्राट् नहीं बन बैठते थे। वे अपने देशवासियों के मध्य में सदा राजनीतिक शैव बने रहे और सार्व-राष्ट्रीय दृष्टि से साधु और त्यागी बने रहे।

§ ४१. शिव का उपासक एक संकेत या चिन्ह का उपासक हुआ करता है और बिंदु की उपासना या आराधना करता है। ये शिव के उपासक अवश्य ही बौद्ध मूर्त्तिपूजकों को उपासना की दृष्टि से निम्न कोटि के उपासक समझते रहे होंगे[1]। भार-शिव लोग चाहे बौद्धों को इस प्रकार निम्न कोटि का समझते रहे हों और चाहे न समझते रहे हों, परंतु इतना तो हम अवश्य ही निश्चयपूर्वक कह सकते हैं कि नाग देश में कम से कम इस विचार से तो बौद्ध धर्म का अवश्य ही पतन या ह्रास हुआ होगा कि उसने राष्ट्रीय सभ्यता के शत्रुओं के साथ राजनीतिक मेल रखा था। उन दिनों बौद्ध धर्म मानों एक अत्याचारी वर्ग

---

१. नाग-वाकाटक काल में लंका के बौद्ध लोग भगवान् बुद्ध का दाँत आंध्र से उठाकर लंका ले गए थे (§ १७५)। इससे सूचित होता है कि उन दिनों भारत में बौद्ध उपासना का आदर नहीं रह गया था (मिलाओ § १२६)।

का पोष्य पुत्र बना हुआ था; और जब उस वर्ग के अत्याचारों का निर्मूलन हुआ, तब उसके साथ साथ उस धर्म का भी अवश्य ही पतन हुआ होगा। आरंभिक गुप्तों के समय में बौद्ध धर्म का जो इतना अधिक पतन या ह्रास हुआ था, उसका कारण यही है। भार-शिव राजाओं के समय में उसका यह पतन या ह्रास और भी अधिक बढ़ गया था। बौद्ध धर्म उस समय राष्ट्रीयता के उच्च तल से पतित हो चुका था और उसने अ-हिंदू स्वरूप धारण कर लिया था। उसका रूप ऐसा हो गया था जो हिंदुत्व के क्षेत्र से बाहर था; और इसका कारण यही था कि उसने कुशनों के साथ संबंध स्थापित कर लिया था। कुशनों के हाथ में पड़कर बौद्ध धर्म ने अपनी आध्यात्मिक स्वतंत्रता नष्ट कर दी थी और वह एक राजनीतिक साधन बन गया था। जैसा कि राजतरंगिणी से सूचित होता है, कुशनों के समय में काश्मीर में बौद्ध भिक्षु समाज में उपद्रव और खराबी करनेवाले अत्याचारी और भार-स्वरूप समझे जाते थे। आर्यावर्त्त में भी लोग उन भिक्षुओं को ऐसा ही समझते रहे होंगे। समाज को फिर से ठीक दशा में लाने के लिये शैव साधुता या विरक्ति एक आवश्यक प्रतिकार बन गई थी। शकों ने हिंदू जनता को निर्बल कर दिया था और उस निर्बलता को दूर करने के लिये शैव साधुता एक आवश्यक वस्तु थी। कुशनों के लोलुपतापूर्ण साम्राज्य-वाद का नाश कर दिया गया और हिंदू जनता में नैतिक दृष्टि से जो दोष आ गए थे, उनका निवारण किया गया। और जब यह काम पूरा हो चुका, तब भार-शिव लोग क्षेत्र से हट गए। शिव का उद्देश्य पूरा हो चुका था, इसलिए भार-शिव लोग आध्यात्मिक कल्याण और विजय के लिये फिर शिव की भक्ति में लीन हो गए। अंत तक उन पर कोई विजय प्राप्त नहीं कर

सका था और न कभी उन्होंने अपने आचरणों को भौतिक स्वार्थ से कलंकित ही किया था। वे शंकर भगवान् और उनके भक्तों के सच्चे सेवक थे और इसीलिये वे अपना सेवा-कार्य समाप्त करके इतिहास के क्षेत्र से हट गए थे। इस प्रकार का संमानपूर्ण और शुभ अंत क्वचित् ही होता है और भार शिव लोग ऐसे अंत के पूर्ण रूप से पात्र थे। भार-शिवों ने आर्यावर्त्त में फिर से हिंदू राज्य की स्थापना की थी। उन्होंने हिंदू साम्राज्य का सिंहासन फिर से स्थापित कर दिया था, राष्ट्रीय सभ्यता की भी प्रस्थापना कर दी थी और अपने देश में एक नवीन जीवन का संचार कर दिया था। प्रायः चार सौ वर्षों के बाद उन्होंने फिर से अश्वमेध यज्ञ कराए थे। उन्होंने भगवान् शिव की नदी माता गंगा की पवित्रता फिर से स्थापित की थी और उसके उद्गम से लेकर संगम तक उसे पापों और अपराधों से मुक्त कर दिया था और इस योग्य बना दिया था कि वाकाटक और गुप्त लोग अपने मंदिरों के द्वारों पर उसे पवित्रता का चिह्न समझकर उसकी मूर्त्तियाँ स्थापित करते थे[१]। उन्होंने ये सभी काम

---

१. गंगा की प्राचीनतम पत्थर की मूर्त्ति जानखट नामक स्थान में है (देखो इस ग्रंथ का दूसरा प्लेट)। इनके बाद की मूर्त्ति यमुना की मूर्त्ति के साथ भूमरा में है, और इसके बाद की मूर्त्तियाँ देवगढ़ में मिलती हैं जिनका वर्णन कनिंघम ने *A. S. R.* खंड १०, पृ० १०४ में पाँचवें मंदिर के अंतर्गत किया है। इन मूर्त्तियों के सिर पर पाँच फनवाले नाग की छाया है। ये मूर्त्तियाँ ठीक उसी प्रकार पाखों के नीचेवाले भाग में हैं, जिस प्रकार समुद्रगुप्त के एरनवाले विष्णु मंदिर में है। देवगढ़ में का नाग-छत्र अनुपम है और उसके जोड़ का नाग-छत्र

कर डाले थे, पर फिर भी अपना कोई स्मारक पीछे नहीं छोड़ा था। वे केवल अपनी कृतियाँ छोड़ गए और स्वयं अपने आपको उन्होंने मिटा दिया।

§ ४७. दस अश्वमेध यज्ञ करनेवाले नागों ने—यदि आजकल शब्दों में कहा जाय तो नाग सम्राटों ने—उन प्रजातंत्रों का रक्षण और वर्धन किया था जो समस्त पूर्वी और पश्चिमी मालव में और संभवतः गुजरात, आभीर. सारे राजपूताने, यौधेय और मालव और कदाचित् पूर्वी पंजाब के एक अंश मद्र में फैले हुए थे; और ये समस्त प्रदेश गंगा की तराई के पश्चिम में एक ही संबद्ध और विस्तृत क्षेत्र में थे। इसके उपरांत वाकाटकों के समय में जब समुद्रगुप्त ने रंगमंच में प्रवेश किया था, तब ये सब प्रजातंत्र अवश्य ही स्वतंत्र थे। जान पड़ता है कि मालव प्रजातंत्रों की स्थापना ऐसे लोगों और वर्गों ने की थी जो नागों के सगे संबंधी ही थे। जैसा कि एरन के प्रजातंत्री सिक्कों से सूचित होता है, विदिशा के आस-पास के निवासी बहुत आरंभिक काल से ही नागों के उपासक थे। स्वयं एरन या ऐरिकिण नगर का नाम ही

नाग और मालव

और कहीं नहीं मिलता। पौराणिक दृष्टि से गंगा और यमुना के साथ नाग का कोई संबंध नहीं है। नदी संबंधी भावना का संबंध भार-शिवों के समय से है। देखो (§ ३०), और इस मूर्त्ति के साथ जो नाग रखा गया है, उससे हमारे इस विचार का प्रबल समर्थन होता है। नाग गंगा और नाग यमुना उस नाग सीमा की दोनों नदियों की सूचक हैं जिसे उन लोगों ने स्वतंत्र किया था। नदी संबंधी भावनाओं का जान-बूझकर जो राजनीतिक महत्त्व रखा गया था उसके संबंध में मिलाओ § ८६।

ऐरक के नाम पर पड़ा है जो नाग था और एरन के सिक्कों पर नाग या सर्प की मूर्ति मिलती है। मालवों ने जयपुर के पास कर्कोट नागर नामक स्थान में अपनी राजधानी बनाई थी और यह नाम नाग कर्कोट के नाम पर रखा गया था। यह स्थान आज-कल उनियारा के राजा के राज्य में है जो जयपुर के महाराज का एक करद राज्य है और टाँक से २५ मील पूर्व दक्षिण में स्थित है। राजधानी के नाम कर्कोट नागर में जो नागर शब्द है, स्वयं उसका संबंध भी नाग शब्द के साथ है। यहाँ ध्यान में रखने योग्य महत्त्व की एक बात यह भी है कि नाग राजाओं और प्रजातंत्री मालवों की सभ्यता एक ही थी और संभवतः वे लोग एक ही जाति के थे। राजशेखर कहता है कि टक्क लोग और मरु के निवासी अप-भ्रंश के मुहावरों का प्रयोग करते थे। जैसा कि हम अभी बतला चुके हैं, पद्मावती के गणपति नाग का परिवार टाक वंशी था, जिसका अभिप्राय यह है कि वह परिवार टक्क देश से आया था। इससे हमें पता चलता है कि मालव और नाग लोग एक ही बोली बोलते थे। जान पड़ता है कि जब प्रजातंत्री मालव लोग आरंभ में पंजाब से चले थे, तब टक्क नाग भी उन लोगों के साथ ही वहाँ से चले थे। साथ ही यह भी पता चलता है कि स्वयं नाग लोग भी मूलतः प्रजातंत्री वर्ग के ही थे - पंचकर्पट के ही थे (देखो § ३१)—और वे वस्तुतः पंजाब के रहनेवाले थे जो पीछे से मालवा में आकर बस गए थे।

§ ४३. नाग सम्राट् उस आंदोलन के नेता बन गए थे जो कुशनों के शासन से स्वतंत्रता प्राप्त करने के लिये उठा था। नाग काल में मालवों, यौधियों और कुणिंदों (मद्रकों) ने फिर से अपने अपने सिक्के बनाने आरंभ कर दिए थे। यदि इस

दूसरे प्रजातंत्र

विषय में अधिक सूक्ष्म विचार किया जाय तो बहुत संभव है कि यह पता चल जाय कि उनके इन सिक्कों का नाग सिक्कों के साथ संबंध था; और यह भी पता चल जाय कि उन पर के चिह्न या अंक एक ही प्रकार के थे अथवा वे सब नागों के अधीन थे[1]। मालव प्रजातंत्री सिक्कों का पद्मावती के सिक्कों के साथ जो संबंध है, उसका पता पहले ही चल चुका है और सब लोगों के ध्यान में आ चुका है। डा० विंसेंट स्मिथ कहते हैं कि उन नाग सिक्कों का परवर्त्ती मालव सिक्कों के साथ घनिष्ठ संबंध है[2]। कुछ अंतर के उपरांत मालव सिक्के फिर ठीक उसी समय बनने लगे थे, अर्थात लगभग दूसरी शताब्दी ईसवी में बनने लगे थे जिस समय पद्मावती के नाग सिक्के बने थे[3]। यौधेय सिक्के भी फिर से ईसवी दूसरी शताब्दी में ही बनने आरंभ हुए थे[4] और कुणिंद सिक्कों का बनना तीसरी शताब्दी में आरंभ हुआ था[5]; और जान पड़ता है कि इसका कारण यही है कि कुणिंद लोग सबके अंत में स्वतंत्र हुए थे। यही बात दूसरे शब्दों में इस प्रकार कही जा सकती है कि

---

१. भार-शिवों के सिक्कों में वृक्ष का जो अद्भुत चिह्न मिलता है और उस वृक्ष के आस-पास जो और चिह्न बने रहते है (देखो § २६ क-२३) वे उस समय के और भी अनेक प्रजातंत्री सिक्कों पर पाए जाते हैं।

२. C. I. M. पृ० १६४।

३. रैप्सन I. C. पृ० १२, १३ मिलाओ C. I. M. पृ० १७६-७७।

४. C. I. M. पृ० १६५।

५. रैप्सन I. C. पृ० १२।

कि यौधेयों और मालवों का पुनरुत्थान नागों के साथ ही साथ हुआ था।

§ ४४. कुशन शक्ति को खास धक्का नाग सम्राटों के हाथों लगा था। पर साथ ही यह बात भी प्रायः निश्चित सी है कि इन बड़े बड़े प्रजातंत्रों का एक संघ सा था; और इसलिये नागों को अपने इन युद्धों में इन प्रजातंत्री समाजों से

नाग साम्राज्य, उसका स्वरूप और विस्तार

भी अवश्य ही सहायता मिली होगी। हम कह सकते हैं कि नाग साम्राज्य एक प्रजातंत्री साम्राज्य था। जान पड़ता है कि मगध में कोट राजवंश का उत्थान भी इन्हीं नागों की अधीनता में हुआ था (देखो तीसरा भाग)। गुप्त राजवंश की जड़ भी नाग काल में ही जमी थी और पुराणों में इस बात का स्पष्ट रूप से उल्लेख है। (देखो तीसरा भाग § ११०)। यहाँ यह बात भी ध्यान में रखनी चाहिए कि नाग लोग भी उत्तर से ही चलकर आए थे और पूर्व में आकर बस गए थे (देखो तीसरा भाग § ११२)। मगध के कोट और प्रयाग के गुप्त भी संभवतः नाग साम्राज्य के अधीनस्थ और अंतर्गत ही थे। वायु और ब्रह्मांड पुराण में इस बात का उल्लेख है कि बिहार में नव नागों की राजधानी चंपावती में थी। नागों ने अपने राज्य का विस्तार मध्य प्रदेश तक कर लिया था; और इस बात का प्रमाण परवर्त्ती वाकाटक इतिहास से और नागवर्द्धन नंदिवर्द्धनतथा नागपुर आदि स्थान-नामों से मिलता है। विंध्य पर्वतों के ठीक मध्य में पुरिका में भी उनकी एक राजधानी थी और वही मानों मालवा जाने के लिये प्रवेश-द्वारा था। हम यह मान सकते हैं कि मोटे हिसाब से बिहार, आगरे और अवध के संयुक्त प्रदेश, बुंदेलखंड, मध्य प्रदेश, मालवा, राजपूताना और पूर्वी पंजाब

का मद्र प्रजातंत्र सभी भार-शिवों के साम्राज्य के अंतर्गत थे। कुशनों ने भार-शिव काल के ठीक मध्य में—अर्थात् सन् २२६-२४१ ई० में—अर्दशिर की अधीनता स्वीकृत की थी और सन् २३८ से २६९ ई० के बीच में उन्होंने अपने सिक्कों पर शापुर की मूर्त्ति को स्थान दिया था। यह भार-शिवों के दबाव का ही परिणाम था। इस प्रकार भार-शिवों के दस अश्वमेध कोरे यज्ञ ही नहीं थे।

§ ४५. अश्वमेध किसी राजवंश के पुनरुत्थान, राजनीतिक पुनरुत्थान और सनातनी संस्कृति के पुनरुद्धार के सूचक होते हैं।

नागर स्थापत्य

परंतु इन अश्वमेधों के अतिरिक्त इस बात का एक और स्वतंत्र प्रमाण भी मिलता है कि उस समय सनातनी संस्कृति का पुनरुद्धार और नवीन युग का आरंभ हुआ था। नागर शब्द—जैसा कि कर्कोट नागर आदि शब्दों में पाया जाता है—निस्संदेह रूप से नाग शब्द के साथ संबद्ध है और उस शब्द का देशी भाषा का रूप है जो यह सूचित करता है कि इस शब्द की व्युत्पत्ति नाग शब्द से है, और ठीक उसी प्रकार है जिस प्रकार नगरधन शब्द=नागरवर्द्धन (§ ३२) में है। स्थापत्य शास्त्र का एक पारिभाषिक शब्द है नागर शैली, और इसकी व्याख्या केवल इस बात को आधार मानकर नहीं की जा सकती कि इसका संबंध नगर (शहर) शब्द के साथ है। मत्स्य पुराण में—जिसमें सन् २४३ ई० तक की अर्थात् गुप्त काल की समाप्ति से पहले की ही राजनीतिक घटनाओं का उल्लेख है—यह शैली-नाम नहीं मिलता। पर हाँ, मानसार नामक ग्रंथ में यह शैली-नाम अवश्य आया है और वह ग्रंथ गुप्त काल में अथवा उसके बाद बना था। नागर शैली से जिस शैली का अभिप्राय है, जान पड़ता है कि उस शैली का

प्रचार नाग राजाओं ने किया था ; इस संबंध मे हमें यह भी याद रखना चाहिए कि इस रूप में नागर शब्द का प्रयोग और स्थानों में भी हुआ है। गंगा की तराई बुलंदशहर में रहनेवाले ब्राह्मण नागर ब्राह्मण कहलाते हैं[१] जो मुसलमानों के समय में मुसलमान हो गए थे; और अहिच्छत्र के पास रहनेवाले जाट लोग नागर जाट कहलाते हैं[२]। इनमें से उक्त ब्राह्मण लोग नागों के पुरोहित थे; और इस नागर शब्द में जो 'र' लगा हुआ है, वह नागों के साथ उनका संबंध सूचित करता है। स्थापत्य शास्त्र में इसी नागर शैली की तरह देशी भाषा में एक और शैली कहलाती है जिसका नाम वेसर शैली है; और नागर शैली से उसमें अंतर यह है कि उसमें नागर की अपेक्षा फूल-पत्ते और बेल-बूटे आदि अधिक होते हैं। संस्कृत शब्द वेष है जिसका अर्थ है—पहनावा या सजावट। और प्राकृत में इसका रूप वेस अथवा बेस हो गया है और उसका अर्थ है—फूल-पत्तों या बेल-बूटों से युक्त

---

१. एफ० एस० ग्राउस ने J. B. A. S. १८७९, पृ० २७१ में लिखा है—"नगर के मुख्य निवासी नागर ब्राह्मणों की संतान हैं जो औरंगजेब के समय से मुसलमान हो गए हैं और जिनकी यह धारणा है कि हमारे पूर्वज जनमेजय के पुरोहित थे और उन्होंने जनमेजय का यज्ञ कराया था और इसी के पुरस्कार स्वरूप उन्हें इस नगर और इसके आसपास के गाँवों का पट्टा मिला था।"

२. रोज (Rose) कृत Glossary of the Tribes & Castes of the Punjab & the N. W. F. Provinces १९१९, खंड १, पृ० ४८।

(देखो शिल्प रत्न १६, ५० वेसरम् बेष्य उच्यते[१])। नागर और वेसर दोनों ही शब्दों में मूल शब्द नाग और वेष में देशी भाषा के नियमानुसार उसी प्रकार र अक्षर जोड़ दिया गया है जिस प्रकार ग्रंथ (गाँठ) शब्द से बने हुए गट्ठर शब्द में जुड़ा है। इसी प्रकार नागर में मूल शब्द नाग है। धार्मिक भवनों या मंदिरों आदि की वह शैली वेसर कहलाती है जिसमें ऊपरी या बनावटी सजावट और बेल-बूटे आदि बहुत होते हैं। इसके विपरीत नागर वह सीधी-सादी शैली है जो हमें गुप्तों के बनवाए हुए चौकोर मंदिरों, नचना नामक स्थान के पार्वती के वाकाटक मंदिर और भूमरा (भूभरा, देखो परिशिष्ट क) के भार-शिव मंदिर में मिलती है। वह एक कमरे या कोठरीवाला गृह (निवास-स्थान) था (मत्स्यपुराण २५२, ५१, २५३. २)।

यद्यपि नागों की पुरानी इमारतों की अभी तक अच्छी तरह जाँच-पड़ताल नहीं की गई है, तो भी हम जानते हैं कि मालव प्रजातंत्र की राजधानी कर्कोट नागर में असली वेसर शैली की इमारतें भी थीं। कारलेले ने A. S. R. खंड ६, पृ० १८६ में उस मंदिर का वर्णन किया है जिसकी उसने खुदाई की थी और उसे अद्भुत आकृतिवाला बतलाया है। वह लिखता है—

"इस छोटे से मंदिर में यह विशेषता है कि बाहर से देखने में प्रायः बिलकुल गोल है अथवा अनेक पार्श्वों से युक्त गोलाकार है, और इसके ऊपर किसी समय संभवतः एक शिखर रहा होगा

---

१. मिलाओ हाथीगुफावाले शिलालेख E. I. २०, पृ० ८०, पंक्ति १३ का विशिक शब्द जो राज या इमारत बनानेवाले के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। हिंदी में (वेसर) एक गहने का नाम है जो नाक में पहना जाता है।
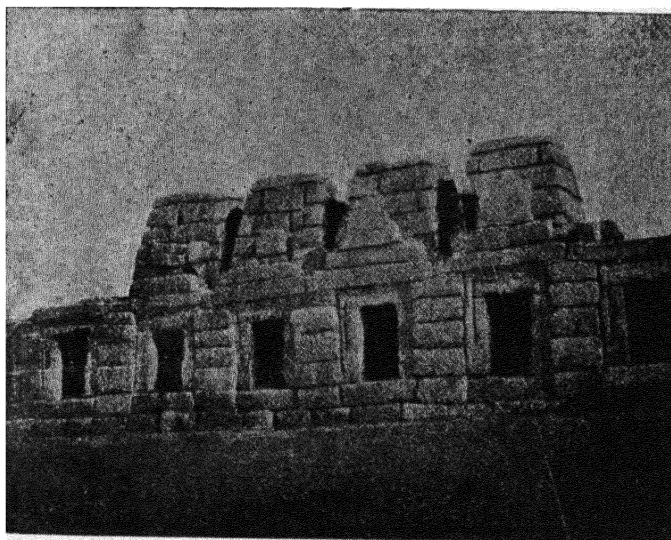
खजुराहो में चौंसठ जोगिनी का मन्दिर

पृ० १०५

और अंदर पत्थरों के ढोंकों की चुनी हुई एक चौकोर कोठरी रही होगी; क्योंकि इस बात का कोई चिह्न नहीं मिलता कि इसमें कोई खंभेदार सभा-मंडप, ड्योढ़ी या कोई गर्भगृह रहा होगा।"

इस काल में एक शिखर-शैली भी मिलती है। इसमें नागर ढंग की चौकोर इमारत पर चोपहला शिखर होता है[१]। इस शैली का एक बहुत छोटा मंदिर मुझे सूरजमऊ में मिला है। इस मंदिर में पहले शिव-लिंग प्रतिष्ठित था, पर अब वह लिंग बाहर है और यह मंदिर नाग बाबा का मंदिर कहलाता है। कर्कोट नागर में शिखरोंवाले जो छोटे छोटे मंदिर मिले हैं; वे सब किसी एक ही ढंग के नहीं हैं। सूरजमऊ में मैंने जो मंदिर ढूँढ़ निकाला था, उसका नीचेवाला चौकोर भाग गुप्त शैली का था; और ऊपरी या शिखरवाले अंश को देखने से जान पड़ता है कि उसमें एक पर एक कई दरजे थे और पर्वत के शिखर के ढंग पर बने थे। खजुराहो में चौंसठ योगिनियों के जो मंदिर हैं, वे सब भी इसी ढंग के हैं। कनिंघम ने चौंसठ योगिनियों के मंदिरों का समय राजा ढंग के प्रपिता से पहले का अर्थात् लगभग सन् ८०० ई० का निर्धारित किया है (A. S. R. २१, ५७) और उसका यह निर्धारण बहुत ठीक है। यदि सूरजमऊवाले नाग बाबा के मंदिर[२] और चौंसठ योगिनियों के

---

१. नागर ढाँचे के संबंध या नकशे के संबंध में मिलाओ गोपीनाथ रावकृत Iconography २, १, पृ० ९९। नागरं चतुरस्रं स्यात्। देखो शिल्परत्न १६, ५८।

२. देखो माडर्न रिव्यू (Modern Review) अगस्त १९३२ सूरजमऊ कसबा मध्यभारत में छतरपुर के पास है।

मंदिरों[1] को देखा जाय तो तुरंत ही पता चल जाता है कि नाग बाबा वाला मंदिर बहुत पुराना है। कनिंघम को तिगोवा में इस प्रकार के छोटे-छोटे ३४ मंदिरों की नीवें मिली थीं[2] और ये सब मंदिर पूर्व की ओर तो खुले हुए थे और बाकी तीनों ओर से बंद थे, अर्थात् ये सबके सब बिलकुल सूरजवाले मंदिर की तरह थे लंबाई-चौड़ाई में भी उसके बराबर ही थे। वहाँ की मूर्त्तियों के संबंध में कनिघम का मत था कि वे गुप्तकाल की बनी हुई हैं और इन मंदिरों का समय भी उसने यही निर्धारित किया था। स्मिथ ने अपने History of India नामक ग्रंथ के प्रकाशन के उपरांत तिगोवावाले मंदिरों के भग्नावशेष के पूर्व-निर्धारित समय में कुछ परिवर्त्तन या सुधार किया था और कहा था कि ये वाकाटक काल के अर्थात् समुद्रगुप्त के समय के हैं[3]। मुझे वहाँ शिखरों के बहुत से चौकोर टुकड़े मिले थे। कर्कोट नागरवाले छोटे छोटे शिखर-मुक्त मंदिर भी कम से कम सन् ३५० ई० के लगभग के होंगे; और इसी समय के उपरांत से मालवों का फिर कुछ पता नहीं चलता और इस उजड़े हुए नगर में उस समय के पीछे का कोई सिक्का नहीं मिलता। ये छोटे मंदिर, जिनके भग्नावशेष कर्कोट नगर और तिगोवा में मिले हैं, ऐसे हिंदू मंदिर हैं जो

---

१. मुझे अभी तक कहीं इनके चित्र नहीं मिले हैं। देखो प्लेट ७ क।

२. A, S. R. ६; ४१-४४।

३. J. R. A. S. १६४, पृ० ३३२४। मैं इससे सहमत हूँ। इसमें का बारीक काम वैसा ही है जैसा नचना में है। स्थान का नाम तिगवाँ है।

मन्नत पूरी होने पर बनवाए गए थे और ठीक उसी तरह के हैं; जिस तरह के स्तूप कुशनकाल में मन्नत पूरी होने पर बनवाए जाते थे। इस प्रकार स्थापत्य की दृष्टि से भी ये मंदिर कुशन-काल के ठीक बाद ही बने होंगे। मन्नत पूरी होने पर जो शिखर-वाले मंदिर बनवाए जाते थे, उनकी अपेक्षा साधारण रूप से बनवाए हुए मंदिर अवश्य ही बहुत बड़े होते होंगे। शिखर बहुत पुराने समय से बनते चले आते थे। हाथी-गुंफावाले शिलालेख (लगभग १६० ई० पू०) में भी शिखरों का उल्लेख है जहाँ कहा गया है—"ऐसे सुंदर शिखर जिनके अंदर नक्काशी का काम किया है।" यह भी उल्लेख है कि वे शिखर बनाने-वालों को, जिनकी संख्या एक सौ थी, सम्राट खारवेल की ओर से भूमि-संबंधी दानपत्र मिले थे (एपिग्राफिया इंडिका, २०, पृ० ८०, पंक्ति १३)। नागर शिखर एक विशेष प्रकार का और संभवतः बिलकुल नए ढंग का होता था, जिसका बनना नागों के समय अर्थात् भार-शिव राजवंश के शासन-काल में आरंभ हुआ था; और उन्हीं के नाम पर उस शैली को स्थायी और बहुत दूर तक प्रचलित 'नागर' नाम प्राप्त हुआ था। वाकाटक काल में, जो नाग काल के उपरांत हुआ था, हमें नागर शिखर का नमूना नचना के चतुर्मुख शिववाले मंदिर के रूप में मिलता है। वहाँ पार्वती का जो मंदिर है, वह पर्वत के अनुरूप बना था और उसमें वन्य पशुओं से युक्त गुफाएँ भी बनी थीं। परंतु शिव के मंदिर में केवल शिखर (कैलास) ही है। ये दोनों मंदिर एक ही समय में बने थे और दोनों शैलियाँ भी एक ही काल में प्रचलित थीं। इन दोनों का वही समय निश्चित किया गया है जो गुप्त मूर्त्तियों का समय कहलाता है. और इसका अभिप्राय यह है कि वे मंदिर गुप्तों के बाद के तो नहीं हैं,

परंतु फिर भी वे गुप्तीय नहीं हैं।[1] उन पर की मूर्त्तियाँ और बेल-बूटे बनानेवाले कारीगर एक ही थे। चतुर्मुख शिव के मंदिर का शिखर बहुत ऊँचा है और उसके पार्श्व कुछ गोलाई लिए हैं और उसकी ऊँचाई लगभग ४० फुट है। वह एक ऊँचे चबूतरे पर बना है। उसमें खंभे या सभा-मंडप नहीं हैं (देखो परिशिष्ट क)।

भूमरा मंदिर

§ ४६ क. भूमरा-मंदिर का पता स्व० श्री राखालदास बनर्जी ने लगाया था। यह मंदिर उन्हें पश्चिमी बघेलखंड की नागौद रियासत के उन्चहरा—गुप्त वाकाटक-काल के शिलालेखों का उच्छ-कल्प—नामक स्थान में मिला था और उन्होंने इसका समय ईसवी पाँचवीं शताब्दी निश्चित किया है।[2] यह

---

१. इस चतुर्मुख मंदिर के संबंध में विद्वानों ने बहुत सी अटकल-पच्चू बातें कही हैं। वे कहते हैं कि चतुर्मुख का शिखरवाला मंदिर संभवतः बाद का बना हुआ है। परंतु वे लोग यह बात भूल जाते हैं कि ये दोनों मंदिर एक ही योजना के अंग हैं और दोनों की मूर्त्तियाँ एक ही छेनी की बनी हैं। दोनों ही मंदिर अपने मूल रूप में और पहले मसाले से बने हुए वर्त्तमान हैं। वे एक ही योजना के अंग हैं। एक में पर्वतों में रहनेवाली पार्वती है और उसकी दीवारें पर्वतों के अनुरूप बनी हैं; और दूसरे में कैलास के सूचक शिखर के नीचे चतुर्मुख लिंग है। ये मंदिर बिलकुल एकांत में बने थे और इसीलिये मूर्त्तियाँ और मंदिरों को तोड़नेवालों के हाथों से बच गए। देखो अंत में परिशिष्ट।

२. Archaeological Memoir सं० १६, पृ० ३, ७। इसमें भग्नावशेष के चित्र भी हैं; और उस भग्नावशेष में की कुछ वस्तुएँ अब

मंदिर अवश्य ही भार-शिवों का बनवाया हुआ है। यह शैव मंदिर है। नचना के चतुर्मुख शिव की तरह का एक लिंग इस मंदिर में स्थापित किया गया था और इस मंदिर की शैली का अनुकरण समुद्रगुप्त के समय एरन में किया गया था। इस मंदिर में ताड़ की जो विलक्षण आकृतियाँ हैं, वही नागों की परंपरागत बातों के साथ इसका संबंध स्थापित करती हैं। ताड़ नागों का चिह्न था और यह ताड़ पद्मावती में भी मिला है जो नागों की राजधानियों में से एक थी। भूमरा में तो हमें पूरे खंभे ही ऐसे मिलते हैं जो ताड़ के वृक्षों के रूप में गढ़े गए थे (देखो प्लेट ४), और खंभों का यह एक ऐसा रूप है जो और कहीं नहीं मिलता। हम तो इसे नाग (भार-शिव) कल्पना ही कहेंगे। सजावट के लिये ताड़ के पत्ते (पंखे) के कटावों का उपयोग किया गया है। उसमें मनुष्यों की जो मूर्त्तियाँ हैं, वे भी बहुत सुंदर और आदर्श रूप हैं। वे मूर्त्तियाँ बहुत ही जानदार हैं और उनके सभी अंगों से सजीवता टपकती है। न तो कहीं कोई ऐसी बात है जो बिलकुल आरंभिक अवस्था की सूचक हो और न कोई ऐसा चिह्न है जो पतन काल का बोधक हो। वे बिलकुल खास ढंग की बनी हैं, उनके बनाने में विशिष्ट कल्पना से काम लिया गया है और वे विशेष रूप से गढ़ी गई हैं। ये सब मूर्त्तियाँ उसी तरह की हैं जिस तरह की हमें मथुरा में प्रायः मिलती हैं। यहाँ हमें वह असली और पुरानी हिंदू कला मिलती है जो सीधी भरहुत की कला से निकली थी, और भरहुत वहाँ से कुछ ही मीलों पर है। भरहुत यों तो भूमरा से पहले का है, पर भरहुत को देखने से यह पता चलता है कि

कलकत्ते के इंडियन म्यूजियम या अजायबखाने में चली गई हैं। इसके समय के लिये देखो अंत में परिशिष्ट क।

वह पहले की एक और प्रकार की हिंदू कला के पतन-काल का बना है। अब तक यह पता नहीं चलता था कि भारत की राष्ट्रीय सनातनी कला के साथ उदयगिरि-देवगढ़वाली गुप्तीय कला का क्या संबंध है; पर भूमरा के मंदिरों को देखने से स्पष्ट पता चल जाता है कि यह उन दिनों की संयोजक शृंखला है। राष्ट्रीय सनातनी कला केवल बघेलखंड और बुंदेलखंड में ही बची हुई दिखाई पड़ती है जहाँ कुशनों का शासन उस कला का यथेष्ट रूप से नाश नहीं कर पाया था। भार-शिव और वाकाटक संस्कृति में बहुत थोड़ा अंतर है, क्योंकि वाकाटक संस्कृत उसी भार-शिव संस्कृत का परंपरागत रूप या शेषांश है; और इसलिये हम कुछ निश्चयपूर्वक यह बात मान सकते हैं कि भार-शिवों के समय में राष्ट्रीय रूपदात्री कला का पुनरुद्धार हुआ था; और इस बात की पुष्टि जानखट के भग्नावशेषों से होती है जिनका पहले से और स्वतंत्र अस्तित्व था। भार-शिवों से पहले जो शिखर बनते थे, वे चौकोर मीनार के रूप में होते थे, जैसा कि पाटलिपुत्र में मिले हुए उस धातु-खंड से सूचित होता है जिस पर बोध गया का चित्र बना है और जिस पर ईसवी पहली या दूसरी शताब्दी का एक लेख अंकित है। साथ ही सन् १५० ईसवी के लगभग की बनी हुई और मथुरा में मिली हुई शिखर-मंदिरों की उन दोनों मूर्तियुक्त प्रकृतियों से भी, जिनकी ओर डा० कुमारस्वामी ने ध्यान आकृष्ट किया है, यही बात सूचित होती है[1]। भार-शिव और वाकाटक शिखर चौकोर मंदिर के ऊपर

---

१ History of Indian & Indonesian Art, प्लेट १६।

चौकोर मीनार के रूप में होते हैं और उस मीनार पर कुछ उभार होता है। कुशनों के उपरांत नए ढंग का यह शिखर अवश्य ही भार-शिव काल में बनना आरंभ हुआ था; और इसी शैली को हम नागर शिखर कह सकते हैं।

§ ४७. गुप्तों के समय में आकर पत्थर के मंदिरों में यह शिखर-शैली पुरानी और परित्यक्त हो जाती है। पर हाँ, गुप्त काल में ईंटों और चूने के जो मंदिर आदि बनते थे, उनमें इस नागर शैली की अवश्य प्रधानता रहती थी[1]। मध्य-कालीन स्थापत्य में स्तंभ और शिखर का चौकोर और गोल बनावट का अर्थात् नागर और वेसर शैलियों का संमिश्रण पाया जाता है और नागर शैली की कुछ प्रधानता रहती है।

§ ४८. चित्र-कला की भी एक नागर शैली थी। देखने में तो उसका भी नाग काल से ही संबंध सूचित होता है, पर अभी तक हम लोग उसे पूरी तरह से पहचान नहीं सकते हैं। और अजंता में अस्तरकारी पर बने हुए जो हमारे पुराने चित्र बने हैं, यदि उनमें किसी समम आगे चलकर इस शैली का कुछ विशिष्ट रूप से स्पष्टीकरण हो जाय और उसका पता चल जाय तो मुझे कुछ भी आश्चर्य न होगा। अजंता सन् २५० ईसवी के लगभग नाग साम्राज्य में सम्मिलित हुआ था।

नागर चित्र-कला

---

१. मिलाओ कोंच नामक स्थान के ईंटों के बने हुए गुप्त मंदिर के संबंध में कनिंघम का लेख A. S. R. १६, प्लेट १७, पृ० ५२।

§ ४९. यह बात निश्चित है कि नागों ने प्राकृत भाषा का तिरस्कार नहीं किया था। अपने सिक्कों पर वे प्राकृत का व्यवहार करते थे। राजशेखर यद्यपि बाद में हुआ है, तो भी उसने लिखा है कि टक्क लोग अपभ्रंश-भाषाओं का व्यवहार करते हैं। कुशनों के आने से पहले भी प्राकृत ही राज-भाषा थी और उनके बाद भी वही बनी रही। राजनीतिक क्षेत्र में वे प्रजातंत्रवादी थे और भाषा के संबंध में भी वे प्रजा के बहुमत का ध्यान रखते थे।

भाषा

§ ४९ क. इसी प्रकार यह भी बतलाया जा सकता है कि लिपि का नाम नागरी क्यों पड़ा। मैं समझता हूँ कि लिपि का यह नाम नाग राजवंश के कारण पड़ा है; क्योंकि शीर्ष-रेखा लगाकर अक्षरों को लिखने की प्रथा उन्हीं के समय में चली थी: और इसके अस्तित्व का प्रमाण हमें पृथिवीषेण प्रथम के समय से नचना और गंज के शिलालेखों में मिलता है[1]। वाका-

नागर लिपि

---

१. एपिग्राफिया इंडिका खंड १७, पृ० ३६२ में जो यह एक नई बात कही गई है कि नचना और गंज के शिलालेख पृथिवीषेण द्वितीय के हैं, उससे मैं जोरदार शब्दों में अपना मत-भेद प्रकट करता हूँ। मैंने उनकी लिपियों का बहुत ध्यानपूर्वक मिलान किया है और यह स्थिर करना असंभव है कि वे ईसवी चौथी शताब्दी के बाद के हैं। इन लेखों के काल के संबंध में फ्लीट का जो मत था, वह बिलकुल ठीक था। पृथिवीषेण द्वितीय के प्लेटों से यह बात स्पष्ट रूप से प्रकट होती है कि नचनावाला पृथिवीषेण उससे बहुत पहले हुआ था। (वाकाटक शिलालेखों के संबंध में देखो § ६१ क।)

टक शिलालेखों में अक्षर ऊपर की ओर संदूक-नुमा शीर्ष रेखा से घिरे हुए मिलते हैं, पर सन् ८०० ई० के लगभग नागरी लिपि में वह एक सीधी रेखा के रूप में हो गई थी। जान पड़ता है कि नागरी नाम का प्रयोग उस लिपि के लिये होता था जो ईसवी चौथी शताब्दी में तथा पांचवीं शताब्दी के आरंभ में प्रचलित थी और जिसमें अक्षरों की शीर्षरेखा संदूकनुमा होती थी। यह बात भी विशेष रूप से ध्यान में रखने की है कि इस संदूकनुमा लिपि का सबसे अधिक प्रचार भी ठीक उन्हीं के स्थानों में था, जिन स्थानों में नागों का शासन सबसे प्रबल था, अर्थात् बुंदेलखंड और मध्य प्रदेश में ही इस लिपि का विशेष प्रचार था। मध्य प्रदेश में हमें नाग काल के पहले का एक कुशन शिलालेख भेड़ाघाट में मिलता है जो साधारण ब्राह्मी लिपि में है। इसलिये विलक्षण संदूकनुमा लिपि का प्रचार कुशनों के उपरांत और वाकाटकों के पहले हुआ था। हम निश्चित रूप से और दृढ़तापूर्वक कह सकते हैं कि उसका प्रचार नाग काल में हुआ था।

गंगा और यमुना

§ ५०. गंगा और यमुना की मूर्त्तियां और नाग काल के साथ उनके संबंध का उल्लेख ऊपर हो चुका है। वाकाटक काल में भी इस प्रकार की मूर्त्तियाँ बराबर मिलती हैं (§ ८६); और आगे गुप्त कला में भी उसके उपरांत चंदेल कला में भी इस प्रकार की मूर्त्तियाँ देखने में आती हैं[1]।

---

१. कनिंघम A. S. R. २१, ५६. कनिंघम ने जिस फाटक का उल्लेख किया है, वह आजकल खजुराहो के म्यूजियम या अजायबघर के द्वार पर लगा है।

§ ५१. इसके उपरांत जो दूसरा बड़ा अर्थात् गुप्त काल आया, उसमें हमें सामाजिक बातों में सहसा एक परिवर्त्तन दिखाई देता है। गुप्त शिलालेखों में हमें यह लिखा मिलता है कि गौ और साँड़ पवित्र हैं और इनकी हत्या नहीं होनी चाहिए। इस प्रकार की धारणा का आरंभ संभवतः नाग काल में हुआ था। कुशन लोग गौओं और साँड़ों की हत्या करते थे[२]। पर भार-शिवों के लिये साँड़ एक पवित्र चिह्न के रूप में था और यहाँ तक कि वे स्वयं अपने आपको भी नंदी मानते थे। संभवतः उनके कारण उनके सारे साम्राज्य में साँड़ पवित्र माना जाने लगा था और यहीं से मानों उनका काल उस पिछले राजनीतिक काल से अलग होता था, जिसमें कुशनों की पाकशाला के लिये आम तौर पर साँड़ मारे जाते थे। गुप्त काल में राजाओं को इस बात का गर्व रहता था कि हम साँड़ों और गौओं के रक्षक हैं; और इस प्रकार वे कुशनों के शासन के मुकाबले में स्वयं अपने शासन की एक विशेषता दिखलाते थे। आधुनिक हिंदुत्व की नींव नाग सम्राटों ने रखी थी, वाकाटकों ने उस पर इमारत खड़ी की थी, और गुप्तों ने उसका विस्तार किया था।

गौ की पवित्रता

---

२. देखो आगे गुप्तों के प्रकरण में कुशनों के शासन का विवरण (§ १४६ ख।)

दूसरा भाग

वाकाटक राज्य (सन् २४८–२८४ ई०)

वाकाटक साम्राज्य (सन् २८४–३४८ ई०) और परवर्त्ती वाकाटक काल (सन् ३४८–५५० ई०) के संबंध में एक परिशिष्ट[1]

वाकाटकललामस्य क्रमप्राप्तनृपश्रियः—वाकाटक मोहर।

७. वाकाटक

वाकाटक और उनका महत्त्व

§ ५२. वाकाटक शिलालेखों आदि से नीचे लिखी बातें भली भाँति सिद्ध होती हैं। समुद्रगुप्त की विजयों से प्रायः एक सौ वर्ष पहले वाकाटक नाम का एक राजवंश हुआ था। इस राजवंश का पहला राजा विंध्यशक्ति[2] नाम का एक ब्राह्मण था। इन राजाओं का गोत्र विष्णुवृद्ध था और यह भारद्वाजों का एक उपविभाग है। इस राजवंश का दूसरा

---

१. वाकाटकों का परवर्त्ती इतिहास (सन् ३४८–५५० ई०) इसमें इसलिये सम्मिलित कर लिया गया है कि एक तो उसका सांस्कृतिक दृष्टि से महत्त्व था और दूसरे और कहीं उसका वर्णन भी नहीं हुआ था।

२. जान पड़ता है कि यह उसका असली नाम नहीं था, बल्कि राज्याभिषेक के समय धारण किया हुआ अभिषेक-नाम था, और उस देश के नाम पर रखा गया था जिस देश में उसकी शक्ति का उदय हुआ था।

राजा प्रवरसेन था और उसके उपरांत जितने राजा हुए, उन सबके नामों के अंत में सेन शब्द रहता था। विंध्यशक्ति का पुत्र प्रवरसेन था और आगे इसका उल्लेख प्रवरसेन प्रथम के नाम से होगा। इसने केवल चार अश्वमेध यज्ञ ही नहीं किए थे, बल्कि भारत के सम्राट् की उपाधि भी धारण की थी। इसने इतने अधिक दिनों तक राज्य किया था कि इसका सबसे बड़ा लड़का गौतमीपुत्र सिंहासन पर बैठ ही नहीं सका और इसका पोता रुद्रसेन प्रथम इसका उत्तराधिकारी हुआ। इसका पुत्र गौतमीपुत्र एक ब्राह्मणी के गर्भ से उत्पन्न हुआ था; जैसा कि स्वयं उसके नाम से ही स्पष्ट है। परंतु स्वयं गौतमीपुत्र का विवाह भव नाग नामक एक भार-शिव क्षत्रिय राजा की कन्या के साथ हुआ था। उसकी इसी क्षत्राणी पत्नी के गर्भ से रुद्रसेन का जन्म हुआ था जो प्रवरसेन प्रथम का पोता और भव नाग का नाती था। हमें इसको रुद्रसेन प्रथम कहना पड़ेगा, क्योंकि प्राचीन हिंदू धर्मशास्त्र के अनुसार उसी वंश में यह नाम और भी कई राजाओं का रखा गया था और यह एक ऐसी प्रथा थी जिसका अनुकरण गुप्तों ने भी किया था। रुद्रसेन का पुत्र पृथिवीषेण प्रथम था और उसके समय तक इस राजवंश को अस्तित्व में आए १०० वर्ष हो चुके थे। यथा -

वर्ष-शतम् अभिवर्द्धमान-कोप-दंड-साधन[१]।

अर्थात्—जिसके कोप और दंड-साधन—शासन के साधन—एक सौ वर्ष तक बराबर बढ़ते गए थे;

इस पृथिवीषेण ने—जिसकी राजनीतिक बुद्धिमत्ता, वीरता और उत्तम शासन की बहुत प्रशंसा की गई है—कुंतल के राजा

---

१. चमक, दूदिया और बालाघाट के प्लेट (देखो § ६१ क।)

को अपने अधीन किया था। यह कुंतल देश कर्नाटक देश और कदंब राज्य का एक अंग था और इस कदंब राज्य के संबंध की बातें हम आगे चलकर बतलावेंगे। पृथिवीषेण प्रथम के पुत्र रुद्रसेन द्वितीय का विवाह चंद्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य की कन्या से हुआ था जिसका नाम प्रभावती गुप्त था। इस प्रभावती गुप्त का जन्म सम्राज्ञी कुबेर नागा के गर्भ से हुआ था जो नाग वंश की राजकुमारी थी। जब प्रभावती गुप्त के पति रुद्रसेन द्वितीय की मृत्यु हुई, तब वह अपने अल्पवयस्क पुत्र युवराज दिवाकरसेन की अभिभावक बनकर राज्य का शासन करती थी। जिस समय राजमाता प्रभावती गुप्त ने पूनावाले दानपत्र प्रस्तुत किए थे, उस समय उसके पुत्र दिवाकरसेन की अवस्था तेरह वर्ष की थी। दिवाकरसेन के उपरांत उसका जो दूसरा पुत्र दामोदरसेन-प्रवरसेन गद्दी पर बैठा था, उसके अभिभावक के रूप में भी प्रभावती ने कुछ दिनों तक शासन किया था। इस दामोदरसेन-प्रवरसेन ने भी १६ वर्ष की अवस्था में एक घोषणापत्र निकाला था जो हम लोगों को मिला है[1]। इस दोहरे नाम दामोदरसेन-प्रवरसेन से सिद्ध होता है कि इन राजाओं में दो नाम रखने की प्रथा थी। एक नाम तो राज्याभिषेक से पहले का होता था और दूसरा नाम राज्याभिषेक के समय रखा जाता था, जिसे चंपा (कंबोडिया) के शिलालेख में अभिषेक-नाम कहा गया है[2]। इसी प्रकार गुप्त सम्राट चंद्रगुप्त द्वितीय के भी दो नाम थे—एक देवगुप्त और दूसरा चंद्रगुप्त[3]। दामोदरसेन-प्रवरसेन ने २५ वर्ष की अवस्था में राज्याधिकार

---

१. पूने के दूसरे प्लेट। I. A. ५३, पृ० ४८.

२. डा० आर० सी० मजुमदार कृत Champa (चंपा) नामक अँगरेजी ग्रंथ, पृ० ११७।

३. J. B. O. R. S. खंड १८, पृ० ३८।

अपने हाथ में लिया होगा, क्योंकि शास्त्रों में राज्याभिषेक की यही अवस्था बतलाई गई है[१]। इस प्रकार अपने दो पुत्रों के अल्पवयस्क रहने की दशा में प्रभावती गुप्त ने संभवतः २० वर्षों तक अभिभावक रूप में राज्य किया होगा। न तो कभी प्रभावती गुप्त ने और न वयस्क होने पर उसके पुत्र ने ही गुप्त संवत् का व्यवहार किया था। अतः हम निश्चयपूर्वक यह मान सकते हैं कि उस समय वाकाटकों की ऐसी स्थिति हो गई थी कि चंद्रगुप्त द्वितीय और उसके उत्तराधिकारियों के शासन-काल में वाकाटक राज्यों में गुप्त संवत् का व्यवहार करने की आवश्यकता ही नहीं होती थी। यद्यपि समुद्रगुप्त के उपरांत वाकाटक लोग गुप्तों के साम्राज्य में थे, तो भी वे लोग पूरे स्वतंत्र राजा थे। अजंता के शिलालेखों और बालाघाट के दानपत्रों से यह भी स्पष्ट है कि इन लोगों के निजी करद राजा भी थे और वे स्वयं ही युद्ध तथा संधि करते थे। उन्होंने त्रिकूट, कुंतल और आंध्र आदि देशों के राजाओं पर विजय प्राप्त की थी और उन्हें अपना करद राजा बनाया था। उनका राज्य बुंदेलखंड की पश्चिमी सीमा से, जहाँ से बुंदेलखंड शुरू होता है अर्थात् अजयगढ़ और पन्ना से, आरंभ होता था और समस्त मध्य प्रदेश तथा बरार में उनका राज्य था। त्रिकूट देश पर भी उन्हीं का राज्य था जो उत्तरी कोंकण में स्थित था और वे समुद्र तक मराठा देश के उत्तरी भाग के भी स्वामी थे। वे कुंतल अर्थात् कर्नाटक और आंध्र देश के पड़ोसी थे। वे विंध्य की सारी उपत्यका और विंध्य तथा सतपुड़ा के बीच की तराई पर, जिसमें मैकल पर्वतमाला भी संमिलित थी, प्रत्यक्ष रूप से शासन करते थे। अजंता घाटों से होकर दक्षिण जाने का जो मार्ग था, वह भी उन्हीं के अधिकार में था। उनके साम्राज्य में

---

१. हिंदू-राज्यतंत्र, दूसरा भाग, § २४३।

दक्षिण कोशल, आंध्र, पश्चिमी मालवा और उत्तरी हैदराबाद (§ ७३ पाद-टिप्पणी) संमिलित था। और भार-शिवों से उत्तराधिकार में उन्होंने जो कुछ पाया था, वह इससे अलग था। इस प्रकार उनके प्रत्यक्ष शासन में बहुत बड़ा राज्य था जो समुद्रगुप्त के शासन-काल में कम हो गया था, पर उसके बादवाले शासन-काल में वह सब उन्हें फिर से वापस मिल गया था। बल्कि बहुत कुछ संभावना तो इसी बात की जान पड़ती है कि वह सब अंश उन्हें स्वयं समुद्रगुप्त के शासन-काल में ही वापस मिल गया था, क्योंकि कदंब का जो नया राज्य स्थापित हुआ था, उसके साथ पृथिवीषेण प्रथम ने युद्ध किया था और वहाँ के राजा को अपना अधीनस्थ बना लिया था (§§८२, २०३)।

§ ५३. जब तक पुराणों की सहायता न ली जाय और भार-शिव साम्राज्य के अधीनस्थ भारत का इतिहास न देखा जाय, तब तक उनके इतिहास के अधिकांश का कुछ पता ही नहीं चलता इन्हीं दोनों की सहायता से अब हम यहाँ वाकाटक इतिहास की बातें बतलाते हैं। वास्तव में यह भारत का प्रायः अर्द्ध शताब्दी का इतिहास है जिसे हमें वाकाटक काल कहना पड़ता है। एक तो काल के विचार से इसका महत्त्व बहुत अधिक है और दूसरे इसलिए इसका महत्त्व है कि इससे पारवर्त्ती साम्राज्य-काल अर्थात् गुप्त साम्राज्य के उदय और प्रगति से संबंध रखनेवाली बहुत सी बातों का पता चलता है। सीमा तथा विस्तार की दृष्टि से भी और संस्कृति की दृष्टि से भी गुप्तों ने केवल उसी साम्राज्य पर अधिकार किया था जो प्रवरसेन प्रथम स्थापित कर चुका था। यदि पहले से वाकाटक साम्राज्य न होता तो फिर गुप्त साम्राज्य भी न होता।

§ ५४. प्रवरसेन प्रथम वह पहला राजा था जिसने प्राचीन सनातनी सम्राटों की उपाधि "द्विरश्वमेधयाजिन्" (दो अश्वमेध यज्ञ करनेवाले) का परित्याग किया था। प्रायः पाँच सौ वर्ष पूर्व आर्यावर्त्त के सम्राट् पुष्यमित्र शुंग ने तथा दक्षिणापथ के सम्राट् श्री सातकर्णि प्रथम ने यह उपाधि कई सौ वर्षों के उपरांत फिर से धारण करना आरंभ किया था। सम्राट् प्रवरसेन ने चार अश्वमेध यज्ञ किए थे साथ ही वृहस्पति सव भी किया था जो केवल ब्राह्मण ही कर सकते थे। इसके अतिरिक्त उसने कई वाजपेय तथा दूसरे यज्ञ भी किये थे। भार-शिव लोग सम्राट् की उपाधि नहीं धारण करते थे, परंतु प्रवरसेन ने सम्राट् की उपाधि भी धारण की थी और वह इस उपाधि का पूर्ण रूप से पात्र भी था, क्योंकि उसने दक्षिण पर भी अपना अधिकार जमाया था (§§८२, १७६) और ऐसी सफलता प्राप्त की थी, जैसी मौर्य सम्राटों के उपरांत तब तक और किसी ने प्राप्त नहीं की थी। हमें पता चलता है कि उत्तरी दक्षिणापथ का बहुत बड़ा अंश उसके साम्राज्य के अंतर्गत आ गया था।

§ ५५. यद्यपि यह बात देखने में विलक्षण सी जान पड़ती है, पर फिर भी यह तो संभव है कि भारतीय इतिहास की आधुनिक पाठ्य पुस्तकों में अब तक वाकाटक साम्राज्य के संबंध में एक भी पंक्ति न लिखी गई हो, पर यह संभव नहीं था कि पुराणों में राजाओं और राजवंशों के जो विवरण दिए गए हैं, उनमें विंध्यशक्ति और प्रवरसेन के राजवंश का उल्लेख न हो। चार चार अश्वमेध यज्ञ करना कोई मामूली बात नहीं थी; और न किसी व्यक्ति का सम्राट् की उपाधि धारण करना और अपने आपको मांधाता तथा वसु का सम-कक्ष

पुराण और वाकाटक

बनाना ही कोई सामान्य व्यापार था। जिन पुराणों ने भारत में राज्य करनेवाले विदेशी राजकुलों तक का वर्णन किया है, वे प्रवरसेन और उसके वंश को कभी भूल नहीं सकते थे और वास्तव में बात भी यही है कि वे उन्हें भूले नहीं हैं। तुखार अर्थात् कुशन राजवंश के पतन का उल्लेख करने के उपरांत तुरंत ही उन्होंने विंध्यकों के राजवंश का उल्लेख किया है और उस वंश के मूल पुरुष का नाम उन्होंने विंध्यशक्ति दिया है और उसके पुत्र का नाम प्रवीर बतलाया है। कहा गया है कि यह नाम बहुत प्रसिद्ध और प्रचलित है और इसका शब्दार्थ है—बहुत बड़ा वीर। पुराणों में उसके वाजपेय यज्ञों का भी उल्लेख है; और वायु पुराण के एक संस्करण में, जो वस्तुतः मूल ब्रह्मांड पुराण है[1], वाजपेय शब्द के स्थान में वाजिमेध शब्द मिलता है जिसका अर्थ अश्वमेध ही है और यह शब्द भी बहुवचन में रखा गया है-वाजिमेधैश्च[2]। संस्कृत व्याकरण के अनुसार इस शब्द का अर्थ यह है कि उसने तीन या इससे अधिक अश्वमेध यज्ञ किए थे। उसका शासन-काल ६० वर्ष बतलाया गया है। यद्यपि यह काल बहुत विस्तृत है, तो भी एक तो वाकाटक शिलालेखों से और दूसरे इस बात से इसका समर्थन होता है कि अश्वमेध यज्ञ एक तो बहुत दिनों तक होते रहते हैं और दूसरे बहुत दिनों के अंतर पर

---

१. पारजिटर द्वारा संपादित वायु पुराण का मत डा० हालवाले ब्रह्मांड पुराण के मत से पूरी तरह से मिलता है। आजकल ब्रह्मांड पुराण का जो मुद्रित संस्करण मिलता है, वह संशोधित संस्करण है। ब्रह्मांड पुराण की हस्तलिखित प्रति इतनी दुर्लभ है कि न तो वह मि० पारजिटर को ही मिल सकी और न मुझे ही।

२. पारजिटर कृत Purana Text पृ० ५०, टिप्पणी ३५।

होते हैं; और इसलिये चार अश्वमेध यज्ञ करने में ४०-५० वर्ष अवश्य ही लगे होंगे। तीन बातों से इस सिद्धांत का पूर्ण रूप से समर्थन होता है—(१) बिंध्यशक्ति और प्रवीर के उदय का समय जो पुराणों में गुप्तों से पहले और तुखारों के बाद आता है; (२) इस राजवंश के मूल पुरुष के नाम दोनों स्थानों में एक ही हैं; और (३) वाजिमेधों और प्रवीर के बहुकाल-व्यापी शासन का उल्लेख। और इसके साथ वह पारस्परिक संबंध भी मिला लीजिए जो पुराणों में नाग राजवंश और प्रवरसेन में उसके प्रपौत्र के द्वारा स्थापित किया गया है और जिसका मैंने अभी ऊपर विवेचन किया है इस प्रकार जब ये दोनों एक ही सिद्ध हो जाते हैं, तब हमें पुराणों में वाकाटकों का वह सारा इतिहास मिल जाता है जो स्वयं शिलालेखों में भी पूरा पूरा नहीं मिलता।

वाकाटकों का मूल निवास-स्थान

§ ५६. इस बात में कुछ भी संदेह नहीं है कि वाकाटक लोग ब्राह्मण थे। उन्होंने बृहस्पति सव किए थे जो केवल ब्राह्मणों के लिये ही हैं और ब्राह्मण ही कर सकते हैं। बृहस्पति सव के इस विशिष्ट रूप के संबंध में कभी कोई परिवर्त्तन नहीं हुआ—कभी यह नहीं माना गया कि ब्राह्मणों के अतिरिक्त और लोग भी बृहस्पति सव कर सकते हैं। उनका गोत्र विष्णुवृद्ध भी ब्राह्मणों का ही गोत्र है और जो अब तक महाराष्ट्र प्रदेश के ब्राह्मणों में प्रचलित है[1]। इसके अतिरिक्त विंध्यशक्ति को स्पष्ट रूप से द्विज या ब्राह्मण कहा गया है—द्विजः प्रकाशो भुवि विंध्य-

---

१. इस सूचना के लिये मैं प्रो० डी० आर० भांडारकर का अनुगृहीत हूँ।

शक्तिः[1]। अब इनके मूल निवास-स्थान को लीजिए। पुराणों में इसे विंध्यक या विंध्य देश का राजवंश कहा गया है जिससे यह स्पष्ट सिद्ध हो जाता है कि ये लोग विंध्य प्रदेश के रहने वाले थे; और आगे विचार करने से उनके ठीक निवास-स्थान का भी पता चल जाता है। विंध्यक या वाकाटक लोग किलकिला नदी के तट के या उसके आस-पास के प्रदेश के रहने वाले थे (किलकिलायाम्)। कुछ लोग यही समझते होंगे कि यह वही नदी है जो नक्शों में केन के नाम से दी गई है; पर इसमें कल्पना के लिये कोई स्थान ही नहीं रह जाता, क्योंकि मेरे मित्र (अब स्व०) राय बहादुर हीरालाल ने स्वयं किलकिला देखी है जो पन्ना के पास एक छोटी नदी है और जो अपने स्वास्थ्यनाशक जल के लिये बदनाम है[2]। इस प्रकार हम फिर उसी अजयगढ़ और पन्नावाले प्रदेश में आ पहुँचते हैं जहाँ वाकाटकों के सबसे प्राचीन शिलालेख मिले हैं और यह वही गंज-नचना का प्रांत है। विदिशा के नागों और प्रवीरक का उल्लेख करते समय भागवत पुराण में इन सबको एक ही वर्ग में रखकर "किलकिला के राजा लोग" कहा है। इसका अभिप्राय यही है कि उक्त पुराण पूर्वी मालवा, विदिशा

---

१. A. D. S. R. खंड ४, पृ० १२५ और १२८ की पाद-टिप्पणी, प्लेट ५७।

२. इस नदी का पूरा विवरण मुझे सतना (रीवाँ) के श्रीयुक्त शारदा प्रसाद ने लिख भेजा है जिससे मुझे पता चला कि मैंने इस नाले को दो बार बिना उसका नाम जाने ही, उसकी तलाश में, पार किया था। यह नाला पन्ना से होकर बहता है। नागौद से पन्ना जाते समय इसे पार करना पड़ता है। यह एक सँकरा नाला है। देखो पृ० १४ की पाद-टिप्पणी।

और किलकिला को एक ही प्रदेश मानता है या पूर्वी मालवा को भी किलकिला के ही अंतर्गत रखता है। इस प्रकार सभी संमतियों के अनुसार इस राजवंश का स्थान बुंदेलखंड में ठहरता है।

§ ५७. अब हमें वाकाटक शब्द के इतिहास पर भी कुछ विचार कर लेना चाहिए। वाकाटकानाम् महाराज श्री अमुक-अमुक आदि जो पद मिलते हैं, उनका यह अभिप्राय नहीं है कि अमुक-अमुक नाम के राजा वाकाटक जाति के राजा थे; बल्कि इसका अभिप्राय केवल यही है कि अमुक-अमुक महाराज वाकाटक राजवंश के थे। बहुवचन रूप वाकाटकानाम् का अभिप्राय ठीक उसी प्रकार केवल "वाकाटक राजवंश का" है[1] जिस प्रकार कदंबों के संबंध में कदंबानाम् का और उनके सम-कालीन पल्लवों के संबंध में पल्लवाण[2] (प्राकृत शब्द है जिसका अभिप्राय है पल्लवों का) का अभिप्राय होता है। "भारद्दायो पल्लवाण शिवखंड वमो" में "पल्लवों का" पद बिलकुल स्वतंत्र है[3]। इस प्रकार वाकाटक किसी जाति का सूचक नाम नहीं है, बल्कि वह एक वैयक्तिक वंश-नाम है। वाकाटक शब्द का अर्थ है—वाकाट या वाकाट नामक स्थान का निवासी; जैसा कि समुद्रगुप्त के शिलालेख में महाकांतारक कोशलक और पैष्टापुरक आदि शब्दों से महाकांतार का, कोशल का, और पिष्टापुर का रहने वाला सूचित होता

---

१. I. A. खंड ६, पृ० २६।

२. E. I. खंड १, पृ० ५।

३. पृथिवीषेण द्वितीय के बालाघाट वाले प्लेटों का संपादन करते समय कीलहार्न ने इस बात पर जोर दिया था। E. I. खंड ९, पृ० २६९।

है[1] । वंश-नाम त्रैकूटक ठीक इसी के समान है । मुझे ओड़छा राज्य के सबसे उत्तरी भाग में चिरगाँव से छः मील पूर्व झाँसी के जिले में बागाट नाम का एक पुराना गाँव मिला था । उसके पास ही बिजौर नाम का एक और गाँव है और प्रायः बागाट के साथ उसका भी नाम लिया जाता है । लोग बिजौर-बागाट कहा करते हैं । वह ओड़छा की तहरौली तहसील में है । यह कयना और दुगरई नाम की दो छोटी छोटी नदियों के बीच में है जो आगे जाकर बेतवा में मिलती हैं । यह ब्राह्मणों का एक बड़ा और बहुत पुराना गाँव है और इसमें अधिकतर भागौर ब्राह्मण रहते हैं । लोगों में प्रायः यही माना जाता है कि महाभारत के सुप्रसिद्ध ब्राह्मण वीर द्रोणाचार्य का यह गाँव है । वहाँ दो बड़ी गुफाएँ हैं । लोग मुझसे कहते थे कि वे प्रायः २५ गज चौड़ी और ३० गज लंबी हैं । मैंने यह भी सुना था कि वहाँ बहुत सी मूर्त्तियाँ हैं । उन मूर्त्तियों का जो वर्णन मैंने सुना था, उससे मुझे ऐसा जान पड़ता था कि वे मूर्त्तियाँ गुप्त काल की हैं । आज तक कभी कोई पुरातत्त्ववेत्ता उस स्थान पर नहीं गया है । यदि वहाँ अच्छी तरह खोज और खुदाई आदि की जाय तो वहाँ अनेक शिलालेख तथा मूल्यवान् अवशेष मिल सकते हैं ।

§ ५७ क. जान पड़ता है कि पुराणों के अनुसार जिस ब्राह्मण का पहले-पहल राज्याभिषेक हुआ था, जो इस राजवंश का मूल पुरुष था और जिसने अपना उपयुक्त नाम विंध्यशक्ति रखा था, उसने अपने राजवंश की उपाधि के लिये अपने नगर या गाँव का नाम चुना था । अमरावती में एक यात्री का लेख मिला है जिसमें

---

१. G. I. पृ० २३४ ।

एक सामान्य नागरिक ने ई० पू० सन् १५० के लगभग अपने आपको वाकाटक अर्थात् वाकाट का निवासी बतलाया है[1] और इससे सिद्ध होता है कि वाकाट एक बहुत पुराना कसबा था। संभव है कि उस समय भी वहाँ के ब्राह्मणों को इस बात का गर्व रहा हो कि हमारा कसबा द्रोणाचार्य का निवास-स्थान है और द्रोणाचार्य भी वाकाटकों की तरह भारद्वाज ब्राह्मण ही थे।

§ ५८. प्राचीन पुराणों में विंध्यक जाति का वर्णन नहीं है; परंतु मत्स्यपुराण के एक स्थान के पाठ की भूल के कारण विष्णु पुराण भी गड़बड़ी में पड़ गया है। मत्स्य-पुराण में जहाँ आंध्रों की सूची समाप्त हो गई है और उनके सम-कालीन राजवंशों का उल्लेख आरंभ हुआ है, वहाँ अध्याय २७२, श्लोक २४ में लिखा है —तेपुत्सन्नेपु कालेन ततः किलकिला नृपाः। इस पंक्ति के साथ मत्स्य पुराण में इस प्रकरण का अंत हो गया है और आगे २५ वें श्लोक से यवन-शासन का वर्णन आरंभ हुआ है जिससे वहाँ कुशन शासन (यौन, यौवन) का अभिप्राय है[2]। इस वर्णन की पहली पंक्ति को विष्णुपुराण ने किलकिला राजाओं के वर्णन के साथ मिला दिया है; और मत्स्यपुराण की दूसरी पंक्ति यह है—भविष्यन्तीह यवना धर्मतो कामतोर्थतः। विष्णु पुराण के कर्त्ता ने इन दोनों पंक्तियों का अन्वय इस प्रकार किया है—तेपुच्छन्नेषु कैलकिला यवना भूपतयो भविष्यन्ति मूर्द्धाभिषिक्तस् तेषां विंध्यशक्तिः। इस विषय में भागवत में विष्णुपुराण का अनुकरण नहीं किया गया है और विष्णुपुराण के टीकाकार ने

किलकिला यवनाः अशुद्ध पाठ है

---

१. E. I. खंड १५, पृ० २६७, २७ वाँ शिलालेख।

२. J. B. O. R. S. खंड १८, पृ० २०१।

एक दूसरा पाठ दिया है और उसकी शुद्ध व्याख्या इस प्रकार की है कि विंध्यशक्ति उस पाठ के अनुसार क्षत्रिय अर्थात् हिंदू राजा था। टीकाकार ने दूसरा पाठ इस प्रकार दिया है—विंध्यशक्ति-मूर्द्धाभिषिक्त इति पाठे क्षत्रिय मुख्य इत्यर्थः। इस दूसरे पाठ से यह नहीं सूचित होता कि विंध्यशक्ति भी कैलकिल यवनों में से था। यह भूल बिलकुल स्पष्ट है और इसलिये हुई है कि यवनाः शब्द को मत्स्यपुराणवाली दूसरी पंक्ति के कैलकिलाः शब्द के साथ मिला दिया गया है। यहाँ इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि यह संगत पाठ नहीं है, बल्कि योंही रख दिया गया है। विष्णु पुराण की सभी प्रतियों में टीकाकार को यह उल्लेख नहीं मिला था कि कैलकिल लोग यवन थे। कुछ प्रतियों में उसे यह पाठ बिलकुल मिला ही नहीं था, जैसा कि मि० पारजिटर को भी 'ज' (h) वाली विष्णुपुराण प्रति में नहीं मिला था[1]। जान पड़ता है कि जब आगे चलकर फिर किसी ने विष्णुपुराण का पाठ दोहराया और मत्स्यपुराण के पाठ के साथ उसका मिलान किया, तब उसने पाठ की उस भूल का सुधार किया जिसमें कैलकिलों को यवनों के साथ मिला दिया गया था। प्रकट यही होता है कि मूल प्रति में इस स्थान पर यवनों का उल्लेख नहीं था और वह बाद में मिलाया गया था।

§ ५६. पुराणों में विंध्यशक्ति के उदय का उल्लेख करते हुए कहा गया है कि विंध्यशक्ति किलकिला के राजाओं में से था। यह बात स्पष्ट है कि यहाँ पुराणों का अभिप्राय नागों से है जिनका उस समय किलकिला के साथ बहुत संबंध था, क्योंकि उनका

विंध्यशक्ति

---

१. P. T. पृ० ४८, पाद-टिप्पणी ८१।

नाम विदिशा वृप से बदलकर किलकिला वृप हो गया था, जैसा कि वायुपुराण में कहा है। यथा—

> तच्छन्नेन च कालेन ततः किलकिला-वृपाः ।
> ततः कि (कै) लकिलेभ्याश्च विन्ध्यशक्तिर्भविष्यति ॥

× × × ×

> वृपान् वैदेशकांश्चापि भविष्यांश्च-निबोधत[1] ।

भागवत में इसी प्रकार परवर्ती नागों का वर्णन किया गया है और किलकिला के राजाओं का वर्णन भूतनंदी से आरंभ करते हुए कहा गया है—

> किलकिलायां नृपतयो भूतनन्दोथ वंगिरिः ।
> शिशुनन्दिश्च तद्भ्राता यशोनन्दिः प्रवीरकः[2] ॥

पुराणों में प्रवीर का किलकिला वृपों के अंतर्गत अर्थात् पूर्वी बुंदेलखंड और बघेलखंड के भार-शिवों के साथ रखा है।

जो यह कहा गया है कि किलकिला के राजाओं में से विंध्यशक्ति एक राजा हुआ था, उसका अभिप्राय यह है कि वह किलकिला के राजाओं के माने हुए करद राजाओं में या उनके संघ के एक खास सदस्यों में से था। वाकाटकों के जो राजकीय लेख आदि हैं, उनमें विंध्यशक्ति का नाम छोड़

---

१. वायुपुराण, श्लोक ३५८--३६०। मिलाओ ब्रह्मांडपुराण, श्लोक १७८, १७९।

२. श्लोक ३२, ३३. भागवत में इस बात का उल्लेख छोड़ दिया गया है कि यशःनदी और प्रवीर के बीच में और राजा भी हुए थे।

दिया गया है और अपने स्वतंत्र राजाओं के वंश का प्रवर-सेन से आरंभ किया गया है. और इसी से यह बात प्रमाणित होती है कि राष्ट्रीय संघटन की दृष्टि से विंध्यशक्ति एक अधीनस्थ राजा था। केवल अजंता की गुफ़ा वाले शिलालेख में (गुफा नं० १६) वंश का जो इतिहास (क्षितिपानु-पूर्वी) दिया गया है, उसी में कहा गया है कि वाकाटक वंश का संस्थापक विंध्यशक्ति था—वाकाटकवंशकेतुः। इस वर्णन से यह प्रकट होता है कि विंध्यशक्ति, जिसकी शक्ति बड़े बड़े युद्धों में विजय प्राप्त करने से बढ़ी थी और जिसने अपने बाहुबल से एक नये राज्य की स्थापना की थी, जो वाकाटक वंश का केतु था और जो जन्म भर कट्टर ब्राह्मण बना रहा (चकार पुण्येषु परं प्रयत्नम्), वस्तुतः किलकिला के वृषों का एक सेनापति था। उसने अपने वंश की उपाधि के लिये अपने मूल निवास-स्थान का जो नाम चुना था, उससे सूचित होता है कि वह एक सामान्य नागरिक था और किसी राजवंश में उसका जन्म नहीं हुआ था। विंध्य तथा अपने निवास-स्थान वाकाट के साथ अपना संबंध स्थापित करने में उसे देशभक्ति-जन्य आनंद होता था। स्वयं विंध्यशक्ति भी एक गढ़कर बनाया हुआ नाम मालूम होता है। जान पड़ता है कि आंध्र तथा नैषध विदुर देशों में उसने बहुत से स्थानों पर विजय प्राप्त करके उन्हें अपने अधिकार में किया था (§§७५, ७६ क)।

§ ६०. जिस राजधानी में प्रवरसेन प्रथम राज्य करता था, वह चनका थी (§ २४); और पुराणों के वर्णन से यह प्रकट होता है कि वह नगरी पहले से ही वर्तमान थी, प्रवरसेन की बसाई हुई नहीं थी। जान पड़ता है कि यदि नागों ने उस नगरी

की स्थापना नहीं की थी तो वह कम से कम विंध्यशक्ति की स्थापित की हुई अवश्य थी (§ २४ पाद-टिप्पणी)। आजकल गंज-नचना नाम का जो पुराना और किले-बंदी वाला कसबा है, वही मेरी समझ में पुराना चनका या कांचनका नाम का स्थान है जहाँ वाकाटक लोग राज्य करते थे। वह सामरिक दृष्टि से जिस स्थान पर और जिस ढंग से बना है, उससे यही सूचित होता है कि वह किसी नवीन शक्ति का बनवाया हुआ था और नवीन धारण किए हुए 'विंध्यशक्ति' नाम की भी इससे सार्थकता हो जाती है, जिससे सूचित होता है कि विंध्य ही उसकी वास्तविक शक्ति थी। जनरल कनिंघम ने गंज-नचना की स्थिति का जो वर्णन किया है, वह इस प्रकार है—

राजधानी

"नाचना नाम का छोटा गाँव गंज नामक कसबे के पश्चिम में दो मील की दूरी पर है और यह गंज कसबा पन्ना से दक्षिण पूर्व २५ मील और नागौद से दक्षिण-पश्चिम १५ मील की दूरी पर है।..........जिस स्थान को नचना कहते हैं, वह बहुत सी ईंटों से ढका हुआ है; और गंज से नचना को जो सड़क जाती है, उस पर ईंटों की बनी हुई इमारतों के बहुत से खँडहर हैं। लोग कहते हैं कि कूथन (नचना के किले का पुराना नाम) प्राचीन काल में बहुत बड़ा नगर था और वहाँ उस देश के राजा की राजधानी थी। नचना वाले स्थान को लोग अब तक खास कूथर कहते हैं।..........यह भी कहा जाता है कि कूथर के किले से सतना या गोरेना नाला तक एक सुरंग है। यह नाला नचना से होता हुआ बहता है और गंज से ११ मील दक्षिण-पश्चिम कियान या केन नदी में मिलता है। यह स्थान एक घाटी के द्वार पर पड़ता है और बाहरी आक्रमण के समय पूर्व, पश्चिम और दक्षिण की

ओर पीछे हटकर विंध्य की पहाड़ियों में अपनी रक्षा के लिये जाकर रहने का इसमें अच्छा स्थान है[1] ।"

इस स्थान की पहचान पार्वती और चतुर्मुख शिव के उन दोनों मंदिरों से होती है जिनका वर्णन हम ऊपर कर चुके हैं और जिनके द्वारों पर गंगा और यमुना की मूर्तियाँ हैं। गंगा और यमुना की मूर्तियाँ बनाने की कल्पना विशेष रूप से वाकाटकों की है जो उन्होंने भार-शिवों से प्राप्त की थी। यह स्थान पृथिवी-षेण प्रथम के तीन शिलालेखों के लिये भी प्रसिद्ध है। भारतीय स्थापत्य और तक्षण कला के इतिहास में ये मंदिर अनुपम हैं और इन्हीं से उस कला का आरंभ होता है जिसे हम लोग गुप्त कला कहते हैं। ये सभी लेख संस्कृत में हैं।

८. वाकाटकों के संबंध में लिखित प्रमाण और उनका काल-निर्णय

§ ६१. सिक्कों से हमें दो वाकाटक सम्राटों के नाम मिलते हैं—एक तो प्रवरसेन प्रथम और दूसरा रुद्रसेन प्रथम जो प्रवरसेन प्रथम का पोता और उत्तराधिकारी था, (§ ५२ पाद-टिप्पणी)। प्रवरसेन प्रथम के पिता विंध्यशक्ति का कोई सिक्का नहीं मिलता। विंध्यशक्ति वस्तुतः भार-शिव नाग सम्राटों का अधीनस्थ राजा था और संभवतः उसने अपने सिक्के बनवाए ही नहीं थे। वाकाटक सम्राटों के जिन दो सिक्कों का ऊपर उल्लेख किया गया है और जिनके बनवाने वालों का निर्णय हमने किया है, उन पर पहले

---

१. कनिंघम A. S. R. खंड २१, पृ० ९५। इसका शुद्ध रूप नाचना है, नाच्ना नहीं।

कभी किसी ने ध्यान ही नहीं दिया था: क्योंकि अब तक या तो वे ठीक तरह से पढ़े ही नहीं गए थे और या बिलकुल ही नहीं पढ़े गए थे। हमने अभी प्रवरसेन प्रथम के सिक्के का विवेचन किया है (§ ३०) जो संभवतः अहिच्छत्र की टकसाल में बना था। रुद्रसेन प्रथम के उत्तराधिकारी वस्तुतः गुप्तों के अधीन थे; और गुप्तों का यह नियम था कि वे अपने किसी अधीनस्थ राजा को सिक्के बनाने ही नहीं देते थे। परंतु ऐसा जान पड़ता है कि रुद्रसेन प्रथम के पुत्र और उत्तराधिकारी पृथिवीषेण प्रथम के संबंध में इस नियम का पालन नहीं किया गया था और उसे अपवाद रूप से मुक्त कर दिया गया था और उसने अपने पुत्र रुद्रसेन द्वितीय का विवाह चंद्रगुप्त द्वितीय की कन्या से किया था। जान पड़ता है कि उसका सिक्का भी हम लोगों को मिल चुका है। डा० विंसेंट स्मिथ ने अपने Catalogue of the Coins in Indian Museum नामक ग्रंथ में[1], प्लेट नंबर २० पर दिया है और जिस पर पीछे की ओर साँड़ की एक बहुत अच्छी मूर्ति बनी है, वह सिक्का पृथिवीषेण प्रथम का ही है। इस सिक्के के सामनेवाले भाग पर वही प्रसिद्ध वृक्ष बना है जो कोसम की टकसाल में बने हुए भार-शिव सिक्कों पर पाया जाता है; और उस पर एक पर्वत की भी आकृति बनी हुई है। इस पर का लेख ब्राह्मी लिपि में है। डा० स्मिथ (पृ० १५५) ने इसे पवतस पढ़ा था जिसका अर्थ उन्होंने लगाया था—पवत का। परंतु इसमें का पहला अक्षर प नहीं है, बल्कि पृ है और ऋ की मात्रा अक्षर के नीचे है। दूसरा अक्षर संयुक्त अक्षर है और उसमें गुप्तीय थ (जिसके मध्य में एक स्पष्ट बिंदु है) के नीचे आधा

१. साथ ही देखो इस ग्रंथ का तीसरा प्लेट।

वाकाटक सिक्के

प्रवरसेन का सिक्का
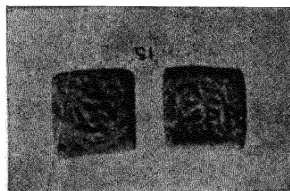
C. I. M. Pl. XXII.

रुद्र (सेन प्रथम) का सिक्का
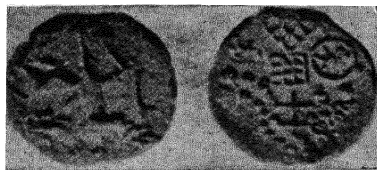
C. I. M. XX.5,

पृथ्वीषेण का सिक्का
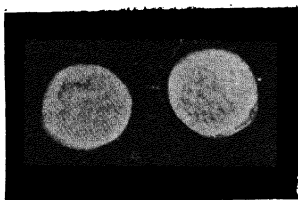
C. I. M Pl. XX. 4.

व भी है। ऊपर की ओर ि का चिह्न भी है यह थ (व्) ी पढ़ा जाना चाहिए। जिस अक्षर को डा० स्मिथ ने त पढ़ा है, वह ष है और उसके ऊपर े की मात्रा है। इसके बाद का अक्षर ण है। इस प्रकार का पूरा नाम पृथ (व्) ीषेण अर्थात् पृथिवीषेण जान पड़ता है। नीचे की ओर दाहिने कोने पर रेलिंग के पास एक अंक है जो ९ के समान है और जिसका अर्थ यह है कि यह सिक्का उसके शासन-काल के नवें वर्ष में बना था। इसमें का ण टेढ़ा या झुका हुआ और वैसा ही है, जैसा गुप्त लेखों में पाया जाता है. और यह अक्षर भी तथा बाकी दूसरे अक्षर भी उन अक्षरों से मिलते हैं जो आरंभिक गुप्त काल में लिखे जाते थे।

इसी वर्ग (कोसम के सिक्के) में डा० स्मिथ ने उसी प्लेट नं० २० में ५ वीं संख्या पर एक और सिक्के का चित्र दिया है। इस सिक्के पर का लेख उनसे पढ़ा नहीं गया था। इस पर भी वही पाँच शाखाओंवाले वृक्ष की आकृति बनी है, पर वह अधिक कल्पनामय और रूढ़ रूप में है और उसपर भी पर्वत का वैसा ही चिह्न बना है, जैसा कि पृथिवीषेण प्रथम के सिक्के (आकृति नं० ४) पर है[1]। जान पड़ता है कि यह पर्वत विंध्य ही है। इस पर भी वही वाकाटक चक्र बना है जो दुरेहा के स्तंभ और गंज तथा नचना के वाकाटक शिलालेखों और साथ ही प्रवरसेन प्रथम के ७६ वें वर्ष के सिक्के पर अंकित है (§ ३०)। इस

---

१. यह सिक्का बड़ा है, इसलिये इस पर पर्वत भी बड़ा है पर इसकी आकृति ठीक वैसी ही है, जैसी ४ नंबर वाले सिक्के पर है। मैंने इन सिक्कों के जो चित्र दिए हैं, वे उनके मूल आकार से कुछ छोटे । इन पर क लेख पढ़ने के लिये मैंने इनके ठप्पों से काम लिया था।

सिक्के पर पीछे की ओर एक ध्वज की ओर मुख किए हुए वैसा ही दुर्बल साँड़ बना है, जैसा पल्लव मोहरों पर है (S. I. I. २, पृ० ५२१)[1]। इसके ऊपरी भाग पर मकर का सिर बना है जो गंगा का वाहन तथा चिह्न है[2]। साँड़ के ऊपर एक और आकृति है जो एक पद-स्थल पर स्थित है और जिसके मुख के चारों ओर प्रभा-मंडल है जो संभवतः शिव की मूर्ति है। यह मूर्ति भी प्रायः वैसी ही है जैसी पल्लव मोहर पर है। पीछे की ओर चक्र के ऊपर एक किनारे लेख है जो 'रुद्र' पढ़ा जाता है। र का ऊपरी भाग संदूकनुमा है और द के ऊपर की रेखा कुछ मोटी है। पर्वत के दाहिने भाग में १०० का अंक है। मैं समझता हूँ कि यह रुद्रसेन का सिक्का है जो संवत् १०० में बना था। यह सिक्का अपनी बनावट, गंगा के चिह्न, पर्वत, वृक्ष, साँड़ और चक्र के कारण प्रवरसेन प्रथम और पृथिवीषेण प्रथम के सिक्कों (देखो § ३०) के ही समान है।

---

१. इसमें साँड़ ध्वज की ओर चला जा रहा है, परंतु पल्लव मोहर पर वह शांत खड़ा है। इससे और पहले की पल्लव मोहर पर—जिसका उल्लेख E. I. खंड ८, पृ० १४४ में है—साँड़ खड़ा हुआ है और साथ ही मकरध्वज भी है।

२. मैं समझता हूँ कि ब्रैकेट के आकार का जो मकरध्वज है, उसका नाम मकर-तोरण था। संयुक्त प्रांत में ब्रैकेट को अब तक टोड़ी या तोड़ी कहते हैं। पटने के म्यूजियम में काँसे का बना हुआ एक पुराना मकर-तोरणवाला ध्वज प्रस्तुत है जिसके ऊपर एक चक्र है। यह बकसर के पास मिला था।

शेष वाकाटकों के सिक्के नहीं हैं।

वाकाटक शिलालेख

§ ६१ क. मिलान के सुभीते के लिये मैं वे सब वाकाटक अभिलेख, जो अब तक प्रकाशित हो चुके हैं, काल-क्रम के अनुसार लगाकर नीचे दे देता हूँ।

पृथिवीषेण प्रथम—(क, ख, ग) पत्थर पर खुदे हुए तीन छोटे उत्सर्ग संबंधी लेख। तीनों का विषय एक ही है। पृथिवीषेण प्रथम के शासन-काल में व्याघ्रदेव ने नचना और गंज में जो मंदिर बनवाए थे, उन्हीं के निर्माण का इनमें उल्लेख है। यह व्याघ्रदेव या तो पृथिवीषेण के परिवार का था अथवा उसका कोई कर्मचारी या करद राजा था। इन शिलालेखों पर राजकीय चक्र का चिह्न है। G. I. पृ० २३३ नं० ५३ और ५४ नचना का। E. I. खंड १७, १२ (गंज)।

प्रभावतीगुप्ता—(घ) राजमाता प्रभावती गुप्ता (चंद्रगुप्त द्वितीय और महादेवी कुबेर नागाकी पुत्री) युवराज दिवाकरसेन की माता के अभिलेख पूनावाले प्लेट में हैं और जो १३ वें वर्ष में तैयार कराए गए थे। यह दान नागपुर जिले में नंदिवर्धन ने किया था (E. I. १५, ३९)।

प्रवरसेन द्वितीय—(ङ) प्रवरसेन द्वितीय के चमकवाले प्लेट। यह रुद्रसेन द्वितीय और प्रभावती गुप्ता का पुत्र था और प्रभावती गुप्ता देवगुप्त की कन्या थी। ये प्लेट १८ वें वर्ष में प्रवरपुर में तैयार हुए थे। ये प्लेट बरार के एलिचपुर जिले के चमक नामक स्थान में मिले थे और भोजकट राज्य के चमक (चर्नाक) नामक स्थान से संबंध रखते हैं (G. I. पृ० २३५)।

(च) सिवनीवाले प्लेट जो मध्य प्रदेश के सिवनी नामक स्थान में मिले थे। ये प्रवरसेन द्वितीय के हैं और उसके शासन-काल के १८वें वर्ष के हैं। ये एलिचपुर जिले की एक संपत्ति के विषय में हैं (G. I. पृ० २४३)।

(छ) दामोदरसेन प्रवरसेन द्वितीय के शासन-काल के १९ वें वर्ष के पूनावाले[१] दूसरे प्लेट के लेख जो राजमाता प्रभावती गुप्ता महादेवी ने, जो रुद्रसेन द्वितीय की रानी और महाराज श्री दामोदरसेन की माता थी, तैयार कराए थे। यह दान रामगिरि (मध्यप्रदेश में नागपुर के पास रामटेक) में किया गया था। (I. A. खंड ५३, पृ० ४८)।

(ज) प्रवरसेन द्वितीय के दूदियावाले प्लेट जो २३ वें वर्ष में प्रवरपुर में प्रस्तुत कराए गए थे और मध्य प्रदेश के छिंदवाड़ा जिले में मिले थे। E. I. खंड ३, पृ० २५८।

(झ) प्रवरसेन द्वितीय के पटना म्यूजियमवाले प्लेट। ये खंडित हैं और इन पर कोई समय नहीं दिया गया है। ये प्लेट मध्य प्रदेश के जबलपुर से पटने आए थे। J. B. O. R. S. खंड १४, पृ० ४६५।

पृथिवीषेण द्वितीय—(ञ) बालाघाटवाले प्लेट जो महाराज श्री नरेंद्रसेन के पुत्र और प्रवरसेन द्वितीय के पौत्र पृथिवीषेण द्वितीय के हैं। पृथिवीषेण द्वितीय की माता कुंतल के राजा (कुंतलाधिपति) की कन्या महादेवी अज्झिता भट्टारिका थी।

---

१. इन्हें रिद्धपुरवाले प्लेट कहना चाहिए। देखो रा० हीरालाल कृत Inscriptions in C. P. & Berar. १९३२, पृ० १३९. रिद्धपुर अमरावती से २६ मील है।

इन पर के लेख मसौदे के रूप में हैं जो बाकी सादे अंश पर एक दान के संबंध में खोदे जाने के लिये तैयार किए गए थे। पर इनमें किसी दान का उल्लेख नहीं है। ये मध्य-प्रदेश के बालाघाट जिले में पाए गए थे। E. I. १६; २६६।

देवसेन--(ट) अजंता के गुहा-मंदिर का शिलालेख नं० १३ (घटोत्कच गुहा) राजा देवसेन के मंत्री हस्तिभोज का लिखवाया हुआ और देवसेन वाकाटक[1] के शासन-काल में खुदवाया हुआ (वाकाटके राजति देवसेने)। यह मंत्री दक्षिणी ब्राह्मण था जिसकी वंशावली उसमें दी गई है। यह गुहा-मंदिर उसने बौद्ध-धर्म के लिये उत्सर्ग किया था। A. S. W. I. ४, १३८।

हरिषेण-- (ठ) अजंता का शिलालेख (बुहलर का तीसरा लेख) जो गुहा-मंदिर नं० १६ में है। यह देवसेन के पुत्र हरिषेण के शासन-काल का है। देवसेन ने अपने पुत्र हरिषेण के लिये राजसिंहासन का परित्याग कर दिया था। यह देवसेन प्रवरसेन द्वितीय के एक पुत्र का, जिसका नाम नहीं मिलता, पुत्र था। इस शिलालेख के पहले भाग में श्लोक १ से १८ तक वंश का इतिहास (क्षितिपानुपूर्वी) है। वाकाटक राजवंश के राजाओं की यह आनुपूर्वी या राजसिंहासन पर बैठनेवाले राजाओं का क्रम विंध्यशक्ति से आरंभ होता है। दूसरे भाग श्लोक १६ से ३२ तक में स्वयं उस मंदिर का उल्लेख है जिसका आशय यह है कि मंत्री बराहदेव ने, जो देवसेन के मंत्री हस्ति-

---

१. बुहलर ने भूल से इसे कुछ परवर्त्ती काल का बतलाया है।

भोज का पुत्र था, यह गुहा-मंदिर या चैत्य बनवाकर बौद्धों के पूजन-अर्चन के लिये उत्सर्ग कर दिया था। A. S. W. I. ४, १२४।

(ड) अजंता के गुहा-मंदिर का शिलालेख, जो बुहलर का चौथा लेख है, राजा हरिषेण के किसी अधीनस्थ और करद राजा के वंश के लोगों का बनवाया हुआ है। इसमें उनकी दस पीढ़ियों तक की वंशावली दी है और कहा गया है कि यह गुहा-मंदिर (नं० १७) बनवाकर भगवान् बुद्धदेव के नाम पर उत्सर्ग किया गया था। इस पर हरिषेण के शासन-काल का वर्ष दिया है जिसने अपनी प्रजा के हित के काम किए थे (परिपालयति क्षितींद्र-चंद्रे हरिषेणे हितकारिणी प्रजानाम्)। A. S. W. I. ४, १३० ठ (1) २१, A. S. W. I. ४, १२८।

इनके अतिरिक्त दो और अभिलेख हैं जो, मेरी समझ से, वाकाटकों के हैं और जिनका वर्णन आगे चल कर किया जायगा[1]।

वाकाटक वंशावली

§ ६२. शिलालेखों और पुराणों के आधार पर वाकाटकों की जो वंशावली बनती है, वह यहाँ दी जाती है। इस वंशावली में जिन लोगों के नाम गोल कोष्ठक के अंदर दिए गए हैं, वे वाकाटक राजा के रूप में सिंहासनासीन नहीं हुए थे।

---

१. इनमें से एक दुरेहा (जासो) का स्तंभ है। देखो अंत में परिशिष्ट क। इसमें स्पष्ट रूप से इस वंश का नाम है और लिपि के विचार से यह सबसे पहले का है।

विंध्यशक्ति राजा (मूर्द्धाभिषिक्त)

|

सम्राट् प्रवरसेन प्रथम, प्रवीर; ६० वर्ष तक शासन किया

|

(गौतमी पुत्र) | (दूसरा लड़का) (उपराज के रूप में शासन करता था) | (तीसरा लड़का) (उपराज के रूप में शासन करता था) | (चौथा लड़का) (उपराज के रूप में शासन करता था)

|

रुद्रसेन प्रथम—यह शैशवावस्था में ही, भार-शिव राजा का पोता होने के कारण, भार शिव राजा के रूप में सिंहासन पर बैठा था और अपने प्र-पिता प्रवरसेन के संरक्षण में पुरिका में शासन करता था। बाद में यह चनका में प्रवरसेन का उत्तराधिकारी हुआ था। यह समुद्रगुप्त का सम-कालीन था।

|

पृथिवीषेण प्रथम—यह समुद्रगुप्त और चन्द्रगुप्त द्वितीय का सम-कालीन था और इसने कुन्तल के राजा पर विजय प्राप्त की थी।

रुद्रसेन द्वितीय—इसका विवाह प्रभावती गुप्ता के साथ हुआ था जो चन्द्रगुप्त द्वितीय तथा महादेवी कुबेर नागा की पुत्री थी।

(दिवाकरसेन—यह तेरह वर्ष की अवस्था में या उसके उपरान्त युवराज रहने की दशा में ही मर गया था)

दामोदरसेन-प्रवरसेन (प्रवरसेन द्वितीय) शिलालेखों से पता चलता है कि इसने मध्य प्रदेश के प्रवरपुर में कम से कम २३ वर्ष तक राज्य किया था। जान पड़ता है कि यह एक नई राजधानी थी जो उसी के नाम पर स्थापित हुई थी।

नरेंद्रसेन—(अजंतावाले शिलालेख में इसका नाम नहीं है। यह ८ वर्ष की अवस्था में सिंहासन पर बैठा था।) बालाघाटवाले प्लेटों में इसका नाम नरेंद्रसेन दिया है। इसने महादेवी अज्झिता भट्टारिका के साथ विवाह किया था जो कुंतल के राजा की कन्या थी। कोशला मेकला और मालव के करद राजा इसके आज्ञानुवर्ती थे।

पृथिवीषेण द्वितीय
(इसने अपने डूबे हुए वंश का उद्धार किया था)

देवसेन—भोगप्रिय (भोगेषु यथेष्टचेष्टाः) और रूपवान् राजा जिसने अपने पुत्र हरिषेण के लिए सिंहासन का परित्याग कर दिया था।

हरिषेण—इसने कुंतल, अवंती, कलिंग, कोशल, त्रिकूट, लाट और आंध्र देशों पर विजय प्राप्त की थी। इसी के मंत्री हस्तिभोज ने अजंता का गुहा-मंदिर नं० १६ बनवाया था और बौद्ध भिक्षुओं को अर्पित किया था।

देवसेन और उसके पुत्र पृथिवीषेण द्वितीय के उत्तराधिकारी के संबंध में कुछ भ्रम उत्पन्न हो गया है; और इसका कारण दो लेख हैं। पहला तो अजंता की १६ नं० वाली गुफा का शिलालेख है जो हरिषेण के शासन-काल में उत्कीर्ण हुआ था और दूसरा पृथिवीषेण द्वितीय का ताम्रपत्रवाला मसौदा है। परंतु इनके शब्दों को ठीक ठीक रूप में लाने पर भ्रम या गड़बड़ी दूर हो जाती है; और आगे चलकर परवर्त्ती वाकाटकों के इतिहास में मैंने इस विषय का विवेचन किया है।

§ ६३. शिलालेख में देवसेन का जो वर्णन है और जो उसके पुत्र के शासन-काल में उत्कीर्ण हुआ था, उसके बिलकुल ठीक होने का प्रमाण इस बात से भी मिलता है कि उस समय के राजकर्मचारियों और कवियों ने भी उसके ठीक होने का उल्लेख किया है। स्वरूपवान् राजा 'जिसके पास उसकी सब प्रजा उसी प्रकार पहुँच सकती थी, जिस प्रकार एक अच्छे मित्र के पास' प्रायः भोग-विलास में ही अपना सारा जीवन व्यतीत करता था। यह अपने पुत्र के लिये राज्य छोड़कर अलग हो गया था। इसने अपने सामने अपने पुत्र का राज्याभिषेक कराया था और इसके उपरांत यह अपना सारा समय भोग-विलास में ही बिताने लगा था।

शिलालेखों के ठीक होने का प्रमाण

§ ६४. शिलालेखों आदि के अनुसार वाकाटक इतिहास में एक निश्चित बात यह है कि चंद्रगुप्त द्वितीय के समय में ही पृथिवीषेण प्रथम और रुद्रसेन द्वितीय हुए थे। एक और बात, जिसका पता प्रयाग के समुद्रगुप्तवाले शिलालेख से चलता है, यह है कि समुद्रगुप्त के सम्राट् होने से पहले ही सम्राट् प्रवरसेन का देहांत हो चुका था, क्योंकि उस शिलालेख में प्रवरसेन का नाम नहीं मिलता। समुद्रगुप्त ने गंगा-यमुना के दोआब के आस-पास के 'वन्य प्रदेश' के राजाओं को अपना शासक या गवर्नर और सेवक बनाया था[1], जिसका

वाकाटक इतिहास में एक निश्चित बात

---

१. G. I. पृ० १३।

निस्संदेह रूप से अर्थ यही है कि बुंदेलखंड और बघेलखंड उसकी अधीनता में आ गए थे। अब प्रश्न यह होता है कि उस समय विंध्य प्रदेश में कौन सा वाकाटक राजा था जिसके अधीनस्थ और करद राजाओं को समुद्रगुप्त ने छीनकर अपने अधीन कर लिया था। उसने जो प्रदेश जीते थे, वे प्रवरसेन के बाद जीते थे; और चौथा वाकाटक राजा पृथिवीषेण प्रथम सारे वाकाटक देश पर राज्य करता था और उसके लड़के का विवाह चंद्रगुप्त विक्रमादित्य की कन्या के साथ हुआ था। इसलिये समुद्रगुप्त का समकालीन वही वाकाटक राजा होगा जो प्रवरसेन के बाद और पृथिवीषेण से पहले हुआ था; और वह राजा रुद्रसेन प्रथम था जिसे हम निश्चित रूप से वही रुद्रदेव कह सकते हैं जो समुद्रगुप्त की सूची में आर्यावर्त का प्रधान राजा था (§ १३९)।

वाकाटक इतिहास के संबंध में पुराणों के उल्लेख

§ ६५. परंतु वाकाटकों के इतिहास के संबंध में हमें और बहुत सी बातें तथा सहायता पुराणों से मिलती है। पुराणों में कहा है कि विंध्यशक्ति के वंशजों ने ९६ वर्ष तक राज्य किया था और यह भी कहा है कि इनमें से ६० वर्षों तक शिशु राजा तथा प्रवरसेन प्रवीर का राज्य रहा; और इसलिये विंध्यशक्ति के राज्य के लिये ३६ वर्ष बचते हैं। दूसरे शब्दों में हम यही बात यों कह सकते हैं कि पुराणों में रुद्रसेन प्रथम से ही इस राजवंश का अंत कर दिया जाता है। इसलिये हम दृढ़तापूर्वक कह सकते हैं कि रुद्रसेन को समुद्रगुप्त का मुकाबला करना पड़ा था और इसी में उसका लोप हो गया। वायु पुराण और ब्रह्मांड पुराण में कहा गया है कि

साम्राज्य (भूमि[1]) ९६ वर्षों के उपरांत दूसरे के हाथ में चली गई थी। वायुपुराण में जहाँ ६० वर्षों का उल्लेख है, वहाँ क्रिया बहुवचन में है, जिससे पता चलता है कि ६० वर्ष का उल्लेख दानों के संबंध में है। उसकी क्रिया (भोक्ष्यन्ति) द्विवचन में नहीं बल्कि बहुवचन में है जो प्राकृत के नियमों के अनुसार है, जैसा कि मि० पारजिटर ने बतलाया है (P. T. पृ० ५०, टिप्पणी ३१)। भागवत में न तो शिशु राजा का उल्लेख ही है और न उसकी गिनती ही हुई है। जान पड़ता है कि प्रवरसेन की मृत्यु होते ही समुद्रगुप्त ने तुरंत अपना यह अभियान आरंभ कर दिया था और प्रयाग या कौशांबी के युद्ध क्षेत्र में रुद्रसेन प्रथम की शक्ति टूट गई थी; और इसी युद्ध में उसके साम्राज्य-संघ के प्रमुख राजा अच्युत और नागसेन की तथा संभवतः गणपति नाग की भी मृत्यु हो गई थी[2]।

§ ६६. इस प्रकार पुराणों में विंध्यक राजवंश का तो अंत कर दिया गया है, पर गुप्तों के संबंध में उनमें जो उल्लेख मिलता है, उससे जान पढ़ता है कि उनका वंश तब तक बराबर चला चलता था, क्योंकि गुप्त राजाओं को उन्होंने बिना पूरा गिनाए हो छोड़ दिया है और यह नहीं बतलाया है कि सब मिलाकर उन्होंने कितने दिनों तक राज्य किया था। पुराणों में जो यह कहा है कि विंध्यक वाकाटक सम्राटों ने सब मिलाकर ९६ वर्ष तक राज्य किया था, उसका समर्थन वाकाटक शिलालेखों से भी होता है जिनमें पृथ्वीषेण प्रथम के शासन के संबंध में

---

१. मिलाओ इलाहाबाद का शिलालेख जिसमें 'पृथिवी' (पंक्ति २४) और 'धरणी' का अर्थ 'भारत' और 'साम्राज्य' है।

२. देखो आगे तीसरा भाग § १३१।

लिखा है—"जिसके उत्तराधिकारी पुत्र और पौत्र बराबर होते चले गए थे और जिसके कोश तथा दंड या शासन के साधन बराबर सौ वर्षों तक बढ़ते गए थे" (फ्लीट कृत G. I. पृ० २४)। कोसम के सिक्कों में से रुद्र का जो सिक्का है, उस पर वाकाटकों का विशिष्ट चक्र है और उस पर १०० वाँ वर्ष अंकित है (§ ६१)। इस प्रकार रुद्रसेन ने अपने राजवंश के शासन के एक सौ वर्ष पूरे किए थे और उसने चार वर्षों तक राज्य किया था।

§ ६७. विष्णुपुराण और भागवत में दो जोड़ दिए हैं। उनमें से एक तो १०० वर्ष है और दूसरा कुछ अनिश्चित है [५६, ६ या ६० (?)] है और वहाँ का पाठ कुछ ठीक नहीं है। विष्णुपुराण की हस्तलिखित प्रतियों में है--वर्ष-शतम् षट्; वर्षाणि और वर्ष-शतम् पंचवर्षाणि; और भागवत में है—वर्ष-शतम् भविष्यंति अधिकानि षट्[1]। जान पड़ता है कि वर्ष शतम् लिखने के उपरांत कुछ और भी लिखा गया था जो अब साफ साफ पढ़ा नहीं जाता। विष्णुपुराण में वर्षशतम् के उपरांत फिर वर्षाणि शब्द को दोहराने की कोई आवश्यकता नहीं थी। विष्णुपुराण के संपादकों या प्रतिलिपि करने वालों के सामने दो अंक थे। एक तो शिशुक और प्रवीर के लिये ६० वर्ष का और दूसरा विंध्यशक्ति के वंश के लिये १०० या ९६ वर्षों का। ९६ और ६० को मिला-कर उन्होंने वर्षशतानि पंच कर दिया या षट् कर दिया; और जान पड़ता है कि १०० और ५६ या १०० और ६० को घटाकर १०६ कर दिया गया। यहाँ यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि उन्होंने न तो वायु पुराण और ब्रह्मांड पुराण का ६० वाला अंक लिया, और न उनका ९६ वाला अंक लिया बल्कि उन दोनों की जगह उन्होंने १०६ या १५६ पढ़ा।

१. P. T. ५०, टिप्पणी ३०।

इसलिये हम यह मान लेते हैं कि १०० अथवा ६६ वर्षों तक तो वाकाटकों का स्वतंत्र शासन रहा और ६० वर्षों तक प्रवरसेन तथा रुद्रसेन ने शासन किया। स्वयं रुद्रसेन प्रथम ने, सम्राट् के रूप में नहीं बल्कि राजा के रूप में, संभवतः चार वर्षों तक शासन किया था; (और यही वह चार वर्षों का अंतर है जो पुराणों के दो वर्गों में मिलता है—वर्षशतम् या १०० वर्ष और ६६ वर्ष)[१]।

§ ६८. इसके अतिरिक्त पुराणों में राज्य-क्रम की एक और महत्त्वपूर्ण बात मिलती है। वे सन् २३८ या २४३ ई०[२] के लगभग शातवाहनों के शासन का अंत करके और उनके सम-कालीन मुरुंड-तुखारों का वर्णन (लगभग २४३ या २४७ ई०[३]) समाप्त करके विंध्यशक्ति के उदय का वर्णन आरंभ करते हैं। इसलिये यदि हम यह मान लें कि विंध्यशक्ति का राज्य सन् २४८ ई० में आरंभ हुआ था तो पुराणों और शिलालेखों के आधार पर हमें नीचे लिखा क्रम और समय मिलता है—

१. विंध्यशक्ति	... ...	सन् २४८—२८४ ई०
२. प्रवरसेन प्रथम	... ...	२८४—३४४ ,,
३. रुद्रसेन प्रथम	... ...	३४४—३४८ ,,
४. पृथिवीषेण प्रथम	... ...	३४८—३७५ ,,
५. रुद्रसेन द्वितीय	... ...	३७५—३९५ ,,
६. प्रभावती गुप्ता (क) दिवाकरसेन की अभिभाविका के रूप में		३९५—४०५ ,,

१. एक प्रकार से कानून की दृष्टि से वाकाटक वंश का अंत प्रवरसेन प्रथम से ही हो गया था। (§ २८, पाद-टिप्पणी १)।

२. J. B. O. R. S. खंड १६, पृ० २८०।

३. उक्त जरनल और खंड, पृ० २८९।

और (ख) दामोदरसेन प्रवरसेन द्वितीय की
अभिभाविका के रूप में ... ४०५—४१५ ई०
७. प्रवरसेन द्वितीय, वयस्क होने पर ४१५—४३५ ,,
८. नरेंद्रसेन (८ वर्ष की अवस्था में सिंहा-
सन पर बैठा था) ... ... ४३५—४७० ,,
९. पृथिवीषेण द्वितीय ... ... ४७०—४८५ ,,
१०. देवसेन (इसने सिंहासन का परित्याग
किया था) ... ... ४८५—४९० ,,
११. हरिषेण ... ... ४९०—५२० ,,

आरंभिक गुप्त इतिहास से मिलान

§ ६९. ऊपर जो क्रम दिया गया है, वह मुख्यतः पुराणों के आधार पर है और ज्ञात ऐतिहासिक घटनाओं से अर्थात् चंद्रगुप्त प्रथम और समुद्रगुप्त के शासन-काल से इसका मिलान या समर्थन हो जाता है। सिक्कों के अनुसार भी और कौमुदी-महोत्सव के अनुसार भी चंद्रगुप्त ने लिच्छवियों की सहायता से पाटलिपुत्र पर अधिकार प्राप्त किया था। मगध में जो राजवंश शासन करता था, वह अवश्य ही भार-शिवों के साम्राज्य का अधीनस्थ रहा होगा; क्योंकि उस साम्राज्य का अस्तित्व सन् २५० ई० के लगभग आरंभ हुआ था और उस राजवंश को चंद्रगुप्त प्रथम ने राज्यच्युत कर दिया था। चंद्रगुप्त प्रथम ने सन् ३२० ई० से लिच्छवियों के नाम से अपने सिक्के बनाने आरंभ किये थे[1], और इसका अभिप्राय यह है

---

१. मुझे ऐसा जान पड़ता है कि उसके पहले के सिक्के उन्हीं सिक्कों में मिलते हैं जिन्हे पांचाल सिक्के कहते हैं और जिनके चित्र कनिंघम

कि उस समय से उसने भार-शिवों और उनके उत्तराधिकारी प्रवरसेन प्रथम का प्रभुत्व मानना छोड़ दिया था और उसका खुलकर विरोध किया था। उसके सिक्के लगभग नौ तरह के (उसके कोशल और मगध दो प्रांतों में) हैं और इनके लिये उसका शासनकाल लगभग बीस वर्ष रहा होगा। इससे भी कौमुदी-महोत्सव के इस कथन का समर्थन होता है कि सुंदरवर्म्मन् का छोटा बच्चा किसी प्रकार अपनी दाई के साथ बचकर निकल गया था और विंध्य पर्वत में जा पहुँचा था और पाटलिपुत्र नगर की सभा या काउंसिल ने उसे वहाँ से बुलवाकर उसका राज्याभिषेक किया था। और हिंदुओं के धर्मशास्त्रों के अनुसार राज्याभिषेक २४ वर्ष की अवस्था पूरी कर लेने पर होता है। कौमुदी-महोत्सव और समुद्रगुप्त के शिलालेख दोनों से ही यह बात प्रमाणित होती है कि समुद्रगुप्त से पहले एक बार पाटलिपुत्र पर से गुप्त राजवंश का अधिकार हटा दिया गया था। समुद्रगुप्त और चंद्रगुप्त प्रथम के सिक्कों के बीच की शृंखला टूटी हुई है और इसका पता

ने अपने C. A. I. प्लेट ७ में, संख्या १ और २ पर दिए हैं। ये सिक्के वस्तुतः कोशलवाले सिक्कों के वर्ग के हैं; क्योंकि उस वर्ग के एक राजा धनदेवके संबंध में मैंने अयोध्या के एक शिलालेख (J. B. O. R. S. १०, पृ० २०२, २०४) के आधार पर यह प्रमाणित किया है कि वह कोशल का राजा था। ऊपरवाले सिक्कों (सं० १) पर चंद्र गुप्तस्य लिखा है, रुद्रगुप्तस नहीं लिखा है, जैसा कि कनिंघम ने उसे पढ़ा है। इसकी शैली बिलकुल हिंदू है और उसके लिच्छवी सिक्कों से बिलकुल भिन्न है।

इस बात से भी चलता है कि चंद्रगुप्त प्रथम के सिक्के कभी गुप्त सम्राटों के सिक्कों के साथ नहीं मिले हैं। समुद्रगुप्त के व्याघ्र रूपवाले जो सिक्के मिले हैं, उनसे सूचित होता है कि उसने कुछ दिन एक छोटे राजा के रूप में, साकेत में रहकर अथवा बनारस और साकेत के बीच में रहकर, बिताए थे। इन सिक्कों पर केवल 'राजा समुद्रगुप्त' लिखा है। तब तक उसने न तो गरुड़ध्वज का ही अंगीकार किया था और न उन दूसरे चिह्नों का ही जो उसके उन सिक्कों पर मिलते हैं जो उसके सम्राट् होने की दशा में बने थे इन सिक्कों पर, पीछे की ओर, एक शिंशुमार पर खड़ी हुई गंगा की मूर्त्ति है। वाकाटकों के समय में गंगा और यमुना दोनों साम्राज्य के चिह्न थे। भारशिव सिक्कों पर और प्रवरसेन के सिक्कों पर भी, गंगा की मूर्त्ति मिलती है जान पड़ता है कि जिस समय समुद्रगुप्त एक करद और अधीनस्थ राजा के रूप में था, उस समय उसने वाकाटक सम्राटों का गंगावाला चिह्न अपने सिक्कों पर रखा था। आगे चलकर जब वह सम्राट् हुआ था, तब उसने जो सिक्के बनवाए थे, उन पर यह गंगा का चिह्न नहीं मिलता। व्याघ्र रूपवाले सिक्के बहुत ही कम मिलते हैं; तो भी उनके जो नमूने मिले हैं, उनसे हम यह तो निश्चयपूर्वक कह सकते हैं कि इन सिक्कों के दो वर्ग थे अथवा ये दो बार अलग अलग बने थे। व्याघ्र शैलीवाले सिक्कों पर समुद्रगुप्त, अपने प्रपिता की तरह, सम्राट् पद के उपयुक्त जिरह-बक्तर आदि नहीं पहने है; और इससे भी यही सूचित होता है कि वाकाटकों के अन्यान्य करद तथा अधीनस्थ राजाओं की तरह उस समय समुद्रगुप्त भी संयुक्त प्रांत के सामान्य सनातनी हिंदू राजाओं की तरह रहता था। यदि हम यह मान लें कि चंद्रगुप्त प्रथम सन् ३२० से ३४० ई० तक राज्य करता था और राजा समुद्रगुप्त के व्याघ्र

शैलीवाले सिक्कों के लिये चार वर्ष का समय रखें तो हम सन् ३४४ ई० तक पहुँच जाते हैं जो समुद्रगुप्त के लिये विकट और संकट का समय था। चंद्रगुप्त प्रथम की उच्चाकांक्षाओं को फलवती होने से रोकने में, जान पड़ता है कि, प्रवरसेन का भी हाथ था और कोट वंश के जिस राजकुमार ने भागकर वाकाटक साम्राज्य की पंपानगरीमें आश्रय लिया था, उसे तथा कोटवंश को फिर से राज्यारूढ़ कराने में भी संभवतः उसने बहुत कुछ सहायता की थी। इसीलिये जब वाकाटक सम्राट् प्रवरसेन की मृत्यु हो गई, तब समुद्रगुप्त को मानों फिर से मगध पर अधिकार करने और पूर्ण रूप से स्वतंत्र होने का सबसे अच्छा और उपयुक्त अवसर मिला। और तथोक्त महाराजाधिराज चंद्रगुप्त प्रथम बराबर मगध पर फिर से अधिकार करने और स्वतंत्र होने की कामना रखता था, पर उसकी वह कामना पूरी नहीं हो सकी थी। पर समुद्रगुप्त ने उसकी उस कामना को पूरा करने का अवसर पाकर उससे लाभ उठाया। यहाँ हम इस बात की ओर भी पाठकों का ध्यान आकृष्ट कर देना चाहते हैं कि समुद्रगुप्त के व्याघ्र-शैली-वाले जो सिक्के हैं, उनसे यह सूचित नहीं होता कि लिच्छवियों के साथ भी उसका किसी प्रकार का संबंध था। उन सिक्कों पर न तो लिच्छवियों की सिंहवाहिनी देवी की ही आकृति है और न लिच्छवियों का नाम ही है। पर साथ ही समुद्रगुप्त अपने शिलालेखों में यह बात बराबर दोहराता है कि मैं लिच्छवियों का दौहित्र हूँ। राष्ट्रीय संघटन की दृष्टि से इसका महत्त्व इस बात में है कि समुद्रगुप्त भी उसी प्रकार स्वतंत्र होना चाहता था, जिस प्रकार लिच्छवी लोग किसी समय स्वतंत्र थे; और वह लिच्छवियों के विशाल राज्य का भी उत्तराधिकारी बनना चाहता था अथवा उस पर अधिकार करना चाहता था। उसके पुत्र चंद्रगुप्त

द्वितीय के समय में लिच्छवि-राजधानी में गुप्तों की ओर से एक प्रांतीय शासक रहने लगा था और उसकी उपाधि "महाराज" थी। इस प्रकार लिच्छवीप्रजातंत्र दबा दिया गया था; और जिस समय लिच्छवियों का दौहित्र भारत का सम्राट् हुआ था उससे पहले ही उनके प्रजातंत्र का अंत हो चुका था। इसके बाद हमें पता चलता है कि लिच्छवी-शासक नेपाल चले गए थे जहाँ उन्होंने सन् ३३०-३५० ई० के लगभग एक राज्य स्थापित किया था[१]। इससे यही प्रबल परिणाम निकलता है कि जिन लिच्छवियों के संरक्षण में चंद्रगुप्त प्रथम के, सिक्के बने थे, उन्हें वाकाटक सम्राट् ने सन् ३४० ई० के लगभग परास्त करके क्षेत्र से हटा दिया था। इसलिये समुद्रगुप्त के हिस्से वाकाटक राजवंश से राजनीतिक बदला चुकाने का बहुत बड़ा काम आ पड़ा था और यह बदला चुकाने में उसने कोई बात उठा नहीं रखी थी। इस प्रकार जो यह सिद्ध होता है कि सन् ३४८ ई० में या उसके लगभग प्रवरसेन की मृत्यु और समुद्रगुप्त का उदय हुआ था, उसका पूरा पूरा मिलान सभी ज्ञात तत्त्वों से हो जाता है।

लिच्छवियों का पतन-काल

९. वाकाटक साम्राज्य

§ ७० ऊपर वाकाटकों का जो काल-क्रम हमने निश्चित किया है, वह चंद्रगुप्त द्वितीय के ज्ञात समयों से मिलता है। चंद्रगुप्त द्वितीय ने एक नई नीति यह ग्रहण की थी कि जो राज्य किसी समय उसके वंश के शत्रु थे, उनके

चंद्रगुप्त द्वितीय और परवर्ती वाकाटक

---

१. फ्लीट कृत G. I. की प्रस्तावना, पृ० १३५।

साथ वह विवाह-संबंध स्थापित करता था; और इसी का यह परिणाम हुआ था कि उसने अपनी कन्याओं का विवाह वाकाटक शासक रुद्रसेन द्वितीय के साथ कर दिया था और कदंब-राजा की एक कन्या का विवाह अपने वंश के एक राजकुमार के साथ किया था[१]। स्वयं उसने भी कुबेर नागा के साथ विवाह किया था जो एक नाग राजकुमारी थी और जो प्रभावती गुप्ता की माता थी। ध्रुवदेवी भी और कुबेर नागा भी क्रमशः गुप्त और वाकाटक लेखों में महादेवी कही गई हैं। यदि ध्रुवदेवी, जिसके पूर्वजों का पता नहीं है, यही कुबेर नागा नहीं है, तो यही कहा जा सकता है कि चंद्रगुप्त द्वितीय ने सिंहासन पर बैठने के उपरांत शीघ्र ही उसके साथ विवाह किया था और तब ध्रुवदेवी के उपरांत कुबेर नागा महादेवी हुई होगी। जब नाग राजकुमारी के गर्भ से उत्पन्न एक राजकुमार उस वाकाटक राजवंश में चला गया, जो नागों का उत्तराधिकारी था, तब गुप्तों और वाकाटकों की पुरानी शत्रुता का अंत हो गया। इसके उपरांत वाकाटक फिर धीरे धीरे प्रबल होने लगे और नागों के अधीन उन्हें जितनी स्वतंत्रता मिली थी, उतनी और किसी दूसरे राज्य को नहीं मिली थी। प्रभावती की मृत्यु के उपरांत और गुप्त साम्राज्य का पतन हो जाने पर नरेंद्रसेन की अधीनता में वाकाटक लोग फिर बरार-मराठा-प्रदेश के, जिसमें कोंकण भी संमिलित था, सर्व-प्रधान राजा हो गए और उनका साम्राज्य कुंतल, पश्चिमी मालवा, गुजरात, कोशल, मेकल और आंध्र तक हो गया। हरिषेण के समय में भी उनके राज्य की यही सीमा बनी रही। पश्चिम में और दक्षिण में कदंब राज्य के कुंतल देश तक गुप्तों का जो राज्य था,

---

१. The Kadamba Kula, पृ० २१-२२।

वह पूरी तरह से नरेंद्रसेन और हरिषेण के अधिकार में आ गया था। इस विस्तृत प्रभुत्व का महत्व उस समय स्पष्ट हो जायगा, जब हम वाकाटक-सरकार का सविस्तार वर्णन करेंगे, जिसका पुराणों में पूरा पूरा वर्णन है और उसी के साथ जब हम यह भी वर्णन करेंगे कि गुप्तों ने दक्षिण में किस प्रकार और कहाँ तक विजय प्राप्त की थी और समुद्रगुप्त की अधीनता में किस प्रकार वहाँ का पुनर्घटन हुआ था। और इन सब बातों का भी पुराणों में पूरा पूरा उल्लेख है।

वाकाटक-साम्राज्य-काल

§ ७१. वाकाटक-काल के तीन मुख्य विभाग हैं—(१) साम्राज्य-काल (२) गुप्तों के समय का काल और (३) गुप्तों के बाद का काल (नरेंद्रसेन से लेकर हरिषेण के समय तक और संभवतः उसके उपरांत भी)।

§ ७२. वाकाटक-साम्राज्य का आरंभ प्रवरसेन प्रथम के शासन-काल से होता है और रुद्रसेन प्रथम के शासन के साथ उसका अंत होता है। परंतु समुद्रगुप्त के प्रथम युद्ध के कारण (§१३२) रुद्रसेन प्रथम को इतना समय ही नहीं मिला था कि वह अपने वाकाटक प्र-पिता का सम्राट् पद ग्रहण कर सकता। सम्राट् प्रवरसेन के सिक्के पर संवत् ७६ अंकित मिलता है जिससे जान पड़ता है कि उसने अपने राज्य का आरंभ अपने पिता के समय से ही मान लिया था; क्योंकि स्वयं उसने केवल ६० वर्षों तक ही शासन किया था। समुद्रगुप्त ने भी गुप्त राज्य-वर्षों की गणना करते समय[१] इसी प्रकार अपने पिता के

---

१ मिलाओ G. I. पृ० ९५—अब्द-शते गुप्त-नृप-राज्य-भुक्तौ।

राज्याभिषेक के काल से आरंभ किया था और प्रवरसेन प्रथम के उदाहरण का अनुकरण किया था।

§ ७३. वाकाटकों की साम्राज्य-संघटन की प्रणाली यह थी कि वे अपने पुत्रों तथा संबंधियों को अपने भिन्न भिन्न प्रांतों के शासक नियुक्त करते थे और यह प्रणाली उन्होंने नाग साम्राज्य से ग्रहण की थी। विशेषतः इस विषय में पुराणों में बहुत सी बातें दी हुई हैं। उनमें कहा है कि प्रवरसेन के चार लड़के प्रांतों के शासक नियुक्त हुए थे; तीन वंश ऐसे थे, जिनके साथ उनका विवाह-संबंध स्थापित हुआ था और एक वंश उनके वंशजों का था जो इन चार केंद्रों से शासन करते थे—माहिषी, मेकला, कोसला और विदूर[1]। यहाँ माहिषी से अभिप्राय उसी माहिष्मती से है जो नर्मदा के किनारे नीमाड़ के अँगरेजी जिले और इंदौर राज्य के नीमाड़ जिले के बीच में है[2]। यह पश्चिमी मालवा प्रांत की राजधानी थी। बरार के आस-पास के प्रदेशों का तीसरे वाकाटककाल में फिर इसी प्रकार विभाग हुआ था—कोसला, मेकला और

वाकाटक-साम्राज्य-संघटन

---

१. विंध्यकानाम् कुलानाम् ते नृपा वैवाहिकास्त्रयः। —ब्रह्मांड०। इसमें के वैवाहिकाः शब्द का पाठ दूसरे पुराणों में भूल से वै वाह्लीकाः और वै वाहिकाः दिया है। यह भूल है तो विलक्षण, पर सहज में समझ में आ जाती है। वैवाहिकाः के उन्होंने दो अलग अलग शब्द मान लिए थे—वै और वाहिकाः, और तब उन्होंने वाहिकाः का संस्कृत वाहलीकाः और बाहलीकाः बना लिया था।

२ देखो J. R. A. S. १६१०, पृ० ४४४, जहाँ इसके ठीक स्थान का निर्देश किया गया है।

मालव[1]। इन सभी प्रांतों के संबंध में पुराणों में यह बतलाया गया है कि इनमें कौन कौन से शासक थे और उन्होंने कुल कितने दिनों तक शासन किया था, जिसका अभिप्राय यही होता है कि इनका अंत भी वाकाटक-साम्राज्य-काल के अंत के साथ ही साथ अर्थात् समुद्रगुप्त की विजय के समय आकर होता है।

§ ७३. क—इन चार प्रांतीय राजवंशों में से मेकला में शासन करने वाले राजवंश को वायु-पुराण में विशेष रूप से विंध्यकों के वंशजों का वंश कहा गया है। यथा—

वाकाटक प्रांत, मेकला आदि

मेकलायाम् नृपाः सप्त भविष्यन्तीः सन्ततिः[2]।

भागवत में और विष्णुपुराण की कई प्रतियों में भी मेकल के इन राजाओं को, जिनकी संख्या सात थी, सप्तांध्र या

---

१ बालाघाट के प्लेट E. I. खंड ६, पृ० २७१। प्रो० कील हार्न ने समझा था कि कोसला और मेकला रूप अशुद्ध हैं और इसीलिये उन्होंने इनके स्थान पर कोसला और मेकल शब्द रखे थे। परंतु पुराणों के मूल पाठ से सूचित होता है कि शिलालेखों में इन शब्दों के जो रूप दिए हैं, वही ठीक हैं और वाकाटकों के समय में इनके यही नाम थे।

२. P. T. पृ० ५१, टिप्पणी १७। अधिकांश हस्तलिखित प्रतियों और उन सब प्रतियों में, जिन्हें विलसन और हाल ने देखा था, यही पाठ मिलता है। (V. P. ४, पृ० २१४-१५.) इनका सत्तमाः पाठांतर अशुद्ध और निरर्थक है।

(आंध्र देश के सात राजा) कहा गया है[1]। जान पड़ता है कि मेकल का प्रांत आज-कल की मैकल पर्वत-माला[2] के दक्षिण से आरंभ होकर एक सीधी रेखा में आज-कल की बस्तर रियासत को पार करता हुआ चला गया था जहाँ से आंध्र देश आरंभ होता है। इसके पूर्व में कोसला का प्रांत था अर्थात् उड़ीसा और कलिंग के करद राज्यों का प्रांत था। यहाँ यह बात भी ध्यान में रखनी चाहिए कि रायपुर से बस्तर तक के प्रदेश में बराबर नागों की बस्ती के चिह्न मिलते हैं; और यहीं दसवीं शताब्दी से लेकर इधर के परवर्ती नागवंशों के शिलालेख आदि बहुत अधिक संख्या में मिलते हैं। शेष मध्य प्रदेश के साथ साथ यह प्रांत भी नाग-साम्राज्य का एक अंश था। आगे चलकर जब दक्षिणी इतिहास का विवेचन किया जायगा और पल्लवों के संबंध की बातें बतलाई जायँगी (§ १७३ और उसके आगे) तब यह भी बतलाया जायगा कि ये नाग लोक विंध्यकों अथवा विंध्यशक्ति के वंशजों की किस शाखा के थे। यहाँ केवल इतना बतला देना यथेष्ट है कि विंध्यक लोग आंध्र देश के शासक थे, उनके मेकल प्रांत में आंध्र भी सम्मिलित था और इस वंश की एक शाखा वहाँ करद और अधीनस्थ वंश के रूप में बस गई थी जिसने सात पीढ़ियों तक राज्य किया था। शेष तीनों वंशों के शासक कुल इस वर्णन के अंतर्गत आते हैं—विवाह-संबंध द्वारा स्थापित राजवंश (वैवाहिकाः)[3]। नैषध प्रांत पर एक ऐसे

---

१. P. T. पृ० ५१, टिप्पणी १६।

२. J. B. O. R. S. १८, ६८।

३ विष्णुपुराण के कर्त्ता ने वायुपुराण का यह अंश पढ़ने में भूल की थी और महीषी राजाओं को मेकला राजाओं के वर्ग में मिला दिया था

राजवंश का अधिकार था जो अपने आपको नल का वंशज बत-लाता था। उनकी राजधानी विदूर में थी जो आज-कल का बीदर

जिनमें वैवाहिकाः (इसे भूल से वाह्लीकाः पढ़ा था) भी सम्मिलित थे और विंध्यशक्ति के वंशज भी थे (मिलाओ टीकाकार—तत्पुत्राः विंध्य-शक्त्यादीना पुत्राः) । विष्णुपुराण का पाठ इस प्रकार है—तत्पुत्राःत्रयो-दशैव वाह्लीकाः त्रयः ततः पुष्यमित्रपड्मित्रपद्ममित्रास त्रयोदशा । मेकलाश्च (विलसन कृत V. P. ४, २१३)। इसमें संततिः शब्द का संबंध मूलतः मेकलों से था और त्रय पुष्यमित्रवर्ग के 'दश' अंक का (§ ७४) प्रयोग उन राजाओं के लिये किया गया था जो वायुपुराण के पाठ में विंध्यशक्ति के बाद और मेकलों के पहले थे। अर्थात् इन दोनों शब्दों को उसने तीन वाह्लीकों (वस्तुतः वैवाहिकों) और दस पुष्यमित्रों, पड्मित्रों और पद्ममित्रों के साथ मिला दिया था। और जब इस प्रकार तेरह की संख्या पूरी हो गई, तब मेकलों के संबंध में, जो वास्तव में वंशज थे, लिख दिया—और मेकल भी (मेकलाश्च)। भागवत में भी विष्णुपुराण का ही अनुकरण किया गया और उसका कर्त्ता १३ संतानों का उल्लेख करके रह गया। इससे यह स्पष्ट जान पड़ता है कि विष्णुपुराण के कर्त्ता को मेकलों के बाद और उनके साथ 'सतति' शब्द मिला था।

विष्णुपुराण ने सप्त को कोशला के साथ मिला दिया—सप्तकोस-लाया। (टीकाकार ने भी यही पाठ ठीक मान लिया था।) विलसन की हस्तलिखित प्रति में भी यही पाठ मिला था। (देखो जे० विद्या-सागर का संस्करण पृ० ५८४. विलसन ४, २१३–१४)। भूमिका में वायुपुराण इसे पंचकोसलाः कहता है—वैदिशाः पंचकोशलाः; पर मेकलाः कोसलाः का उल्लख वह अलग करता है (पारजिटर कृत P. T. पृ० ३)। इन दोनों के मिलाने पर सप्तकोसलाः के सात प्रांत

जान पड़ता है और जो निजाम राज्य की पुरानी राजधानी है। वैदूर्य सतपुड़ा पर्वत है। महीषी के शासकों के दो वर्ग थे—एक तो महिषियों के स्वामी थे जो राजा कहलाते थे और दूसरे पुष्य-मित्र थे जिनके साथ दो और समाज थे और जो राजा नहीं कह-लाते थे। ये भी उन्हीं महीषियों अर्थात् पश्चिमी मालवा के निवा-सियों के अंतर्गत हैं जिसे परवर्त्ती वाकाटक शिलालेखों आदि में मालव कहा है। ये प्रजातंत्री महीषी लोग संभवतः इसी राजा के अधीन थे जो वाकाटकों के करद और अधीनस्थ थे।

§ ७४. अब हम इन केंद्रों पर अलग अलग विचार करते हैं। महीषी के एक राजा का नाम सुप्रतीक नभार दिया है जो शाक्य-मान का पुत्र था[१]। वह महीषियों का राजा और देश का स्वामी था[२]। इस राजा के सिक्के भी मिले हैं। उन सिक्कों पर लिखा है—महाराज श्री प्र (ति) तकर।

महीषी और तीन मित्र प्रजातंत्र

प्रो० रैप्सन ने, जिन्होंने इन सिक्कों के चित्र प्रकाशित किए थे[३], बतलाया था कि ये सिक्के नागों के सिक्कों के अंतर्गत हैं[४]। पुराणों

पूरे हो जाते हैं। महाभारत में भी इस प्रांत के दो विभागों का उल्लेख है जिनके नाम के साथ कोसल है (सभापर्व ३१, १३)। (कोसल का राजा, वेण तट का राजा, कांतारक और पूर्वी कोसलों का राजा)।

१—२. सुप्रतीको नभारस्तु समा भोक्ष्यति त्रिंशतिं।
शाक्यमानभवो राजा महीषीनाम् महीपतिः॥
P. T. ५०, ५१, टिप्पणी ६, १०।

३. J. R. A. S. १९००, पृ० ११६। प्लेट चित्र १६ और १७।

४. उन्होंने इसे महाराज श्री प्रभाकर पढ़ा था। जिस अक्षर को उन्होंने भ पढ़ा था, वह मेरी समझ में त है। सिक्कों पर के लेखों

की आज-कल की हस्तलिखित प्रतियों में यह नाम इस प्रकार लिखा मिलता है—सुप्रतीकन भार (=भारशिव)। इसमें का न भूल से र के बदले में पढ़ा गया है, जैसा कि पौरा को भूल से मौना पढ़ा गया है और जिसका उल्लेख विष्णुपुराण के टीकाकार ने किया है[1]। इसका शुद्ध पाठ था—सुप्रतीकर भार। कहा गया है कि इसने ३० वर्षों तक राज्य किया था। इस क्षेत्र में, जो महीषी केंद्र के अंतर्गत था, तीन जातियाँ बसती थीं जिन तीनों के नामों के अंत में 'मित्र' शब्द था। विष्णुपुराण में उनके नाम इस प्रकार दिए गए हैं—पुष्यमित्र पटुमित्र पद्ममित्रास्त्रयः। भागवत में लिखा है—पुष्यमित्र (अर्थात् राष्ट्रपति) राजन्य जो एक प्रकार के प्रजातंत्री राष्ट्रपति का पारिभाषिक नाम है[2]। विष्णुपुराण में जो तीन जातियों या समाजों के नाम दिए गए हैं और ब्रह्मांड पुराण में जो त्रिमित्रों का उल्लेख है[3], उससे हमें यह मानना पड़ता है कि उनका राज्य तीन भागों में विभक्त था और उनमें एक के बाद एक इस प्रकार दस राजा गद्दी पर बैठे थे। वायुपुराण में जो 'त्रयोदशाः' पद आया है, उसका यह अर्थ हो सकता है कि

में ि की मात्रा या चिह्न प्रायः छूटा हुआ मिलता है। उस समय भ और त में बहुत कम अंतर होता था और उनकी आकृति इतनी मिलती थी कि भ्रम हो सकता था।

१. विद्यासागर का संस्करण, पृ० ५८४।

२. देखो जायसवाल कृत हिंदू-राज्यतंत्र, पहला खंड, पहला भाग, पृ० ५६।

३. ब्रह्मांड पुराण में जो षट्स्त्रिमित्राः दिया है, उसके संबंध में यह माना जा सकता है कि पटु त्रिमित्राः को भूल से इस रूप में पढ़कर लिखा गया है।

उन तीनों राज्यों में दस शासक या दस राष्ट्रपति हुए थे। दूसरी हस्तलिखित प्रतियों में त्रयोदश के स्थान पर तथैव च[1] पाठ है; और इससे यह भी सूचित हो सकता है कि महीषी के मुख्य शासकों की तरह उन्होंने भी तीस वर्षों तक राज्य किया था। इनके राज्य का कोई अलग स्थान नहीं बतलाया गया है और इसी लिये हम समझते हैं कि वे पश्चिमी मालवा में थे। परवर्त्ती अर्थात् गुप्त काल में ये लोग आवन्त्य कहे गए हैं जो या तो आभीरों के अधीन थे और या उनके संघ में थे (§ १४५ और उसके आगे)। यह बात बहुत प्रसिद्ध है कि कुमारगुप्त के समय में पुष्यमित्र लोग इतने बलवान् हो गए थे कि उन्होंने उस सम्राट् पर बहुत भीषण आक्रमण किया था। यहाँ प्रजातंत्री राष्ट्रपतियों या राजन्यों के राज्यारोहण का उल्लेख है, इसलिये उनकी दस की संख्या का अर्थ यह है कि प्रत्येक राष्ट्रपति या राजन्य तीन वर्ष तक शासन करता था। जान पड़ता है कि इस मालवा प्रांत पर वाकाटकों ने सन् ३००-३१० ई० के लगभग अधिकार प्राप्त किया था।

मेकला

§ ७५. मेकला में ७० वर्षों में[2], अर्थात् लगभग सन् २७५ से ३४५ ई० तक, सात शासक हुए थे। जान पड़ता है कि यह प्रदेश वाकाटकों के हाथ में विंध्यशक्ति के समय में आया था। मेकला के शासक, जो विंध्यक वंश की एक शाखा में से थे, आंध्र देश के राजा थे[3]। आंध्र देश के इतिहास से, जो आगे

---

१. V. P. विलसन ४.२१४. पारजिटर P. T. ५१. टिप्पणी १४।

२. ब्रह्मांड पुराण के सप्ततिः पाठ के अनुसार।

३. P. T. ५१, टिप्पणी १६।

दक्षिण भारत के इतिहास के अंतर्गत दिया गया है, इस काल का पूरा पूरा समर्थन होता है जो हमें पुराणों से इन शासकों के संबंध में मिलता है।

§ ७६. वाकाटकों के समय में कोसला में एक के बाद एक इस प्रकार नौ शासक हुए थे, पर भागवत के अनुसार इनकी संख्या सात ही है। ये लोग मेघ कहलाते थे। संभव है कि ये लोग उड़ीसा तथा कलिंग के उन्हीं चेदियों के वंशज हों जो खारवेल के वंशधर थे और जो अपने साम्राज्य-काल में महामेघ कहलाते थे। अपनी सात या नौ पीढ़ियों के कारण ये लोग मूलतः विंध्यशक्ति के समय तक, जब कि आंध्र पर विजय प्राप्त की गई थी, अथवा उससे भी और पहले भारशिवों के समय तक जा पहुँचते हैं। विष्णुपुराण के अनुसार कोसला प्रदेश के सात विभाग थे (सप्त कोसला)। पुराणों में कहा गया है कि ये शासक बहुत शक्तिशाली और बहुत बुद्धिमान् थे। गुप्तों के समय में मेघ लोग हमें फिर कौशांबी के शासकों या गवर्नरों के रूप में मिलते हैं जहाँ उनके दो शिलालेख मिले हैं[1]।

कोसला

§ ७६ क. बरार (नैषध देश) और उसकी राजधानी विदूर (उत्तरी हैदराबाद का बीदर) नल-वंश के अधिकार में थी और इस वंशवाले बहुत वीर तथा बलवान् थे। कदाचित् विष्णुपुराण को छोड़कर और कहीं इस बात का उल्लेख नहीं है कि इनमें कितने राजा हुए थे और विष्णुपुराण की अधिकांश

नैषध या बरार देश

---

[1] E. I. १९२५ पृ०, १५८।

प्रतियों में इनकी भी नौ ही पीढ़ियों का उल्लेख है[1]। उनके आरंभ या अंत का वर्णन इस प्रकार किया गया—भविष्यंति आ मनुक्षयात् (अर्थात् ये लोग तब तक बने रहेंगे जब तक मनु के वंशज इनका क्षय न करेंगे)। और इसका दूसरा अर्थ यह है कि मनुओं का क्षय हो जाने पर ये लोग होंगे। यदि दूसरा अर्थ ही लिया जाय तो इनका उदय मनुओं का अंत होने पर हुआ था; और मनुओं से यहाँ अभिप्राय हारीतीपुत्र मानव्यों से है; और ये उसी वंश के लोग हैं जिन्हें आज-कल की पाठ्य पुस्तकों में चुटु राजवंश कहा जाता है (देखो चौथा भाग § १५७. और उसके आगे) और इस विचार से इनका उदय लगभग सन् २७५ ई० से ठहरता है। अब यदि पहलेवाला अर्थ लिया जाय तो उसका अभिप्राय यह होगा कि बरार के वंश का नाश मानव्य कदंबों ने किया था जो सन् ३४५ ई० के लगभग हुआ होगा। चेटुओं का जो काल-क्रम हमें ज्ञात है (देखो आगे• चौथा भाग) तथा वाकाटकों और गुप्तों का जो कालक्रम हम लोग जानते हैं, उससे ऊपर के दोनों ही अर्थों क मेल मिलता है। यदि हम वायुपुराण का पाठ[2] ठीक मानें तो हमें पहला ही अर्थ ठीक मानना पड़ता है; अर्थात् यह मानना पड़ता है कि चुटु मानव्यों का नाश होने पर नलों का उदय हुआ था। और उनका यह उदय उसी समय हुआ था जब कि विंध्यशक्ति के समय में आंध्र पर विजय प्राप्त की गई थी। शातवाहनों का अंत होने पर जो राज्य बने थे,

---

१. 'तावन्त एव' (इतना) पाठ के स्थान पर तत एव (उपरांत) पाठ भी मिलता है।

२. पारजिटर P. T. ५१ टिप्पणी २४. भविष्यति मनु (क्ष्) शयात्।

जान पड़ता है कि भार-शिवों के सेनापति के रूप में विंध्यशक्ति ने उन सबका अंत कर दिया था। नैषध वंश का अंत समुद्रगुप्त की विजय के समय हुआ था। यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि इनमें क्रम से नौ राजा सिंहासन पर बैठे थे या इससे कम।

पुरिका और वाकाटक साम्राज्य

§ ७७. संभवतः पुरिका के अधीन नागपुर, अमरावती और खानदेश की सरकार रही होगी। प्रवीर पुरिका और चानका दोनों का ही शासक था अर्थात् पश्चिमी मध्यप्रदेश और बुंदेलखंड दोनों ही उसके स्व-राष्ट्र विभाग के अधीन थे। मालवा प्रांत नाग वंश के अधीन था जिसकी राजधानी माहिष्मती में थी। पूर्वी और दक्षिणी बघेलखंड, सरगुजा, बालाघाट और चाँदा सब मेकला के शासकों के अधीन थे और उड़ीसा का पश्चिमी विभाग तथा कलिंग कोसला के शासकों के अधीन थे। यदि प्रांतीय गवर्नरों के अधीनस्थ प्रदेशों का ऊपर दिया हुआ नकशा हरिषेण की सूची (कुंतल-अवंती-कलिंग-कोसल-त्रिकूल-लाट-आंध्र[1] ·········) से मिलाया जाय तो यह पता चलेगा कि कुंतल बाद में मिलाया गया था जिस पर स्वामित्व के अधिकार की स्थापना पृथ्वीषेण प्रथम के समय से लेकर आगे बराबर कई बार की गई थी। लाट देश माहिष्मती साथ आरंभिक वाकाटक काल में मिलाया गया होगा। सन् ५०० ई० के लगभग तो वह अवश्य ही उन लोगों के अधीन था।

---

१. § ६१ क।

§ ७८. पूर्वी पंजाब में सिंहपुर का करद राजवंश था और ये लोग जालंधर के राजा थे। यह सिंहपुर एक प्राचीन नगर था जिसमें किलेबंदी थी और इस नगर का उल्लेख महाभारत में भी है[1]। इस वंश का एक शिलालेख[2] देहरादून जिले में यमुना नदी के आरंभिक अंश के पास लक्खा-मंडल नामक स्थान में मिला है, जिससे प्रमाणित होता है कि गुप्तों के समय में उनका राज्याधिकार शिवालिक तक था। सिंहपुर राज्य के करद तथा अधीनस्थ शासकों के इस वंश की स्थापना संभवतः सन् २५० ई० के लगभग हुई होगी, क्योंकि शिलालेख में उनकी बारह पीढ़ियों का उल्लेख है[3]। उनके समय से सूचित होता है कि उनके वंश का

सिंहपुर का यादव वंश

---

१. इसका नाम त्रिगर्त्त और अभिसार आदि के साथ आया है। सभापर्व, अ० २६, श्लोक २०।

२. E. I. १, १०. बुहलर ने तो इस शिलालेख का समय ईसवी सातवीं शताब्दी बताया है (E. I. खंड १, पृ० ११) पर राय-बहादुर दयाराम साहनी का मत है कि यह शिलालेख ई० छठी शताब्दी का है। (E. I. खंड १८, पृ० १२५) और मैं श्री साहनी के मत का ही समर्थन करता हूँ।

३. इनकी वंशावली इस प्रकार है—१ सेन वर्म्मन्, २ आर्य वर्म्मन्, ३ दत्त वर्म्मन्, ४ प्रदीप्त वर्म्मन्, ५ ईश्वर वर्म्मन्, ६ वृद्धि वर्म्मन्; ७ सिंह वर्म्मन्, ८ जल, ९ यज्ञ वर्म्मन्, १० अचल वर्म्मन् समरघंघल, ११ दिवाकर वर्म्मन् महीघंघल, १२ भास्कर ऋपु घंघल (E. I. १. ११) इनमें से नं० १ से ११ तक तो बराबर एक के पुत्र हैं और नं० १२ वाले नं० ११ के भाई हैं।

आरंभ भार-शिवों के अंतिम समय में और वाकटकों के आरंभिक समय में हुआ होगा। ये लोग यादव थे और शिलालेख में कहा गया है कि ये लोग देश के उस विभाग में युग (कलियुग) के आरंभ से ही बसे हुए थे। महाभारत सभापर्व, १४, श्लोक २५ और उसके आगे इस बात का उल्लेख है कि उस समय यादव लोग मथुरा छोड़कर चले गये थे; और उनके इस देशांतर-गमन से शिलालेख की उक्त बात का समर्थन भी होता है। जिस समय यादव लोग मथुरा, शूरसेन और उसके आस-पास के प्रदेश छोड़कर पंजाब में जा बसे थे, उसी समय शाल्व और कुणिंद लोग भी मथुरा से चलकर पंचाब में जा बसे थे। जान पड़ता है कि टक्क लोग, जो बाद में शाल्व देश से चलकर मालवा में जा बसे थे, सिंहपुर के यादव और मथुरा के यादव नाग सब एक ही बड़ी यादव जाति की शाखाओं में से थे और इसी से यह रहस्य भी खुल जाता है कि मथुरा के प्रति इन लोगों का इतना अधिक प्रेम क्यों था। इस प्रकार सिंहपुर का वंश भार-शिवों के वंश से संबद्ध था। वाकाटकों ने भी यह संबंध बनाए रखा था। जान पड़ता है कि नाग सम्राटों ने कुशनों को पीछे हटाने के लिये ही सिंहपुर राज्य की स्थापना की थी और इस काम में यह राज्य किले का काम देता था। सिंहपुर के आरंभिक राजाओं के संबंध में शिलालेख में कहा है कि उनमें आर्यव्रतता और वीरता यथेष्ट थी। भार-शिवों की तरह वे लोग भी शैव थे। उनका राज्य कम से कम युवानच्वंग के समय (सन् ६३१ ई०) तक अवश्य वर्त्तमान था, क्योंकि उसने इसका उल्लेख किया है। जान पड़ता है कि गुप्तों ने इस राज्य को इसलिये बना रहने दिया था कि एक तो यहाँ के राजवंश का महत्त्व अधिक था और दूसरे भार-शिवों के समय में कुशनों को उत्तरी आर्यावर्त्त से

पीछे हटाने में इनसे बहुत सहायता मिली होगी। पुराणों में इनका उल्लेख नहीं है, क्योंकि ये लोग वाकाटकों के आर्यावर्त्तीय साम्राज्य में थे जो उत्तराधिकार-रूप में उन्होंने भार-शिवों से प्राप्त किया था। सिंहपुर अर्थात् जालंधर के राजाओं ने कभी अपने सिक्के नहीं चलाए थे। मद्र लोग सिंहपुर राज्य के पश्चिम में थे।

§ ७६. सन् २८० ई० के लगभग कुशन लोग दो ओर से भारी विपत्ति में पड़े थे। वरहान द्वितीय ने, जो सन् २७५ से

वाकाटक काल में कुशन

२६२ ई० तक सासानी सिंहासन पर था, सीस्तान को अपने अधीन कर लिया था। हम यह भी मान सकते हैं कि जिस प्रवरसेन प्रथम ने चार अश्वमेध यज्ञ किए थे और जिसने कम से कम चार बार बड़ी बड़ी चढ़ाइयाँ की होंगी, उसने कुशन शक्ति को दुर्बल और नष्ट करनेवाली भार-शिवों की नीति का अवश्य ही पालन किया होगा। सन् ३०१ और ३०६ ई० के बीच में कुशन लोग हुर्मजद द्वितीय के संरक्षण और शरण में चले गए थे, क्योंकि हुर्मजद द्वितीय ने काबुल के राजा अर्थात् कुशन राजा की कन्या के साथ विवाह किया था। यह ठीक वही समय था जब कि प्रवरसेन प्रथम बहुत प्रबल हो रहा था और इसी समय कुशन राजा ने भारत को छोड़ दिया था और यहाँ से उसके साम्राज्य की राजधानी सदा के लिये उठ गई थी। वह अपनी रक्षा के लिये भारत से पीछे हटकर अफगानिस्तान में चला गया था और उसने अपने आपको पूरी तरह से सासानी राजा के हाथों में सौंप दिया था। पश्चिमी पंजाब में उस समय उसका जो थोड़ा-बहुत राज्य किसी तरह बचा रह गया था, उसका कारण यही था कि उसे सासानी राजा का संरक्षण प्राप्त था। और उसे

इस संरक्षण की आवश्यकता केवल हिंदू सम्राट प्रवरसेन प्रथम के भय से ही थी।

§ ८०. जब समुद्रगुप्त क्षेत्र में आया और उसने रुद्रसेन को परास्त किया, तब उसने वाकाटकों का सारा साम्राज्य, जिसमें उत्तरवाला माद्रकों का राज्य भी संमिलित था, एक ही हल्ले में अपने अधिकार में कर लिया। माद्रकों ने भी तब बिना युद्ध किए चुपचाप उसकी अधीनता स्वीकृत कर ली थी; और इससे यह बात सूचित होती है कि वे लोग भी वाकाटकों के साम्राज्य के अंतर्गत और अंग ही थे। जालंधर में यादवों के जो नए राजवंश का उदय हुआ था, उसका कारण यही था कि पूर्वी पंजाब में भी वाकाटक साम्राज्य था। इसी बात से यह पता भी चल जाता है कि परवर्त्ती भार-शिव काल और वाकाटक काल में माद्रक देश और पूर्वी भारत के साथ क्यों घनिष्ठ संबंध था और आदान-प्रदान आदि क्यों होता था। जो गुप्त लोग सन् २५०–२७५ ई० के लगभग बिहार में पहुँचे थे वे, जैसा कि हम आगे चलकर (§ ११२) बतलावेंगे, मद्र देश से ही आए थे। मद्र देश के साथ जो यह संबंध था, उसी के कारण इतनी दूर पाटलिपुत्र में भी चंद्रगुप्त प्रथम के समय कुशन शैली के सिक्के ढलते थे जिससे मुद्राशास्त्र के एक ज्ञाता (मि० एलन) इतने चक्कर में पड़ गए हैं कि वे यह मानने के लिये तैयार ही नहीं हैं कि चंद्रगुप्त प्रथम के सिक्के स्वयं उनके बनवाए हुए ही हैं; बल्कि वे इस परिणाम पर पहुँचे हैं कि ये सिक्के उसके बाद उसके लड़के ने पंजाब पर विजय प्राप्त करने के उपरांत बनवाए थे[1]।

वाकाटक और पूर्वी पंजाब

---

१. एलन-कृत Catalogue of the Coins of the Gupta Dynasties, पृ० ६४ और उसके आगे।

भार-शिव काल में जो फिर से सिक्के बनने लगे थे और कुशनों के इतिहास तथा जालंधर राज्य की स्थापना के संबंध में जो बातें बतलाई गई हैं, उनका ध्यान रखते हुए इस बात में कोई संदेह नहीं रह जाता कि वाकाटक-साम्राज्य में माद्रक देश भी संमिलित था।

राजपूताना और गुजरात
वहाँ कोई क्षत्रप नहीं था

§ ८१. यही बात राजपूताने और गुजरात की रियासतों के संबंध में भी कही जा सकती है। समुद्रगुप्त के शिलालेख में पश्चिमी और पूर्वी मालवा के जिन प्रजातंत्री समाजों की सूची दी है, उनमें आभीरों का नाम सबसे पहले आया है और मालव-आर्जुनायन - यौधेय - माद्रकवाले वर्ग में मालवों का नाम सबसे पहले आया है। मालव से माद्रक तक का

मि० एलन के इस सिद्धांत के संबंध में यह बात ध्यान में रखने की है कि कोई हिंदू कभी अपने पिता और माता का विवाह करने का विचार भी न करेगा। चंद्रगुप्त प्रथम के इन सिक्कों पर यह अंकित है कि चंद्रगुप्त अपनी पत्नी के साथ प्यार कर रहा है और इस प्रकार के सिक्के स्वयं चंद्रगुप्त प्रथम के बनवाए हुए हो सकते हैं।

जैसा कि ऊपर बतलाया जा चुका है, अपने पाटलिपुत्र वाले सिक्कों से पहले चंद्रगुप्त प्रथम ने जो सिक्के बनवाए थे, उनके चित्र कनिंघमकृत Coins of Ancient India प्लेट ७ के अंक १-२ पर दिए हुए हैं। ये सिक्के उस समय बनवाए गए थे जिस समय वह भार-शिव वाकाटक साम्राज्य के अधीन था। इन सिक्कों पर त्रिशूल अंकित है जो भार-शिवों का चिह्न था। कनिंघम का मत है कि उस पर रुद्रगुप्तस लिखा है (पृ० ८१)। पर इसका पहला अक्षर च है और इसका समर्थन इस बात से होता है कि उस च के ऊपर अनुस्वार है। अंतिम अक्षर स नहीं बल्कि स्य है।

वर्ग दक्षिण से उत्तर की ओर अर्थात् दक्षिणी राजपूताने से एक के बाद एक होता हुआ पंजाब तक पहुँचता है और आभीरोंवाला वर्ग सुराष्ट्र से आरंभ होकर गुजरात तक पहुँचता है जिसमें मालवों के दक्षिण के पासवाला प्रदेश भी संमिलित है; और इस वर्ग के देश पश्चिम से पूर्व की ओर एक सीधी रेखा में हैं (§ १४५)। जैसा कि हम आगे चलकर इस ग्रंथ के दूसरे भाग में बतलावेंगे, यह ठीक वही स्थिति है जो पुराणों में आगे चलकर इसके बादवाले गुप्त साम्राज्य के काल के आरंभ में सुराष्ट्र-अवंती के आभीरों की बतलाई गई है। वाकाटक काल में काठियावाड़ या गुजरात में शक क्षत्रप बिलकुल रह ही नहीं गए थे। वे लोग वहाँ से निकाल दिए गए थे और पुराणों के अनुसार वे लोग केवल कच्छ और सिंध में ही बच रहे थे (तीसरा भाग § १४८)। प्रजातंत्री भारत ने, जिसने भार-शिव काल में अपने सिक्के फिर से बनवाने आरंभ किए थे बिना किसी युद्ध के समुद्रगुप्त को सम्राट् मान लिया था। बातें तो सब हो ही चुकी थीं; अब तो उनके लिये उन्हें मान लेना भर बाकी रह गया था, और इस प्रकार उन्होंने वे बातें मान भी ली थीं। जब गुप्त सम्राट् ने वाकाटक सम्राट् का स्थान ग्रहण किया, तब प्रजातंत्री भारत ने स्वभावतः उसी प्रकार गुप्तों का प्रभुत्व मान लिया, जिस प्रकार उन्होंने वाकाटकों का प्रभुत्व मान लिया था। उन्होंने स्वीकृत कर लिया कि गुप्त सम्राट् ही भारत के सम्राट् हैं।

दक्षिण

§ ८७. उस समय के दक्षिण भारत का इतिहास इस ग्रंथ में अलग (देखो चौथा भाग) दिया गया है; परंतु वाकाटकों और गुप्तों का इतिहास तथा दक्षिण के साथ उनके संबंध का ठीक ठीक स्वरूप दिखलाने के लिये पहले से ही यहाँ भी

कुछ बातें बतला देना आवश्यक जान पड़ता है। अपने साम्राज्य के जिस भाग में वाकाटकों का प्रत्यक्ष रूप से शासन होता था, उसकी सीमा कुंतल की सीमा से मिलती थी। बाद में कुंतल-कर्णाट के प्रबल कदंब राज्य का उत्थान होने पर उसके साथ वाकाटकों के प्रायः जो झगड़े हुआ करते थे, उन्हीं से यह बात प्रमाणित हो जाती है कि दोनों की सीमाएँ मिलती थीं। कुंतल के पड़ोसी होने के लिये यह आवश्यक था कि वाकाटकों का प्रत्यक्ष शासन कोंकण तथा दक्षिणी मराठा रियासतों के क्षेत्र पर होता; और इसका अभिप्राय यह है कि उनका राज्य अवश्य ही बालाघाट पर्वत-माला के उस पार तक पहुँच गया होगा। पूर्व ओर-वाले प्रदेश में आंध्र लोग थे और वे भी वाकाटकों के अधिकार-क्षेत्र के अंतर्गत थे; और कलिंग तथा कोसलवाले भी वाकाटकों का प्रभुत्व मानते थे और उनके अधीन थे। प्रवरसेन प्रथम के समय से पहले और लगभग विंध्यशक्ति के समय में पल्लवों ने आंध्र देश में अपना एक राज्य स्थापित किया था। विंध्यशक्ति की तरह पल्लव भी भारद्वाजगोत्रीय ब्राह्मण थे। उन्होंने भी प्रवरसेन की तरह उसी के समय के लगभग अश्वमेध और वाजपेय आदि यज्ञ किए थे और दक्षिणापथ के सातवाहन सम्राटों के साम्राज्य पर अधिकार करने का प्रयत्न किया था। यहाँ भी उसी प्रकार इतिहास की पुनरावृत्ति हो रही थी, जिस प्रकार पुष्यमित्र शुंभ और शातकर्णि (प्रथम) शातवाहन के समय में हुई थी। पुराणों में पल्लव लोग आंध्र राजा या आंध्र देश के राजा कहे गए हैं, जो आंध्र सहित मेकला पर राज्य करते थे और विंध्य की (अर्थात् विंध्यशक्ति की) संतति कहे गए हैं (§ १७६)। पल्लवों से पहले वहाँ एक और राजवंश का राज्य था जिसने प्रायः तीन पीढ़ियों तक शासन किया था। वे लोग इक्ष्वाकु

कहलाते थे; और ज्योंही सातवाहन वंश का अंत हुआ था, त्योंही उन्होंने अश्वमेध यज्ञ करके यह जतलाना चाहा था कि हम सातवाहनों का राज्य लेने के प्रयत्न में हैं। उनकी राजधानी श्रीपर्वत में थी जिसे आज-कल नागार्जुनी कोंड कहते हैं और जो गंटूर जिले में है। इनका पता उन शिलालेखों से चलता है जो इनके संबंधियों ने खुदवाए थे और जो नागार्जुनी कोंड के उस स्तूप में मिले हैं जिसका पता अभी हाल में चला है; और साथ ही जग्गइयपेट के शिलालेखों में भी इनका उल्लेख है। विंध्य-शक्ति और पल्लवों के उदय के साथ ही साथ इक्ष्वाकुओं का अंत हो गया था। पल्लव लोग ब्राह्मण थे और उनसे पहले के सात॰ वाहन भी ब्राह्मण ही थे। दक्षिण में बहुत पहले से ब्राह्मणों का साम्राज्य चला आता था; और वह साम्राज्य इतना प्रबल था कि ज्योंही समुद्रगुप्त ने पल्लवों को परास्त किया, त्योंही पल्लवों के करद तथा अधीनस्थ राज्य कदंब के मयूर शर्म्मन और उसके पुत्र कंग ने, जो ब्राह्मण थे, यह माननेसे इनकार कर दिया कि दक्षिणी साम्राज्य का नाश हो गया और उन्होंने दक्षिणी साम्राज्य की पुनर्स्था-पना की भी घोषणा कर दी। पर यह ठीक है कि समुद्रगुप्त और पृथ्वीषेण वाकाटक ने उन लोगों की कुछ चलने नहीं दी थी।

§ ८३. उस समय के उत्तर तथा दक्षिण भारत के इतिहास में मुख्य अंतर यही था कि उत्तरवाले एक अखिल भारतीय साम्राज्य स्थापित करना चाहते थे।

अखिल भारतीय साम्राज्य की आवश्यकता

सातवाहनोंवाले पिछले साम्राज्य के समय हिंदुओं को जो अनुभव प्राप्त हुआ था, उसी के फल-स्वरूप उनमें यह कामना उत्पन्न हुई थी। उस समय उन्हें यह अनु-भव हुआ था कि जो आक्रमणकारी सदा उत्तर की ओर से आया

करते हैं, उनके सामने दक्षिणी शक्ति ठहर नहीं सकती थी। वे समझते थे कि एक भारत में दो सम्राटों का होना एक बहुत बड़ी दुर्बलता का कारण है। प्रवरसेन प्रथम जो सारे भारत का सम्राट्[१] बना था, जान पड़ता है कि उसमें उसका मुख्य नैतिक उद्देश्य यही था; और उसके उपरांत उसके उतराधिकारी समुद्रगुप्त ने जो इस बात पर संतोष प्रकट किया था कि मैंने सारे भारत को एक में मिलाकर अपने दोनों हाथों में कर रखा है, उसका कारण भी यही था। एक तो कुशन साम्राज्य का जो पुराना अनुभव था और दूसरे भारत के पड़ोस में ही विंध्यशक्ति के समय में जो नया सासानी साम्राज्य स्थापित हुआ था, उसके प्रबल हो जाने के कारण जो नई आवश्यकता उत्पन्न हो गई थी, उन दोनों के कारण इस बात की आवश्यकता भी स्पष्ट ही थी। यह आवश्यकता उस समय और भी प्रबल हो गई थी जब प्रवरसेन प्रथम के समय में सन् ३०० ई० के लगभग कुशन साम्राज्य पूरी तरह से सासानी साम्राज्य में मिल गया था। वाकाटक राजा ने चार अश्वमेध यज्ञ किए थे। महाभारत का दिग्विजय जो चार भागों में

---

१. पल्लव शिवस्कंद वर्म्मन् प्रथम यद्यपि दक्षिण का धर्म-महाराजाधिराज कहलाता था, तो भी उसने कभी स्वतंत्र रूप से अपना सिक्का नहीं ढलवाया था और उसके पुत्र तथा उत्तराधिकारी लोग भी महाराज अर्थात् वाकाटक सम्राट् के अधीनस्थ महाराज थे। उस समय 'महाराज' शब्द किसी सम्राट् के अधीनस्थ और करद होने का सूचक होता था। शिवस्कंद वर्म्मन् के उत्तराधिकारियों ने अपने ताम्रलेखों में उसे केवल 'महाराज' ही लिखा है। धर्म महाराजाधिराज की उपाधि बहुत ही थोड़े समय तक प्रचलित रही और चेलों आदि अर्थात् दक्षिणवालों के मुकाबले में रखी गई थी।

विभक्त था, उसी की समता का ध्यान रखते हुए हम यह अभिप्राय भी निकाल सकते हैं कि प्रवरसेन प्रथम ने भी अपना दिग्विजय चार भागों में विभक्त किया था और उनमें से एक दक्षिण की ओर हुआ होगा। यद्यपि सम्राट् प्रवरसेन के समय का लिखा हुआ उसके दिग्विजय का कोई वर्णन हम लोगों को अभी तक नहीं मिला है और तामिल साहित्य में आर्यों और वाडुकों अर्थात् उत्तर से आनेवाले आक्रमणकारियों का जो वर्णन दिया है, वह बहुत ही अनिश्चित है, तो भी यह बात निश्चित ही जान पड़ती है कि आरंभिक वाकाटक लोग बालाघाट के उस पार आंध्र प्रदेश में जा पहुँचे थे और उस पर अधिकार करके तामिल देश की रियासतों के पड़ोसी बन गए थे; और उन पर दिग्विजय करना इसलिये सहज हो गया था कि तामिलगण की सबसे बड़ी रियासत चोल की राजधानी कांची पर अधिकार कर लिया गया था। सारे झगड़े का निपटारा तो सातवाहनों के उत्तराधिकारी इक्ष्वाकुओं के साथ हो ही गया था, जिन्होंने केवल नष्ट सम्मान और भारत की रक्षा करनेवाले सम्राटों का निंदित नाम ही हस्तांतरित किया था, और तब प्रवरसेन प्रथम उचित रूप से यह घोषणा कर सकता था कि मैं सारे भारत का सम्राट हूँ।

§ ८४. भार-शिवों ने तो गंगा और यमुना को (इनके आसपास के प्रदेश को) स्वतंत्र कर दिया था, परंतु कुशनों को भारत से बाहर निकालने का काम प्रबल प्रवरसेन प्रथम के ही हिस्से पड़ा था जो एक बहुत बड़े योद्धा का पुत्र भी था और स्वयं भी एक बहुत बड़ा योद्धा था। उसके समय में कुशन राजा काबुल का राजा हो गया था, परंतु चीनी लेखकों के अनुसार

वाकाटकों की कृतियाँ

सन् २४० या २५० ई० तक मुरुंड ही भारत का राजा माना जाता था[1] और इसी मुरुंड ने इंडो-चाइना के एक हिंदू राजा को युएह्-ची घोड़े भेजे थे; और इसका अभिप्राय यह है कि यद्यपि उस समय तक मुरुंड गंगा और यमुना के बीच का अंतर्वेद छोड़कर चला गया था, तो भी वह भारत का सम्राट् और भारत में शासन करनेवाला ही माना जाता था।

तीन बड़े कार्य; अखिल भारतीय साम्राज्य की कल्पना, संस्कृत का पुनरुद्धार, सामाजिक पुनरुद्धार

§ ८५. वाकाटक सम्राट् ने तीन बहुत बड़े कार्य किए थे। भार-शिव साम्राज्य के प्रायः अंतिम चालीस वर्षों में उसका पिता विंध्यशक्ति बहुत बड़े बड़े युद्ध करता रहा था और वही भारशिवों के साम्राज्य का संस्थापक था। प्रवरसेन ने भी उसकी शक्ति और आदर्श प्राप्त किया था और एक स्पष्ट राजनीतिक सिद्धांत स्थिर किया था। (१) उसने निश्चित किया था कि सारे भारत में एक हिंदू-साम्राज्य होना चाहिए और शास्त्रों की मर्यादा की फिर से स्थापना होना चाहिए। (२) सन् २५० ई० के लगभग संस्कृत के पक्ष में एक बड़ा साहित्यिक आंदोलन आरंभ हुआ था और पचास वर्षों में वह आंदोलन बढ़कर उस सीमा तक पहुँच गया था, जिस सीमा पर गुप्तों ने उसे अपने हाथ में लिया था। सन् ३४० ई० के लगभग कौमुदी-महोत्सव नामक

---

१. जायसवाल का The Murunda Dynasty नामक लेख जो The Malaviya Commemoration Volume पृ० १८५ में छपा है। मुरुंड कुशनों की राजकीय उपाधि थी। (J. B. O. R. S. खंड १६, पृ० २०३।)

एक नाटक लिखा गया था जिसमें समस्त साहित्यिक आंदोलन का चित्र अंकित किया गया है। यह नाटक वाकाटक सम्राट् के एक करद और अधीनस्थ राजा के दरबार में लिखा गया था और इसकी लिखनेवाली एक स्त्री थी, जिसने एक आसन से बैठकर एक बार में ही आदि से अंत तक सारा नाटक लिख डाला था और जिसके लिये संस्कृत में काव्य करना उतना ही सुगम था, जितना सुगम भास और कालिदास के लिये था। प्राचीन काव्यों की संस्कृत भाषा मानों उसकी बोल-चाल की भाषा हो रही थी। साथ ही उस समय वह राज-भाषा भी हो गई थी। भाव-व्यंजन के प्रकार और रूप आदि निश्चित हो गए थे और सभी राजकीय कर्मचारी संस्कृत में ही बातचीत करते और पत्र आदि लिखते थे। राजधानी में अथवा उसके आस-पास जितने आरंभिक शिलालेख आदि पाए गए हैं, वे सब संस्कृत में ही हैं। उसी समय शिवस्कंद वर्म्मन् के एक पीढ़ी बाद दक्षिण के राजकीय पत्रों और लेखों आदि में भी संस्कृत का व्यवहार होने लग गया था। वाकाटक लेखों आदि में वंशावली का जो रूप बराबर पीढ़ी दर पीढ़ी दोहराया गया है, उससे सूचित होता है कि प्रवरसेन प्रथम के समय में ही संस्कृत में लेख आदि लिखने की प्रथा चल गई थी। समुद्रगुप्त और उसके उत्तराधिकारियों ने भी वाकाटक लेखन-शैली का ही ठीक ठीक अनुकरण किया है। गणपति नाग नामक एक दूसरे करद और अधीनस्थ राजा के दरबार में बहुत दिनों से चली आई हुई देश भाषा को छोड़कर फिर से प्राचीन संस्कृत में काव्य करने की प्रथा चल पड़ी थी; और भावशतक में उस नाग राज के संबंध में जो श्लोक दिए गए हैं, उन्हें देखकर प्राकृत की गाथासप्तशती का स्मरण हो आता है। (३) कौमुदी-महोत्सव से हमें इस बात का भी पता

चलता है कि उस समय सामाजिक पुनरुद्धार या सुधार हुआ था। उसमें वर्णाश्रम धर्म और सनातन हिंदू धर्म के पुनरुद्धार पर बहुत ज्यादा जोर दिया गया है। उस समय चारों तरफ इन्हीं बातों की पुकार मची हुई थी। कुशन शासन के समय समाज में जो दोष घुस आए थे, वाकाटकों के साम्राज्य काल में उन सबको निकाल बाहर करने का प्रयत्न हो रहा था, और समाज अपने आपको उन सब दोषों से मुक्त करने लगा था। वह हिंदुओं के दोष दूर करके उन्हें शुद्ध करने वाला आंदोलन था जिसका प्रवरसेन प्रथम ने बहुत अच्छी तरह पुष्ट-पोषण किया था, और उसके साम्राज्य की स्थापना का अभिप्राय ही मानो यह था कि सब जगह यह आंदोलन खूब जोर पकड़े[1]।

कला का पुनरुद्धार

§ ८६. गंगा और यमुना की मूर्त्तियाँ वास्तु-कला में राजकीय और राष्ट्रीय चिह्न बन गई थीं। जैसा कि ऊपर बतलाया जा चुका है, मत्स्यपुराण में सातवाहन काल तक की वास्तु-कला का विवेचन है, और उसमें कहीं इस बात का उल्लेख नहीं है कि शिव, विष्णु अथवा और किसी देवता के मंदिर में गंगा और यमुना की मूर्त्तियाँ यों ही अथवा अवश्य रहनी चाहिएँ। इनका ग्रहण अवश्य ही राजनीतिक उद्देश्यों से हुआ था। भार-शिव काल में भार-शिवों

---

१. जो बड़े बड़े और बार बार वैदिक कृत्य या यज्ञ (अग्निष्टोम, अप्तोर्याम, उक्थ्य, षोडशिन्, आतिरात्र, वाजपेय, बृहस्पतिसव, साद्यस्क और अश्वमेध) (G. I. पृ० २३६) हुआ करते थे, उनमें अवश्य ही बहुत से लोग एकत्र हुआ करते होंगे और उनके द्वारा अपने उद्देश्यों और धर्म का प्रचार भी किया जाता होगा।

के साथ गंगा का जो संयोग हुआ था, उसमें बहुत बड़ा नैतिक बल निहित था। भार-शिवों ने गंगा को मुक्त किया था और वे उसे कला के क्षेत्र में लाए थे और उन्होंने उसे अपने सिक्कों तक पर स्थान दिया था। वे यमुना को भी कला के क्षेत्र में ले आए थे, जैसा कि भूमरा के मंदिरों और देवगढ़वाली गंगा और यमुना की उन मूर्त्तियों से सूचित होता है जिनके ऊपर नागछत्र है। पर वाकाटकों ने तो उन्हें अपने साम्राज्य का चिह्न ही बना लिया था, और उन्हीं से चालुक्यों ने उन्हें ग्रहण किया था और अपना साम्राज्य-चिह्न बनाया था[1] (§ १०१ क)। पल्लव भी, जो वाकाटकों की एक शाखा ही थे, उनका व्यवहार करते थे[2] और सब लोग इस चिह्न का राजनीतिक अर्थ बहुत अच्छी तरह समझते थे। वे जानते थे कि इसका अर्थ साम्राज्य—आर्यावर्त का साम्राज्य—है[3]। नाग-

---

१. देखो S. I. I. खंड १, पृ० ५४ जिसमें गंगा और यमुना, मकर-तोरण, कनकदंड इत्यादि को चालुक्यों के साम्राज्य का चिह्न (साम्राज्य-चिह्नानि) कहा गया है। साथ ही देखो इंडियन एंटीक्वेरी, खंड ८, पृ० २६।

२. देखो S. I. I. खंड २, पृ० ५२१ में वेलूरपलैयमावाले प्लेटों की मोहर जिसमें दूसरी पंक्ति में यमुना की उभारदार मूर्त्ति है, जिसके नीचे एक कच्छप बना है और बीच में गंगा की मूर्त्ति है जिसके चरणों के पास दो घड़े हैं और सिर के ऊपर नाग के फन का छत्र है।

३. इंडियन एंटीक्वेरी, खंड १२, पृ० १५६ और १६३। वाणी (बड़ौदा) के राष्ट्रकूट ताम्रपत्र में गोविंदराज द्वितीय की विजय का वर्णन है और उसमें गंगा तथा यमुना की मूर्त्तियोंवाली ध्वजाओं को छीन लेने

वाकाटकों ने गंगा-यमुना की जो मूर्त्तियाँ बनाई थीं, वे इन नदियों की मूर्त्तियाँ तो थीं ही, पर साथ ही गंगा और यमुना के मध्य के प्रदेश की भी सूचक थीं जहाँ इन लोगों ने फिर से सनातन धर्म की स्थापना की थी। भूमरा और नचना में गंगा और यमुना की जो सुंदर और शानदार मूर्त्तियाँ हैं, वे मानों नाग-वाकाटक संस्कृति का दर्पण हैं। स्वयं वाकाटक लोग भी शारीरिक दृष्टि से बहुत सुंदर होते थे। वायुपुराण की हस्तलिखित प्रति में लिखा है कि प्रवीर के चारों पुत्र साँचे में ढली हुई मूर्तियों के समान सुंदर (सुमूर्त्तयः) थे[1]। अजंतावाले शिलालेख में देवसेन और हरिषेण की सुंदरता का विशेष रूप से वर्णन है। वाकाटकों के समय में अजंता की तक्षण कला और चित्र-कला में मानों प्राणों का संचार किया गया था और अजंता उन लोगों के प्रत्यक्ष शासन में था। परवर्त्ती वाकाटक काल में भी यह परंपरा बराबर बनी रही। आज-कल के सभी लेखक यही कहा करते हैं कि संस्कृत के पुनरुद्धार के श्रेय की तरह हिंदू-कला के पुनरुद्धार का

का इस प्रकार वर्णन है—"गोविंदराज ने, जो कीर्त्ति की मूर्त्ति था, शत्रुओं से गंगा और यमुना की पताकाएँ, जो बहुत ही मनोहर रूप से लहरा रही थीं, छीन लीं और साथ ही वह महाप्रभुत्व का पद भी (प्राप्त कर लिया) जो (इन नदियों से) प्रत्यक्ष चिह्न के रूप में सूचित होता था।" मिलाओ इंडियन एंटीक्वेरी, खंड २०, पृ० २७५ में फ्लीट का लेख जिसमें कहा गया है कि ये चिह्न किसी न किसी रूप में आरंभिक गुप्तों से लिए गए थे। (फ्लीट के समय तक नाग-वाकाटक चिह्नों का पता नहीं चला था।)

१. P. T. पृ० ५०, टिप्पणी ३८।

भी सारा श्रेय गुप्तों को है; पर वास्तव में इसका सारा श्रेय वाकाटकों को ही है। वास्तु-कला की जिन जिन बातों का विकास हमें एरन, उदयगिरि, देवगढ़ और अजंता में तथा उसके बाद भी मिलता है, उन सबका बीज नचना के वाकाटक मंदिरों में मौजूद है; यथा कटावदार जाली की खिड़की, गवाक्षवाला छज्जा, शिखर, लिपटे हुए साँप, मूर्त्तियों और बेल-बूटों से युक्त दरवाजों के चौखटे, उभारदार शिखर, रहने के घरों के ढंग के चौकोर मंदिर आदि। (नचनावाले मंदरों के संबंध में देखो अंत में परिशिष्ट क)।

§ ८७. यह ठीक है कि वाकाटकों के सिक्के चंद्रगुप्त प्रथम के सिक्कों की तरह देखने में भड़कीले नहीं होते थे, पर इसका कारण यह नहीं था कि उन लोगों में कला का यथेष्ट ज्ञान या बल नहीं था[1]। बल्कि इसका कारण यह था कि वे लोग पुराने ढर्रे के थे। वे उन कुशनों के सिक्कों का अनुकरण नहीं कर सकते थे जिन्हें वे देश के शत्रु और म्लेच्छ समझते थे। चंद्रगुप्त प्रथम ने जो कुशनों के सिक्कों का अनुकरण किया था, उसे उन लोगों ने राष्ट्रीय दृष्टि से पतन का सूचक समझा होगा। समुद्रगुप्त जिस समय अधीनस्थ और करद राजा था, उस समय वाकाटकों के प्रभाव के कारण स्वयं उसे भी उसी पुराने ढर्रे पर चलना पड़ा था और राष्ट्रीय शैली के सिक्के चलाने पड़े थे[2]।

सिक्के

---

१. देखो ऊपर § ६१, पृथिवीषेण प्रथम के सिक्के पर का साँड़। C. I. M. प्लेट २०, आकृति नं० ४।

२. व्याघ्र शैलीवाला सोने का सिक्का, जिस पर वाकाटकों का साम्राज्य-चिह्न गंगा है।

§ ८८. वाकाटकों ने अपनी शासन-प्रणाली भार-शिवों से ग्रहण की थी और वाकाटकों से समुद्रगुप्त ने ग्रहण की थी। पर हाँ, दोनों ने ही अपनी अपनी ओर से उसमें कुछ सुधार भी किए थे। वाकाटकों की शासन-प्रणाली यह थी कि स्वयं उनके प्रत्यक्ष शासन के अधीन एक बड़ा केंद्रीय राज्य होता था जिसमें दो राजधानियाँ होती थीं। कई उपराज या उप-शासक होते थे जिनका पद वंशानुक्रमिक होता था; और कई स्वतंत्र राज्यों का एक साम्राज्य-संघ होता था। भार-शिव प्रणाली में साम्राज्य का चाभीवाला पत्थर राज्य की मेहराब में बाकी ईंटों के समान ही रहता था, पर वाकाटक-प्रणाली में वह एक महत्त्वपूर्ण अंग हुआ करता था।

वाकाटक शासन-प्रणाली

§ ८९. वाकाटकों ने अपने संबंधियों के अलग पर अधीनस्थ राजवंश भी स्थापित किए थे। पुराणों के अनुसार प्रवरसेन प्रथम के चार पुत्र शासक थे। महाराज श्रीभीमसेन का एक चित्रित शिलालेख गिंजा पहाड़ी के एक गुहा-मंदिर में है। यह पहाड़ी इलाहाबाद से दक्षिण-पश्चिम ४० मील की दूरी पर है। उस शिलालेख पर ५२ वाँ वर्ष अंकित है। जान पड़ता है कि यह भीमसेन कौशांबी का शासक था और संभवतः प्रवरसेन का पुत्र था[१]। महत्त्व के अधीनस्थ वंशों (यथा गणपति नाग, सुप्रतीकर) और साम्राज्य के सदस्यों (प्रजातंत्रों)

अधीनस्थ राज्य और साम्राज्य

---

१. A. S. R. खंड २१, पृ० ११९, प्लेट ३०, एपिग्राफिया इंडिका, खंड ३, पृ० ३०६, देखो आगे § १०३।

को स्वयं अपने सिक्के चलाने का अधिकार दे दिया जाता था। गुप्त-प्रणाली में आर्यावर्त्त में एकमात्र शासक संबंधी वाकाटक ही थे जो पूरी तरह से स्वतंत्र थे। गुप्त लोग अपने नौकरों को ही शासक बनाकर रखना पसंद करते थे और उन्होंने अपने अधीनस्थों को सिक्के बनाने का अधिकार बिलकुल नहीं दिया था। दोनों ही अपने अधीनस्थ शासकों को "महाराज" उपाधि का प्रयोग करने देते थे और यह बात पुरानी महाक्षत्रपवाली प्रणाली के अनुरूप होती थी: पर हाँ, इस नाम या शब्द का परित्याग कर दिया था। गुप्तों ने तो शाहानुशाही का अनुवाद महाराजाधिराज कर लिया था, पर वाकाटक सम्राट् ने ऐसा नहीं किया था, बल्कि उसने सम्राट् वाली प्राचीन वैदिक उपाधि ही धारण की थी।

धार्मिक मत पवित्र अवशिष्ट

§ ९०. वाकाटक लोग कट्टर शैव थे[1]। उनका यह मत केवल एक पीढ़ी में रुद्रसेन द्वितीय के समय बदला था; और इसका कारण उसकी पत्नी प्रभावती और श्वसुर चंद्रगुप्त द्वितीय का प्रभाव था जो दोनों कट्टर वैष्णव थे। पर जब चद्रगुप्त का प्रभाव नष्ट हो गया, तब इस वंश ने फिर अपना पुराना शैव मत ग्रहण कर लिया था। वाकाटक काल के जो मंदिर और अवशेष आदि मिलते हैं, वे मुख्यतः योद्धा शिव के

---

१. वाकाटक शिलालेखो में इसका उल्लेख है और उनके सिक्कों पर नंदी की मूर्ति रहती थी। रुद्रसेन प्रथम के समय तक महाभैरव राज-देवता थे। पृथिवीषेण ने उनका स्थान महेश्वर को दिया था जो मानों विष्णु और शिव के मध्य का रूप है। G. I. पृ० २३६, नचना में महाभैरव हैं (देखो परिशिष्ट क)।

ही हैं; यथा नचना के मंदिर और जासो के भैरव लिंग[1] जो भूमरा और नकटी के (भार-शिव) एक मुख लिंगों से भिन्न हैं, (जिनके चित्र श्री बनर्जी ने Arch Memoirs नं० १६, प्लेट १५ A. S. W. C. सन् १९१९–२०, प्लेट २९ में दिए हैं[2]) । कला की दृष्टि से ये सभी लिंग एक ही प्रकार या वर्ग के हैं, चाहे देवता के ध्यान अलग ही क्यों न हों । चाहे इन कलाओं और गुप्त कला में सिद्धांत संबंधी कोई बहुत बड़ा अंतर न हो, पर उद्देश्य और भाव की दृष्टि से ये बिलकुल अलग और स्वतंत्र वर्ग के ही हैं । यद्यपि कनिंघम ने लोगों को सचेत करने के लिये कह दिया है—'यद्यपि यह संभव है कि इस प्रकार के मंदिरों के आरंभिक नमूने गुप्त शासन के कुछ दिन पहले के हों ।' (A. S. R. खंड ९, पृ० ४२) । तो भी वाकाटकों और गुप्तों के जितने अवशिष्ट मंदिर आदि हैं, वे सभी गुप्तों के समय के ही कहे जाते हैं । परंतु वाकाटकों और गुप्तों के मंदिरों आदि में अंतर संप्रदाय संबंधी है । नाग-वाकाटकों के सब मंदिर शिव-संबंधी या शैव-संप्रदाय के हैं और गुप्तों के मंदिर विष्णु के अथवा वैष्णव-संप्रदाय के हैं । एरन और देवगढ़ के वैष्णव मंदिरों के जो भग्नावशेष हैं, वे सब गुप्तों के माने जा सकते हैं; और नचना तथा जासो के सब मंदिर और तिगोवा के सब नहीं तो अधिकांश भग्नावशेष निस्संदेह रूप से वाकाटकों के हैं ।

---

१. देखो अंत में परिशिष्ट क ।

२. खोह के पास नकटी नामक स्थान में एकमुख लिंग । इसका चेहरा यौवन काल का है, जैसा मत्स्यपुराण २५८, ४ के अनुसार होना चाहिए ।

१०. परवर्त्ती वाकाटक काल संबंधी परिशिष्ट

(सन् ३४८–५५० ई०)

और वाकाटक संवत् (सन् २४८–४६ ई०)

§ ६१. पृथिवीषेण प्रथम के काल (सन् ३४६–३७५ ई०) और उसकी कुंतल-विजय (लगभग सन् ३६० ई०[1]) का आरंभिक काल से ही अधिक संबंध है। परवर्त्ती वाकाटक का काल रुद्रसेन द्वितीय (लगभग ३७५–३६५ ई०) के समय से आरंभ होता है; और रुद्रसेन द्वितीय के समय में इसके सिवा और कोई विशेष घटना नहीं हुई थी कि उसने अपने श्वसुर चंद्रगुप्त द्वितीय के प्रभाव में पड़कर अपना शैव-मत छोड़कर वैष्णव-मत ग्रहण कर लिया था। इसके उपरांत उसकी विधवा स्त्री प्रभावती गुप्ता ने अपने अल्प-वयस्क पुत्रों की अभिभाविका के रूप में लगभग बीस वर्षों तक शासन किया था, और यह काल चंद्रगुप्त द्वितीय के काल के लगभग एक या दो वर्ष बाद तक भी पहुँच सकता है। उसका पुत्र प्रवरसेन द्वितीय कुमारगुप्त का सम-कालीन था, और जान पड़ता है कि मृत्यु के समय उसकी अवस्था कुछ अधिक नहीं थी, क्योंकि प्रवरसेन द्वितीय का पुत्र आठ वर्ष की अवस्था में सिंहासन पर बैठा था। अजंतावाले शिलालेख के अनुसार प्रवरसेन द्वितीय के पुत्र ने "अच्छी तरह

प्रवरसेन द्वितीय और नरेंद्रसेन

---

१. पृथिवीषेण प्रथम ने कंगवर्म्मन् कदंब को सन् ३६० ई० के लगभग परास्त किया था। देखो आगे तीसरा भाग।

शासन किया" था[1]। यही बात बालाघाटवाले दानपत्रों में इस प्रकार लिखी है—"उसने पहले की शिक्षा के द्वारा जो विशिष्ट गुण प्राप्त किए थे, उनके कारण उसने अपने वंश की कीर्ति की रक्षा का उत्तरदायित्व अपने ऊपर लिया था (पूर्वाधिगतगुणविशेषाद्[2] अपहृतवंशश्रियः)। वह आठ वर्ष की अवस्था में सिंहासन पर बैठा था और अपने यौवराज्य काल में उसने आवश्यक गुण प्राप्त (अधिगत) किए थे और तब शासन का भार अपने ऊपर (अपनी अभिभाविका से लेकर) ग्रहण किया था।" गुप्त साहित्य में अपहृत शब्द का इस अर्थ में बहुत प्रयोग हुआ है। यथा—पश्चात्पुत्रैरपहृतभारः (विक्रमोर्वशी, तीसरा अंक) और

---

१. बालाघाटवाले प्लेट वस्तुतः दानपत्र नहीं है, बल्कि दानपत्र का मसौदा है। जब कभी किसी को कोई भूमि दान में दी जाती थी, तब उसी मसौदे के अनुसार सादे ताम्रपटों पर वह मसौदा अंकित कर दिया जाता था। इसीलिये उसमें न तो किसी दान का, न दाता का, न समय का, न रजिस्टरी का [दृष्टम् की तरह] उल्लेख है और न मोहर का कोई चिह्न है। वाकाटक दानपत्रों में जिस देवगुप्त का उल्लेख है, उसका काल समझने में कीलहार्न ने भूल की थी और फ्लीट का कथन मानकर उसने देवगुप्त को परवर्ती गुप्त काल का समझ लिया था, और इसीलिये उसने उन दानपत्रों को और प्रवरसेन द्वितीय के दूदियावाले दानपत्रों को भूल से आठवीं शताब्दी का मान लिया था। [E. I. ९, २६९, E. I. ३, २६०]। बुह्लर ने उसका जो समय निश्चित किया था, वही अंत में ठीक सिद्ध हुआ।

२. कीलहार्न ने इसे विश्वासात् पढ़ा था, पर इस पाठ की शुद्धता में उसे संदेह था। मैं समझता हूँ कि लेखक का अभिप्राय विशेषात्

यहाँ "अपहृत" का यह अर्थ नहीं है कि उसने बलपूर्वक छीन लिया था[1]। अजंतावाले शिलालेख में लिखा है कि प्रवरसेन द्वितीय का पुत्र और उत्तराधिकारी आठ वर्ष की अवस्था में सिंहासन पर बैठा था; और उस छोटे से बालक के लिये यह संभव ही नहीं था कि वह अपने पिता के विरुद्ध विद्रोह करता और उसका राज्य बलपूर्वक छीन लेता। अजंतावाले शिलालेख में तो उसका नाम नहीं दिया है, पर बालाघाटवाले शिलालेख से भी इस बात का समर्थन होता है कि उसने भली भाँति शासन किया था, क्योंकि उसमें कहा गया है कि उसने कोसला, मेकला और मालव के अपने करद और अधीनस्थ शासकों को अपनी आज्ञा में रखा था। कुंतल के राजा की कन्या अज्झिता के साथ नरेंद्रसेन का जो विवाह हुआ था, उससे हम यह समझ सकते हैं कि या तो कुंतल पर उसका पूरा प्रभुत्व था और या उसके साथ उसकी गहरी राजनीतिक मित्रता थी। ऊपर जो काल-क्रम बतलाया गया है,

---

से था। संस्कृत में गुणविश्वासात् का कोई अर्थ नहीं हो सकता। गुण तो पहले से वर्त्तमान रहना चाहिए, जो यहाँ पूर्व शिक्षा के कारण प्राप्त हो चुका था। यहाँ विश्वास का कोई प्रश्न ही नहीं उत्पन्न होता। यह अधिगत गुण विश् [शेष] भी वैसा ही है, जैसा हाथीगुम्फावाले शिलालेख की १० वीं पंक्ति का—'गुणविशेषकुशलो' है। [एपिग्राफिया इंडिका २०, ८०]।

१. कीलहार्न ने जो 'अपहृत' का यह अर्थ किया था कि—'वह अपने वंश की श्री या संपत्ति ले गया' वह ठीक नहीं है। उसने यही समझा था कि उस समय राज्य के उत्तराधिकार के संबंध में कोई झगड़ा हुआ था।

उसके अनुसार नरेंद्रसेन सन् ४३५–४७० ई० के लगभग हुआ था। कुंतल के जिस राजा की कन्या अज्झिता के साथ विवाह करके उसने राजनीतिक मित्रता स्थापित की थी, वह कदंब ककुस्थ था जिसने तलगुंड स्तंभवाले कदंब-शिलालेख के अनुसार (E. 1. ८, पृ० ३३. मिलाओ मोरेस (Moraes) कृत Kadama Kula पृ० २६–२७) कई बड़े बड़े राजवंशों के साथ, जिनमें गुप्तों का वंश भी था, विवाह-संबंध स्थापित किया था। यह राजा कदंब शक्ति की चरम सीमा तक पहुँच गया था (लगभग ४३० ई०)। ककुस्थ ने अपने युवराज रहने की दशा में और अपने भाई के शासन-काल में गुप्त संवत् का व्यवहार किया था (§ १२८ पाद-टिप्पणी)। इस विवाह-संबंध के कारण उसकी मर्यादा बढ़ गई थी। गुप्तों के साथ विवाह-संबंध हो जाने के कारण कदंब और वाकाटक लोग बहुत कुछ स्वतंत्र हो गए थे। या तो कुमारगुप्त प्रथम के शासन के कारण और या उसके शासन-काल में नरेंद्रसेन की स्थिति अपने करद और अधीनस्थ राजाओं और पड़ोसियों के मुकाबिले में अवश्य ही बहुत दृढ़ हो गई होगी, क्योंकि कदंबों के साथ उसका जो वंशानुगत झगड़ा चला आता था, उसका उसने इस प्रकार अंत कर दिया था।

नरेंद्रसेन के कष्ट के दिन

§ ९२. सन् ४५५ ई० के लगभग नरेंद्रसेन का समय बहुत ही अधिक विपत्ति में बीता था। वह समय स्वयं उसके लिये भी कष्टप्रद था और उसके मामा गुप्त सम्राट् कुमारगुप्त के लिये भी। शक्तिशाली पुष्यमित्र प्रजातंत्रों ने, जिनके साथ पटु-मित्रों और पद्ममित्रों के प्रजातंत्र भी सम्मिलित थे, गुप्त साम्राज्य पर आक्रमण किया था। पहले उक्त तीनों प्रजातंत्र वाकाटकों के

अधीन थे और मांधाता के पास कहीं पश्चिमी मालवा में थे। ठीक उसी समय एक और नई विपत्ति उठ खड़ी हुई थी; और जान पड़ता है कि इस नई विपत्ति का संबंध भी उसी विद्रोहवाले आंदोलन और स्वतंत्रता प्राप्त करने के प्रयत्न के साथ था। यह प्रयत्न त्रैकूटकों की ओर से हुआ था, और यह एक नया वंश था जो इस नाम से दह्लसेन ने स्थापित किया था[1]। यह दह्लसेन त्रैकूटक अपरांत[2] का रहनेवाला था जो पश्चिमी खांदेश को ताप्ती नदी और बंबई से ऊपरवाले समुद्र के बीच में था। अपने पुराने स्वामी या सम्राट् वाकाटकों की तरह दह्लसेन ने भी अपने वंश का नाम अपने निवास स्थान के नाम पर 'त्रैकूटक' रखा था; और यद्यपि उसका पिता एक सामान्य व्यक्ति था और उसका नाम इंद्रदत्त था, तो भी दह्लसेन ने अपने नाम के साथ 'सेन' शब्द जोड़ा था और उसके वंशजों ने भी उसी का अनुकरण किया था। विना कोई विजय प्राप्त किए और पहले से ही उसने अश्वमेध यज्ञ भी कर डाला और अपने नाम के सिक्के भी बनवाने आरंभ कर दिए। पर वह जल्दी ही फिर नरेंद्रसेन की अधीनता में आ गया था, क्योंकि सन् ४५६ ई० में वह वाकाटक संवत् का प्रयोग करता हुआ पाया जाता है (§§१०२, १०६)। पुष्यमित्र लोग सन् ४५६ ई० से पहले साम्राज्य-शक्ति के द्वारा

---

१. एपिग्राफिया इंडिका, खंड १०, पृ० ५१।

२. रघुवंश ४. ५८, ५९ रैप्सन कृत C. A. D. पृ० १५६। साथ ही देखो दह्लसेन के पुत्र व्याघ्रसेन का सन् ४९० ई० वाला शिलालेख, एपिग्राफिया इंडिका, खंड ११, पृ० २१९, जहाँ ये लोग अपरांत के शासक बतलाए गए हैं।

परास्त हुए थे। नरेंद्रसेन को अपने श्वसुर के राज्य की सहायता भी मिलती थी जो कोंकण अपरांत के बगल में ही था; और उस समय या तो ककुस्थ के अधीन था और या उसके पुत्र शांतिवर्म्मन् के अधीन था और शांतिवर्म्मन् भी बहुत शक्तिशाली राजा था[१]।

§ ६३. जान पड़ता है कि नरेंद्रसेन के दो पुत्र थे। बड़ा लड़का पृथिवीषेण द्वितीय था जो उसका उत्तराधिकारी हुआ था और उसके उपरांत देवसेन सिंहासन पर बैठा था; और जब देवसेन ने सिंहासन का परित्याग कर दिया, तब उसका लड़का हरिषेण राज्याधिकारी हुआ था। देवसेन अपने राज्य संबंधी कर्त्तव्यों का पालन करने की अपेक्षा सुख और आनंद-मंगल में ही अपना समय व्यतीत करना अधिक पसंद करता था। जब गुप्त साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो गया, तब पृथिवीषेण द्वितीय ने अपने वंश को गिरी हुई दशा से ऊपर उठाने का प्रयत्न करना आवश्यक समझा, और इस प्रयत्न में उसे सफलता भी हुई, क्योंकि हम देखते हैं कि उसके बादवाले राजा के अधिकार में सारा वाकाटक साम्राज्य आ गया था जिसमें कुंतल, त्रिकूट और लाट देश भी सम्मिलित थे। पृथिवीषेण द्वितीय (सन् ४७०-४८५ ई०) के शासन-काल में ऊपर बतलाए हुए काल-क्रम के अनुसार कठिन विपत्ति का समय वही था, जब कि सन् ४७० ई० के लगभग हूणों का दूसरा आक्रमण हुआ था। गुप्तों के वंश के साथ साथ उसके वंश का भी पतन हुआ ही

पृथिवीषेण द्वितीय और देवसेन

---

१. देखो Kadamba Kula पृ० २८।

होगा। अतः अपने वंश का फिर से उद्धार करने के लिये पृथिवीषेण द्वितीय को बहुत अधिक श्रेय मिलना चाहिए। प्रायः बीस वर्ष के अंदर ही, जब कि हूणों की शक्ति बनी ही हुई थी, वाकाटकों ने अपने राज्य की सीमा उनके राज्य के साथ जा मिलाई थी और पहले की अपेक्षा और भी अधिक शक्तिशाली हो गए थे; और कुंतल, अवंती, कलिंग, कोसला, त्रिकूट,[1] लाट और आंध्र देश, जो दक्षिण भारत के वाकाटक साम्राज्य में थे, तथा मध्य प्रदेश और कोंकण तथा गुजरात तक पश्चिमी भारत का अंश उनके अधीन हो गया था। उसी समय वल्भी में एक मैत्रक सेनापति ने एक नये राजवंश की स्थापना की थी और सुराष्ट्र के पासवाले प्रदेश पर उसका अधिकार था। जान पड़ता है कि मैत्रक लोग गुप्तों के सेनापति थे, क्योंकि वे गुप्त संवत् का व्यवहार करते थे और संभवतः उनका उत्थान पुष्यमित्र आदि मित्र प्रजातंत्रों में से हुआ था। वे पड़ोसी वाकाटक साम्राज्य के अधीनस्थ और करद रहे होंगे। इस प्रकार सन् ४७०-५३० ई० में वाकाटक लोग मध्यप्रदेश और पश्चिमी भारत को हूणों के आक्रमण से पूरी तरह से बचाते रहते थे।

हरिषेण

§ ६४. गुप्त साम्राज्य का अंत होने पर वाकाटक वंश के भाग्य ने पलटा खाया। जिस समय गुप्त साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो रहा था, उस समय पृथिवीषेण द्वितीय ने अपने वंश का बिखरा हुआ वैभव फिर से एकत्र किया। देवसेन के पुत्र हरिषेण ने समस्त वाकाटक साम्राज्य पाया, जिसमें स्वयं उसके निजी

---

१. उस समय अपरांत (त्रिकूट) का राजा व्याघ्रसेन था (एपिग्राफिया इंडिका, खंड ११, पृ० २१६) जिसे हम वाकाटक संवत् का प्रयोग करते हुए पाते हैं। (देखो आगे§ १०२ की पाद-टिप्पणी)।

प्रदेश भी थे और अधीनस्थ तथा करद राजाओं के राज्य भी। उसने बहुत अधिक वीरता और कार्य-कुशलता दिखलाई और वाकाटक साम्राज्य की फिर से स्थापना की। स्कंदगुप्त की मृत्यु के बाद से ही वाकाटक लोग पूर्ण रूप से स्वतंत्र हो गए। जान पड़ता है कि उस समय उन लोगों ने फिर से अपना साम्राज्य स्थापित करने की अच्छी योग्यता का परिचय दिया था; और जिस समय भारतीय साम्राज्य में विद्रोह मचा हुआ था और अनेक राजनीतिक परिवर्त्तन हो रहे थे, उस समय वे लोग दृढ़तापूर्वक जमे रहे और बराबर अपना बल बढ़ाते गए। नरेंद्रसेन, पृथिवीषेण द्वितीय और हरिषेण ये तीनों ही राजा बहुत ही योग्य और सफल शासक थे। हरिषेण के शासन का अंत सन् ५२० ई० के लगभग हुआ था। इसके बाद का वाकाटकों का इतिहास नष्ट हो गया है।

दूसरे वाकाटक साम्राज्य का विस्तार

§ ९५. सन् ५०० ई० के लगभग हरिषेण को अपने वंश के कुछ पुराने करद और अधीनस्थ राज्यों को फिर से अपने वश में करना पड़ा था जिनमें त्रैकूट भी सम्मिलित थे। यह बात अजंतावाले शिलालेख से और त्रैकूटकों के शिलालेखों से प्रकट होती है। सन् ४५५ ई० में—अर्थात् जब कि पुष्यमित्रों का स्कंदगुप्त के साथ युद्ध हुआ था—त्रैकूटक दह्र-सेन ने एक बार अपनी स्वतंत्रता की घोषणा कर दी थी, परंतु-सेन ने उसे फिर से अपने अधीन कर लिया था, (देखो § ९२)। पर हमें पता चलता है कि उसके पुत्र व्याघ्रसेन ने सन् ४९० ई० के लगभग फिर से अपने सिक्के चलाने आरंभ कर दिए थे; और इसी के उपरांत वंश का लोप हो गया; और यह बात हरिषेण के

शासन-काल में हुई थी। सन् ४९४ ई० के बाद उनके वंश का कोई चिह्न नहीं पाया जाता[1]। यहाँ यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि त्रैकूटक लोग, जैसा कि हम अभी आगे चलकर बतलावेंगे, वाकाटक संवत का व्यवहार करते थे। जान पड़ता है कि यह करद राजवंश हरिषेण के शासन-काल में ही अथवा उसके कुछ बाद सदा के लिये मिटा दिया गया था।

§ ९६. कोंकण पर, जिसके अंतर्गत त्रिकूट था, वाकाटकों का कितना प्रबल प्रभुत्व था, इसका पता एक शिलालेख से चलता है जो रायल एशियाटिक सोसाइटी के जनरल, खंड ४, पृ० २८२ में प्रकाशित हुआ है, और जिसमें एक गढ़ का उल्लेख है। इस गढ़ का नाम वाकाटकों के राजनीतिक निवास-स्थान किलकिला के अनुकरण पर किलगिला बतलाया गया है जो उस शिलालेख के खोदे जाने के समय (सन् १०५८ ई०) कोंकण की राजधानी था। बरार और खांदेश के वाकाटक प्रांत के पश्चिमी सिरे पर त्रिकूट अवस्थित था। हरिषेण ने कुंतल और अवन्ती सहित लाट देश को अपने अधीन किया था और ये दोनों प्रदेश अपरांत के दोनों सिरों पर थे। कलिंग, कोसल और आंध्र के हाथ में आ जाने से वाकाटक साम्राज्य त्रिकूट और पश्चिमी समुद्र से लेकर पूर्वी समुद्र तक हो गया था। ये सब प्रदेश पहले भी वाकाटक साम्राज्य के अंतर्गत रह चुके थे। लाटदेश वाकाटक राज्य के

---

१. व्याघ्रसेन के परदीवाले दानपत्र २४१ वें वर्ष (सन् ४८९-४९० ई०) के हैं और कन्हेरीवाले दानपत्र २४५ वें वर्ष के हैं। (एपिग्राफिया इंडिका, ११, पृ० २१६) Cave Temples of. W. I. पृ० ५८।

पड़ोस में भी था और आभीरों का पुराना निवास-स्थान था। अवंती पुष्यमित्र-वर्ग के अधीन रह चुकी थी। नरेंद्रसेन के समय वह मालव के अंतर्गत मानी जाती थी। प्रवरसेन द्वितीय या प्रभावती गुप्ता के समय कदाचित् गुप्तों ने इसे वाकाटकों को फिर लौटा दिया था। स्कंदगुप्त ने पुष्यमित्र-युद्ध के उपरांत ही सुराष्ट्र में अपनी ओर से एक शासक नियुक्त कर दिया था; और यदि उस समय तक आभीरों और पुष्यमित्रों का पूर्णरूप से लोप नहीं हो गया था, तो उस समय उनका लोप अवश्य ही हो गया होगा जब हरिषेण ने लाट देश को अपने अधीन किया था। वाकाटक साम्राज्य में जो लाट देश आ मिला था, उसका कारण यही था कि गुप्त साम्राज्य का पतन हो गया था।

परवर्त्ती वाकाटकों को संपन्नता और कला

§ ६७. दूसरा वाकाटक साम्राज्य इतना अधिक धन-संपन्न था कि हरिषेण के मंत्री ने भी अजंता में एक बहुत सुंदर चैत्य बनवाया, जो बहुत सुंदर चित्रों से सजा था। यह अजंता की गुफा नं० १६ है और बहुत ही सुसज्जित है। इसके बनानेवाले ने उचित गर्वपूर्वक कहा है—

'इसमें खिड़कियाँ, घुमावदार सीढ़ियाँ, सुंदर बालाखाने, मंजिलें और इंद्र की अप्सराओं की मूर्त्तियाँ, सुंदर खंभे और सीढ़ियाँ आदि हैं। यह एक सुंदर चैत्य है।"

इसी राजमंत्री के वंश के एक और व्यक्ति ने गुफा नं० १३ बनवाई थी, जो घटोत्कच गुफा कहलाती है और जिसमें एक स्थान पर बनानेवाले ने अपने वंश का इतिहास भी अंकित करा दिया है। यह वंश मलाबार के ब्राह्मणों

का था और इस वंश के लोग ब्राह्मण तथा क्षत्रिय दोनों वर्णों की स्त्रियों के साथ विवाह करते थे। जिस समय वाकाटक देवसेन शासन करता था [वाकाटक के राजति देवसेने] उस समय उसका मंत्री हस्तिभोज था। परवर्त्ती वाकाटक साम्राज्य की संपन्नता का और अधिक पता उस शिलालेख से चलता है जो गुहा-मंदिर नं० १७ में है। इसे राजा हरिषेण के शासन-काल में उसके एक वाकाटक अधीनस्थ राजा ने विहार के रूप में बनवाया था। उसका वंश नौ पीढ़ियों से चला आ रहा था और जान पड़ता है कि उसका उदय प्रवरसेन प्रथम के शासन-काल में हुआ था। जैसा कि इस वंश के लोगों के नाम से सूचित होता है; यह वंश गुजरात का था। उन लोगों ने इस विहार को अभिमानपूर्वक 'भिक्षुओं के राजा का चैत्य" कहा है और इसे "एक ही पत्थर में से काटकर बनाए हुए मंडपों में रत्न" कहा है। इसमें बनवानेवाले ने एक नयनाभिराम भंडार भी रखा था। ये सब लोग सौंदर्य-विज्ञान के बहुत अच्छे ज्ञाता थे और इनकी कला बहुत ही उच्च कोटि की थी। इसमें कहीं एक ही तरह के दो खंभे नहीं हैं। हर एक खंभा बिलकुल अलग और नए ढङ्ग से बनाया गया है। गुहा नं० १३ में[1] दीवारों पर

---

१. डा० विंसेंट स्मिथ ने इसी पालिश के कारण गुफा नं० १३ को ईसा से पहले की गुफा माना था। (History of Fine Art in India & Ceylon, पृ० २७५)। पर वास्तव में मौर्यों की पालिश करने की कला तब तक लोग भूले नहीं थे। शुंगों और सातवाहनों के समय में उसका परित्याग या तिरस्कार कर दिया गया था और वाकाटक-गुप्त-काल में उसका फिर से उद्धार हुआ था। उदयगिरि की चंद्रगुप्त गुहा की मूर्त्तियों पर और खजुराहो की भी कई मूर्तियों पर मैंने स्वयं वह पालिश देखी है। इस प्रकार की पालिश

अशोक-वाली पालिश का व्यवहार किया गया है, परंतु जान पड़ता है कि कला की अभिज्ञता के कारण ही अजंता की गुहाओं में किसी और कला संबंधी वस्तु पर उसका प्रयोग नहीं किया गया है।

§ ६८. अजंता के चित्रों में सबसे अधिक प्रसिद्ध ये हैं—बुद्ध का अपने पिता के राजमहल में लौटकर आना, यशोधरा, राहुल और बुद्धदेव का दृश्य और लंका का युद्ध। और ये सभी चित्र दो वाकाटक गुहाओं नं० १६ और १७ में हैं। ये गुहाएँ बहुत ही स्पष्ट रूप से आर्यावर्त्त नागर प्रकार की हैं।

करने की क्रिया लोग ग्यारहवीं शताब्दी तक जानते थे; क्योंकि खजुराहो की मूर्तियों के कुछ टूटे हुए अंशों की उस समय इसी क्रिया से मरम्मत की गई थी। इस प्रकार की पालिश करने की क्रिया किसी कला संबंधी कारण से ही बीच में कुछ समय के लिये बंद कर दी गई थी। खजुराहो की बाहरवाली मूर्तियों पर कभी पालिश नहीं की गई। मुझे ऐसा जान पड़ता है कि पालिश से आकार और रूप-रेखा आदि के ठीक तरह से व्यक्त होने में बाधा पड़ती थी। संगतराश लोग अपनी जो कारीगरी दिखलाते थे, वह पालिश के कारण दब जाती थी। जिसे आज-कल लोग मौर्य-पालिश कहते हैं, वह मौर्यों के समय से बहुत पहले से चली आती है। छोटा नागपुर में प्रागैतिहासिक काल के और हड्डी के वज्रों की नकल के बने हुए जो वज्र मिले हैं और जो पटना म्यूजियम में रखे हैं, उन पर भी इसी तरह की पालिश है। उन पर की यह पालिश किसी विशेष क्रिया से की गई है; केवल व्यवहार करने और हाथ में रखने से उन पर वह चमक नहीं आई है।

§ ९९. वाकाटक प्रदेश मानों उत्तर और दक्षिण का मिलन-स्थान था। वाकाटक राजमंत्री हस्तिभोज और उसके परिवार के लोग दक्षिण भारत के रहनेवाले थे। और स्वयं पल्लव लोग भी वाकाटकों की एक शाखा ही थे, इसलिये इन दोनों राज्यों में स्वभावतः परस्पर आदान-प्रदान और गमनागमन होता रहा होगा। वाकाटक गुहा-मंदिरों में जो बीच बीच में पल्लव ढंग की मूर्तियाँ आदि देखने में आती हैं, उसका कारण यही है। इसके अतिरिक्त कुछ मूर्तियों में जो द्रविड़ शैली की अनेक बातें पाई जाती हैं, उसका कारण भी यही है।

§ १००. यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि हमें केवल तीन गुफाओं का लिखित इतिहास मिलता है। पर हम बिना किसी प्रकार की आपत्ति के कह सकते हैं कि जो गुफाएँ गुप्तों की कही और समझी जाती हैं, वे सब वाकाटकों की मानी जानी चाहिएँ; क्योंकि गुप्तों का प्रत्यक्ष शासन कभी अजंता तक नहीं पहुँचा था और अजंता का स्थान बराबर वाकाटकों के अधिकार में ही था।

§ १०० क. परवर्त्ती वाकाटक लोग यद्यपि स्वयं बौद्ध नहीं थे, पर फिर भी धर्म संबंधी बातों में उन्होंने अपनी प्रजा को पूरी स्वतंत्रता दे रखी थी; और उनकी प्रजा में से जो लोग बौद्ध धर्म पालन करना चाहते थे, वे सहर्ष ऐसा कर सकते थे।

वाकाटक घुड़सवार

§ १०१. जान पड़ता है कि वाकाटकों के पास घुड़सवार सेना बहुत प्रबल थी; और अजंतावाले शिलालेख में जहाँ विंध्यशक्ति के सैनिक बल का उल्लेख है, वहाँ इस बात की भी चर्चा है। जान पड़ता है कि वाकाटकों की सैनिक शक्ति इन

घुड़-सवारों के कारण ही इतनी बढ़ी-चढ़ी थी। और फिर विंध्य पर्वतों में वही शक्ति अच्छी तरह लड़-भिड़ और ठहर सकती है जिसके पास यथेष्ट और अच्छे घुड़-सवार हों। बुँदेले घुड़-सवार तो परवर्ती इतिहास में प्रसिद्ध हुए थे। बुंदेलखंड के घुड़-सवारों की प्रसिद्धि संभवतः बहुत प्राचीन काल से चली आ रही है।

§ १०१ क. चालुक्यों ने ही वाकाटकों का अंत किया होगा। पुलकेशिन् प्रथम ने वातापी (बीजापुर जिला[1]) सन् ५५० ई० के लगभग अश्वमेध यज्ञ किया था। और यह मान लेना चाहिए कि उसी समय से लगभग सन् ५५० ई० वाकाटकों का अंत हुआ था। गंगा और यमुना के राजकीय चिह्न इसी समय वाकाटकों से चालुक्यों ने लिए होंगे (§ ८६); और आगे चलकर चालुक्यों में इनका इतना अधिक प्रचार हो गया कि वे उन्हें स्वभावतः अपने पैतृक राजचिह्न समझने लग गए और यह मानने लग गए कि हमारे ये चिह्न हमारे वंश की स्थापना के समय से ही चले आ रहे हैं[2]। हरिषेण की अधीनता में या तो जयसिंह और या रणराग (पुलकेशिन् प्रथम का या तो दादा और या पिता) था। इस बात का उल्लेख मिलता है कि हरिषेण ने उन शासकों को अपने अधीन या अपनी आज्ञा में (...स्वनिर्देश...) किया था जो पहले वाकाटकों के अधीनस्थ और करद थे; और

वाकाटकों का अंत, लगभग सन् ५५० ई०

---

१. एपिग्राफिया इंडिका, खंड ६, पृ० १.

२. एपिग्राफिया इंडिका, खंड ६, पृ० ३५२-५३। S. I. I. १. ५४, (चेल्लूर का दानपत्र)।

यह बात उस समय की है जब हरिषेण ने आंध्र को अपने राज्य में मिलाया था। यथा—

हरि-राम-हरस्मरेंद्रकांति-
हरिषेणो हरिविक्रमप्राप्तः (१७)
स-कुंतलावंतीकलिंगकोसल······
त्रिकूटलाट=आंध्र.........
......पि स्वनिर्देश...... (१८)

A. S. W. I. ४. १२५.

जान पड़ता है कि चालुक्यों के नए वंश का उत्थान बरार के बहुत समीप आंध्र देश में हुआ था। पुलकेशिन् के पुत्र कीर्त्ति-वर्म्मन् ने कदंबों पर विजय प्राप्त की थी और अपरांत के छोटे छोटे शासकों पर विजय प्राप्त की थी और मंगलेश ने काठच्छु-रियों को जीता था; और जान पड़ता है कि इससे पहले ही वाकाटकों का लोप हो गया था। इसलिये हम कह सकते हैं कि पुलकेशिन् प्रथम के अश्वमेध के साथ ही साथ वाकाटकों का भी अंत हो गया होगा। ऐहोलवाले शिलालेख में जो राजा जयसिंह वल्लभ चालुक्यवंश का संस्थापक कहा गया है (एपिग्राफिया इंडिका, खंड ६, पृ॰ १४) न तो उसी की किसी विजय का उल्लेख मिलता है और न उसके पुत्र रणराग की किसी विजय का ही वर्णन पाया जाता है। पहले जिन प्रदेशों पर वाकाटकों का साम्राज्य था (लाट, मालव, गुर्जर, महाराष्ट्र, कलिंग आदि) उन्हीं पर पुलकेशिन् प्रथम के उपरांत उसके पुत्रों और पौत्रों ने अपना साम्राज्य स्थापित किया था; और इसका मतलब यही है कि वे लोग काकाटकों के राजनीतिक उत्तराधिकारी थे और इसी हैसियत से अपना दावा भी करते थे। पल्लवों के साथ

उनका जो संघर्ष और स्थायी शत्रुता हुई थी, उसका कारण भी यही था; क्योंकि पल्लवों का वाकाटकों के साथ रक्त-संबंध था—वे वाकाटकों की एक छोटी शाखा ही थे राजा जयसिंह बल्लभ के वर्णन (एपिग्राफिया इंडिका, खंड ६, पृ० ४, श्लोक ५) से सूचित होता है कि जयसिंह पहले की सरकार अर्थात् वाकाटकों के शासन-काल का एक वल्लभ या माल के महकमे का कर्मचारी था। जान पड़ता है कि हरिषेण के उपरांत उसके किसी उत्तराधिकारी के शासन-काल में और संभवतः उसके किसी पौत्र के शासन-काल में पुलकेशिन् प्रथम वाकाटकों के क्षेत्र में आ पहुँचा था और उनके साम्राज्य का वैभव तथा पद पाने का दावा करने लगा था। उनके शिलालेखों में वाकाटकों का कोई उल्लेख नहीं है।

सन् २४८ ई० वाला संवत्

§ १०२. हमें तीन तिथियों का उल्लेख मिलता है जिनमें से दो तो अवश्य ही वाकाटकों की हैं और तीसरी भी वाकाटकों की ही जान पड़ती है। प्रवरसेन प्रथम के सिक्के पर ७६ वाँ वर्ष अंकित है (§ ३०)। रुद्रसेन के सिक्के पर १०० वाँ वर्ष अंकित है (§ ६१)। ये दोनों संवत् निस्संदेह रूप से वाकाटकों के ही हैं। इसके सिवा महाराज भीमसेन का शिलालेख है जिस पर ५२ वाँ वर्ष अंकित है (§ ८९)। प्रवरसेन प्रथम ने स्वयं साठ वर्षों तक राज्य किया था। अतः उसके तथा उसके उत्तराधिकारियों के सिक्कों पर जो संवत् मिलते हैं, उनकी गणना का आरंभ पहलेवाले शासक के समय से अर्थात् प्रवरसेन

वाकाटक सिक्कों पर के संवत्

प्रथम के पिता के राज्याभिषेक के समय से हुआ होगा; और गुप्तों का जो काल-क्रम हमें ज्ञात है और उसके साथ वाकाटकों के काल-क्रम का जो मेल मिलता है, उसके अनुसार हम कह सकते हैं कि प्रवरसेन प्रथम के पिता का राज्याभिषेक तीसरी शताब्दी के मध्य में हुआ होगा। ऊपर हमने जो काल क्रम बतलाया है, उससे पता चलता है कि वाकाटकों का उदय सन् २४८-२४६ में हुआ था। प्रवरसेन प्रथम ने तो अवश्य ही इस संवत् का व्यवहार किया था; और अब यदि हमें बाद की शताब्दियों में भी वाकाटक साम्राज्य के किसी भाग में इस संवत् का उपयोग होता हुआ मिल जाय तो हम कह सकते हैं कि यह वही चेदि संवत् था जिसे कुछ लेखकों ने भूल से त्रैकूट संवत् कहा है।

§ १०३. महाराज श्री भीमसेन के गिंजावाले शिलालेख का पता जनरल कनिंघम ने लगाया था; और उसके संबंध में उन्होंने यह भी लिखा था कि इस शिलालेख की लिपि आरंभिक गुप्त ढंग की है, पर इसका आरंभ उसी प्रसिद्ध शैली से हुआ है जो इंडो-सीदियन या भारतीय-शक शिलालेखों में पाई जाती है[1]। जनरल कनिंघम ने इस शिलालेख को गुप्तों से पहले का बतलाया था। इसमें संदेह नहीं कि इसकी शैली भी वही है जो मथुरा में मिले हुए कुशन शिलालेखों की है। उसमें लिखा है—

गिंजावाला शिलालेख

महाराजस्य श्री भीमसेनस्य संवत्सरे

---

१. A. S. R. खंड २१, पृ० ११६, प्लेट ३० और एपिग्राफिया इंडिका, खंड ३, पृ० ३०२; और पृ० ३०८ के सामनेवाला प्लेट।

५०. २ ग्रीष्मपक्षे ४ दिवसे १०. २ (आदि)[1]।

इसमें के नाम भीमसेन, संवत् लिखने के ढंग और अक्षरों के आरंभिक रूप से हमें यही कहना पड़ता है कि भीमसेन का शिलालेख उसी संवत् का है जो संवत् वाकाटक सिक्कों पर व्यवहृत हुआ है। ईसवी संवत् के साथ उसका मिलान इस प्रकार होगा—

संवत् ५२=सन् ३०० ई०
,, ७६=सन् ३२४ ई०
,, १००=सन् ३४८ ई०

इनमें से अंतिम संवत् या वर्ष को छोड़कर बाकी दोनों संवत् या वर्ष प्रवरसेन प्रथम के ही शासन-काल में पड़ते हैं।

§ १०४. इस प्रश्न से संबंध रखनेवाली प्रवरसेन प्रथम के बाद के समय की एक मुख्य और निश्चित बात यह है कि, जैसा कि ऊपर बतलाया जा चुका है,

गुप्त संवत् और वाकाटक

वाकाटकों ने भी कभी गुप्त संवत् का व्यवहार नहीं किया। यहाँ तक कि जिस समय प्रभावती गुप्ता अभिभाविका के रूप में शासन करती थी, उस समय भी उसने संवत् का व्यवहार नहीं किया था।

---

१. इस चित्रित शिलालेख का पाठ मैंने एपिग्राफिया इंडिका से लेकर दिया है जो कनिंघम की लीथो में छपी हुई प्रतिलिपि से अच्छा है। मैंने केवल आवश्यक अंश उद्धृत किया है।

§ १०५. डा० फ्लीट ने यह बात मान ली है कि बुंदेलखंड के पास ही एक ऐसे संवत् का प्रचार था जिसका आरंभ सन् २४८ ई० में हुआ था[1]। गुप्त-काल के दो राजाओं ने अपने समय का उल्लेख किया है। उनमें से एक ने तो उसके साथ गुप्त संवत् का नाम भी लिखा है, पर दूसरे ने जो संवत् दिया है, उसका नाम नहीं दिया है। परिव्राजक महाराज हस्तिन् ने अपने लेखों में गुप्त संवत् १५६, १६३ और १९१ का उल्लेख किया है; परंतु उसके सम-कालीन उच्चकल्प के महाराज शर्वनाथ ने, जिसके साथ महाराज हस्तिन् ने नौगढ़ रियासत के भूमरा नामक स्थान में सीमा निश्चित करने का एक स्तंभ स्थापित किया था, अपने लेखों में एक ऐसे संवत् के १९३, १९७ और २१४ वें वर्ष का उल्लेख किया है जिसका नाम उसने नहीं दिया है। सीमावाले स्तंभों पर इन दोनों शासकों ने इनमें से किसी संवत् का उल्लेख नहीं किया है, बल्कि महामाघ नाम का एक अलग ही संवत्सर दिया है। डा० फ्लीट का कथन है कि यदि शर्वनाथ के दिए हुए वर्षों को हम उसी संवत् का मान लें जिसका आरंभ सन् २४८-२४९ ई० में हुआ था, तो हमें शर्वनाथ के लिये सन् ४६२-६३ ई० और हस्तिन् के लिये सन् ४७५ ई० मिलता है। डा० फ्लीट ने सन् १९०५ में (रायल एशियाटिक सोसायटी का जरनल, पृ० ५६६) अपने इस मत का परित्याग कर दिया था और कहा था कि ये दोनों ही वर्ष गुप्त संवत् के हैं; और इसका कारण उन्होंने यह बतलाया था कि सन् २४८ वाले संवत् का बुंदेलखंड या बघेलखंड

सन् २४८ ई० वाले संवत् का क्षेत्र

---

१. इंडियन एंटीक्वेरी, खंड १९, पृ० २२७।

में अथवा उसके आस-पास प्रचार नहीं था और सन् ४५६ या ४५७ ई० में पश्चिमी भारत में उसका प्रचार था और त्रैकूटक राजा दह्नसेन ने उसका प्रयोग किया था। पर साथ ही डा० फ्लीट ने यह बात भी मान ली थी कि इस संवत् का आरंभ त्रैकूटकों से नहीं हो सकता। इस संबंध में उन्होंने लिखा था—

"पर इस बात का कोई प्रमाण नहीं है कि यह संवत् त्रैकूट संवत् था; और इस बात का तो और भी कोई प्रमाण नहीं है कि यह संवत् स्थापित किया गया था।"

प्रो० रैप्सन का भी यही मत है[1]। किसी किसी ने बारहवीं शताब्दी में कलचुरियों के साथ भी इस संवत् का संबंध स्थापित किया है, पर इस मत को कोई विशेष महत्त्व नहीं दिया जाता; और इसका एक सीधा-सादा कारण यही है कि इतिहास में कहीं इस बात की कोई गुंजाइश ही नहीं है कि कलचुरियों ने सन् २४८ ई० में चेदि देश में अथवा और कहीं कोई संवत् चलाया होगा। फ्लीट ने संकोचपूर्वक कहा था कि इस संवत् का प्रचार करनेवाला आभीर राजा ईश्वरसेन हो सकता है जिसने सातवाहन शक्ति पर प्रबल आघात किया था। फ्लीट ने यह भी बतलाया था कि इस संवत् का किसी न किसी प्रकार सातवाहनों के पतन के साथ संबंध है जो सन् २४८ ई० में हुआ था। इस पर प्रो० रैप्सन ने कहा था—

"परंतु नवीन संवत् का प्रचार किसी नवीन शक्ति की सफल स्थापना का सूचक समझा जाना चाहिए, न कि आंध्रों के प्राथमिक प्रारंभ अथवा पतन का सूचक होना चाहिए।"

---

१. Coins of Andhra Dynasty. पृ० १६२।

और प्रो० रैप्सन ने इस बात परभी जोर दिया था कि आभीरों और त्रैकूटों का संबंध स्थापित करना और उन्हें एक ही राजवंश का सिद्ध करना असंभव है; बल्कि यह भी नहीं कहा जा सकता कि वे लोग एक ही जाति के थे, क्योंकि इस बात का कहीं कोई प्रमाण ही नहीं मिलता। इसके सिवा आभीर लोग जो पश्चिमी शकों के विरुद्ध उठे थे, उनका समय सन् २४८ ई० से बहुत पहले अर्थात् सन् १८८-१९० के लगभग था[1]।

§ १०६. त्रैकूटक लोग वाकाटकों के करद और अधीनस्थ थे और उन्होंने भी उसी संवत् का प्रयोग किया था, जिस संवत् का प्रयोग प्रवरसेन प्रथम ने किया था; और इससे यही सूचित होता है कि वे वाकाटकों के अधीनस्थ थे। त्रैकूटक राजा अपने नाम के साथ महाराज की पदवी लगाते थे जो करद और अधीनस्थ राजाओं की उपाधि थी। वाकाटक साम्राज्य के पश्चिमी भाग में इस संवत् का जो प्रचार मिलता है, उससे यही सूचित होता है कि इसका प्रचार वाकाटकों के करद और अधीनस्थ राजाओं में था। प्रभावती गुप्ता के समय से लेकर प्रवरसेन द्वितीय के समय तक के अलग अलग राजाओं ने अपने शासन-काल के वर्षों का जो प्रयोग किया है, वह एक ऐसे समय में किया था, जब कि वाकाटकों के राज-दरबार में गुप्तों का प्रभाव अपनी चरम सीमा तक पहुँचा हुआ था।

§ १०७. डा० फ्लीट को इस संबंध में केवल यही आपत्ति थी कि त्रिकूट का, जहाँ ईसवी पाँचवीं शताब्दी में इस संवत् का

---

१. विंसेंट स्मिथ कृत Early History of India. पृ० २२६ पाद-टिप्पणी, जिसमें डा० डी० आर० भांडारकर का मत उद्धृत है।

प्रचार पाया जाता है, चेदि (बुंदेलखंड और बघेलखंड) के साथ, जिससे सन् २४८ ई० वाला संवत् संबद्धत् है, कोई संबंध देखने में नहीं आता। पर वाकाटकों के जिस इतिहास का पता चला है, उसे देखते हुए यह आपत्ति भी दूर हो जाती है। हम देखते हैं कि प्रवरसेन प्रथम के समय में चेदि देश में यह संवत् प्रचलित था। पहले फ्लीट का मत था कि शर्वनाथ के वर्ष सन् २४८ ई० वाले संवत् के हैं; और यही मत ठीक जान पड़ता है। इस बात में जरा भी संदेह नहीं है कि महाराज हस्तिन् गुप्तों का अधीनस्थ था; और इसीलिये इस बात की आवश्यकता हुई थी कि वाकाटक साम्राज्य के अंतर्गत महाराज शर्वनाथ के राज्य और गुप्त साम्राज्य के अंतर्गत हस्तिन् के राज्य के बीच में सीमा निश्चित करनेवाला स्तंभ स्थापित किया जाय। शर्वनाथ और हस्तिन् दोनों ही अधीनस्थ तथा करद राजा थे और हस्तिन् निश्चित रूप से गुप्तों का अधीनस्थ और करद था। इसलिये शर्वनाथ वाकाटकों का ही करद और अधीनस्थ हो सकता था, जिसकी राजधानी अथवा नचना नगर उच्चकल्प या उचहरा (नौगढ़ रियासत) से कुछ ही मीलों की दूरी पर था।

§ १०८. दो बातें ऐसी हैं जिनसे सिद्ध होता है कि सन् २४८ ई० वाला संवत् वाकाटक संवत् था। पुराणों में सातवाहनों के पतन के वर्णन के उपरांत कहा गया है कि सातवाहनों के उपरांत उनके साम्राज्य पर अधिकार करनेवाला विंध्यशक्ति था। अतः जब एक नई शक्ति का उत्थान होगा, तब तुरंत ही अथवा उसके कुछ बाद अवश्य ही एक नए संवत् का प्रचार होगा; और गुप्त संवत् समुद्रगुप्त के शासस-काल के अंतिम दिनों में अथवा चंद्रगुप्त द्वितीय के शासन-काल में प्रचलित हुआ था। समुद्रगुप्त

के जो नकली ताम्रलेख हैं और जो गया तथा नालंदा के ताम्रलेख कहलाते हैं और जो असली ताम्रलेखों की नकल हैं और उन्हें देखकर बनाए गए हैं उन पर शासन-काल या राज्यारोहण के वर्ष दिए गए हैं। इस संबंध में ध्यान रखने की दूसरी बात यह है कि प्रवरसेन प्रथम ही सम्राट् हुआ था और उससे पहले के सम्राटों अर्थात् कुशन सम्राटों का एक स्वतंत्र संवत् था। उन दिनों एक नये साम्राज्य की स्थापना का एक मुख्य लक्षण यह भी हो गया था कि एक नया संवत् चलाया जाय। समुद्रगुप्त ने भी ऐसा ही किया था और उसने भी प्रवरसेन की तरह अपने पिता के राज्याभिषेक के समय से संवत् चलाया था। यह स्पष्ट है कि उसने भी वाकाटकों का ही अनुकरण किया था और उसका उदाहरण हमें एक प्रतिकारी कार्य की भाँति सहायता देता है।

इसलिये सन् २४८-४९ वाले संवत् को, जिसका आरंभ ५ सितंबर सन् २४८ ई० को हुआ था[1], हम चेदि का वाकाटक संवत् कहेंगे।[2]

---

१. कीलहार्न, एपिग्राफिया इंडिका, खंड ९, पृ० १२९।

२. उच्चकल्प के महाराज जयनाथ के वर्ष यदि सन् २४८ ई० वाले संवत् के मान लिए जायँ तो उसके कारी-तलईवाले ताम्रलेख, जिन पर संवत् १७४ दिया है, सन् ४२२ ई० के ठहरते हैं, और यदि हम बीच में ४५ वर्ष या इसके लगभग का अंतर मान लें तो जयनाथ का पिता व्याघ्र पृथ्वीषेण प्रथम के समय में नवयुवक रहा होगा और उसने अपने

राजा की राजधानी में अवश्य कुछ दान-पुण्य किया होगा; और उस दशा में यह वही व्याघ्रदेव हो सकता है जिसके तीन शिलालेख गंज और नचना में मिले हैं। पर हाँ, इस समय जो सामग्री उपलब्ध है, केवल उसी के आधार पर यह नहीं कहा जा सकता कि ये दोनों व्यक्ति एक ही थे। पर यदि वे दोनों एक ही हों तो फिर जयनाथ के दिए हुए वर्ष सन् २४८ ई० वाले संवत् के ही होने चाहिएँ।

तीसरा भाग

मगध (३१ ई० पू० से सन् ३४० ई० तक) और गुप्त भारत (सन् ३५० ई०)

राजाधिराज पृथिवीमवित्व-
दिवं-जयत्य-अप्रतिवार्यवीर्यः ।

अर्थात् अप्रतिवार्य (जिसका निवारण या सामना न किया जा सके) शक्ति रखनेवाले महाराजाधिराज देश की रक्षा करके स्वर्ग को जीतते हैं ।—समुद्रगुप्त का अश्वमेधवाला सिक्का ।

आसमुद्रक्षितीशानाम् आ-नाकरथ-वर्त्मनाम् ।

—कालिदास ।

११. सन् ३१ ई० पू० से २५० ई० तक का मगध का इतिहास और गुप्तों का उदय) सन् २७५ से ३७५ ई० तक)

§ १०६. पुराणों में कहा गया है कि जब कण्वों का पतन हो गया, तब मगध पर आंध्रों (सातवाहनों) का राज्य हो गया।

पाटलिपुत्र में आंध्र और लिच्छवी

इलाहाबाद जिले के भीटा नामक स्थान में खुदाई होने पर सातवाहनों के जो सिक्के मिले हैं, उनसे पुराणों के इस कथन का समर्थन होता है। पटने के पास कुम्हराड़ नामक स्थान में मेरे सामने डाक्टर स्पूनर ने जो एक सातवाहन सिक्का खोदकर निकाला था, उसे मैंने पढ़ा है। जब मगध में कण्वों

का पतन हो गया (ई० पू० ३१) तब उसके बाद पाटलिपुत्र और मगध में सातवाहनों का राज्य पचास वर्षों से अधिक न रहा होगा। लिच्छवी-वंश के जयदेव द्वितीय का जो नेपालवाला शिलालेख है और जिस पर श्रीहर्ष संवत् १५३ (=सन् ७५८ ई०)[१] दिया है, उसमें कहा गया है कि जयदेव प्रथम से २३ पीढ़ियाँ पहले उसका पूर्व पुरुष सुपुष्प लिच्छवी हुआ था जिसका जन्म पुष्पपुर नगर में हुआ था। डा० फ्लीट ने हिसाब लगाकर जयदेव प्रथम का समय लगभग सन् ३३० ई० से ३५५ ई० तक निश्चित किया है[२] (यदि इन तेईस राजाओं की लंबी सूची के प्रत्येक राजा के लिये हम औसत में लगभग पंद्रह वर्षों का भी समय रख लें तो हम कह सकते हैं कि सुपुष्प ईसवी पहली शताब्दी के आरंभ में हुआ था। पाटलिपुत्र पर अधिकार करने के लिये लिच्छवियों ने सातवाहन सम्राट् से आज्ञा प्राप्त की होगी। अथवा कई शताब्दियों से लिच्छवी लोग मगध की राजधानी पाटलिपुत्र पर अधिकार करना चाहते थे, और इसलिये यह भी संभव है कि उन्होंने स्वतंत्र रूप से ही उस पर अधिकार कर लिया हो। उत्तरी भारत में केडफिसस और वेम केडफिसस के आ पहुँचने के कारण सातवाहन सम्राट् के कामों में अवश्य ही गड़बड़ी पड़ी होगी, और इसी कारण पाटलिपुत्र में जो स्थान रिक्त हुआ था, उसकी पूर्ति करने

---

१. इंडियन एंटिक्वेरी, खंड ९, पृ० १७८; फ्लीट-कृत Gupta Inscriptions की प्रस्तावना, पृ० १८४-१८५।

२. फ्लीट-कृत Gupta Inscriptions की प्रस्तावना, पृ० १३५, १९१ और इंडियन एंटिक्वेरी, खंड १४, पृ० ३५०।

के लिये लिच्छवियों को यथेष्ट अवसर मिल गया होगा। हम यह भी मान सकते हैं कि उस शताब्दी के अंत में जब कनिष्क का वाइसराय या उपराज वनस्पर आगे बढ़ने लगा था, तब पाटलिपुत्र पर से लिच्छवियों का अधिकार उठ गया होगा[1]।

§ ११०. जब लिच्छवी लोग लगभग एक सौ वर्षों तक पाटलिपुत्र को अपने अधिकार में रख चुके थे, तब भार-शिवों के द्वारा गंगा की तराई के स्वतंत्र कर दिए जाने
कोट का क्षत्रिय राजवंश पर लिच्छवियों ने अवश्य ही अपने मन में समझा होगा कि हम मगध पर फिर से अपना राज्य स्थापित करने के अधिकारी हैं। परंतु जब भार-शिवों ने फिर से देश का राजनीतिक संगठन किया था, तब हम देखते हैं कि मगध पर आर्य-धर्म को न माननेवाले लिच्छवियों का अधिकार नहीं था, बल्कि एक सनातनी क्षत्रिय-वंश का अधिकार था। कौमुदी-महोत्सव में इस वंश को "मगध-कुल" कहा गया है और समुद्रगुप्त ने इसे "कोट-कुल" कहा है। जान पड़ता है कि इस वंश के संस्थापक का नाम कोट था। इस कोट का जो वंशज समुद्रगुप्त का समकालीन था और इलाहाबादवाले शिलालेख के आरंभिक अंश में से जिसका नाम मिट गया है, वह कोट-कुलज कहलाता है। मगध के इन राजाओं के नामों के अंत में "वर्म्मन्" होता था[2]। अवश्य ही इस वंश की स्थापना सन् २००-२५० ई० के लगभग हुई होगी।

---

१. देखो ऊपर पहला भाग (§ ३३)।

२. देखो Bhandarkar Annals १६३०, खंड १२, पृ० ५० में और उसके आगे मेरा लिखा हुआ Historical Data in

§ १११. गुप्त लोग मगध में किसी स्थान पर सन् २७५ ई० के लगभग प्रकट होते हैं। इनमें का पहला राजा गुप्त[1] एक करद और अधीनस्थ राजा के रूप में उदित होता है। आगे चलकर हम देखते हैं कि आरंभिक गुप्तों का संबंध इलाहाबाद (प्रयाग) और अवध (साकेत) से था, क्योंकि ऐसा जान पड़ता है कि महाराज गुप्त की जागीर इलाहाबाद के आस-पास कहीं थी। इसी का पुत्र घटोत्कच था और घटोत्कच का पुत्र इस वंश का ऐसा पहला राजा था जिसने अपने वंश के संस्थापक गुप्त का नाम अपने वंश-नाम के रूप में प्रचलित किया था; और तभी से इस वंश के राजा अपने नाम के अंत में "गुप्त" शब्द रखने लगे थे। उसका नाम चंद्र था। कौमुदी-महोत्सव में इस चंद्र का प्राकृत नाम चंडसेन[2] मिलता है। जिस समय इस

गुप्त और चंद्र

---

the drama Kaumudi Mahotsava (कौमुदी-महोत्सव नाटक में ऐतिहासिक तथ्य)।

२. प्रभावती गुप्ता (पूनावाले प्लेट, एपिग्राफिया इंडिका, १५) ने इसे बहुत ही उपयुक्त रूप से "आदिराज" कहा है।

१. चंद्र का जो प्राकृत में चंड हो जाता है, इसके प्रभाव के लिये सातवाहन राजा चंडसाति का वह अभिलेख देखो जो एपिग्राफिया इंडिका, खंड १८, पृ० ३१७ में प्रकाशित हुआ है और श्री चंद्रसाति के सिक्के जिनमें "चंद्र" के स्थान पर "चंड" अंकित है। देखो रैप्सन कृत Coins of Andhras, पृ० ३२। इसी प्रकार नाम के अंत का जो "सेन" शब्द छोड़ दिया गया है, उसकी पुष्टि इस बात से होती है कि इसी राजा ने बसंतसेन को बसंतदेव कहा है। (देखो

चंद्र का उदय हुआ था, उस समय पाटलिपुत्र में मगध का राजा सुंदर वर्म्मन राज्य करता था। इसके प्रासाद का नाम सु-गांग था और उसी प्रासाद में रहकर यह शासन करता था। खारवेल-वाले शिलालेख में इस प्रासाद का नाम "सु-गांगीय" दिया है और मुद्रा-राक्षस में इसे सु-गांग प्रासाद कहा गया है। इस प्रकार राजनगर पाटलिपुत्र अपने प्राचीन प्रासाद समेत सुंदर वर्म्मा और चंद्र के समय तक ज्यों का त्यों मौजूद था। राजा सुंदर वर्म्मन् की अवस्था अधिक हो गई थी और वह वृद्ध था; और उसका दो ही तीन वर्षों का एक बच्चा था जो अभी तक दाई की गोद में रहता था। जान पड़ता है कि इस शिशु राजकुमार के जन्म से पहले ही मगध के राजा ने चंद्र अथवा चंद्रसेन को दत्तक रूप में ले रखा था। चंद्र यद्यपि राजा का कृतक पुत्र था, परंतु फिर भी अवस्था में बड़ा होने के कारण अपने आपको राज्य का उत्तरा-धिकारी समझता था। उसने उन्हीं लिच्छवियों के साथ विवाह-संबंध स्थापित किया था जो उसी कौमुदी-महोत्सव नाटक में मगध के शत्रु कहे गए हैं[1]। लिच्छवियों ने चंद्र को साथ लेकर एक बहुत बड़ी सेना की सहायता से पाटलिपुत्र पर घेरा डाला था। उसी युद्ध में वृद्ध राजा सुंदर वर्म्मन् मारा गया था। सुंदर वर्म्मन् के कुछ स्वामिनिष्ठ मंत्री शिशु राजकुमार कल्याण वर्म्मन् को किसी प्रकार वहाँ से उठाकर किष्किंधा की पहाड़ियों में ले गए थे। चंद्र

Gupta Inscriptions की प्रस्तावना, पृ० १८६ और उसके आगे)। दहसेन ने अपने सिक्कों पर अपना नाम 'दह-गण' दिया है। C. A. D. पृ० १६४)।

१. यह नाटक आंध्र रिसर्च सोसाइटी के जरनल, खंड २ और ३ में प्रकाशित हुआ है।

ने एक नवीन राज-कुल की स्थापना की थी। कौमुदीमहोत्सव की क्रुद्ध रचयित्री ने लिच्छवियों को म्लेच्छ और चंडसेन को कारस्कर कहा है; और कारस्कर का अर्थ होता है—एक जाति हीन या छोटी जाति का ऐसा आदमी जो राज-पद के उपयुक्त न हो[१]।

§ ११२. चंद्रगुप्त प्रथम आगे चलकर बहुत अधिक भाग्यशाली और वैभव-संपन्न हुआ था। परंतु उसका परवर्ती इतिहास बतलाने से पहले हम यहाँ यह देखना चाहते हैं कि क्या गुप्तों की जाति का भी कुछ पता चल सकता है; क्योंकि उनकी जाति का प्रश्न अभी तक रहस्यमय बना हुआ है और उसका कुछ भी पता नहीं चला है। तत्कालीन अभिलेखों आदि से हमें निम्नलिखित तथ्य मिलते हैं—

गुप्तों की उत्पत्ति

(क) गुप्तों ने कहीं अपनी उत्पत्ति या मूल और जाति आदि का कोई उल्लेख नहीं किया; मानों उन्होंने जान-बूझकर उसे छिपाया हो। और

(ख) वे लोग धारण नामक उप-जाति के थे।

गुप्त महारानी प्रभावती गुप्ता के अभिलेख से हमें इस बात का पता चलता है कि वह धारणा गोत्र की थी[२]। जान पड़ता है

---

१. कहिं एरिस वंणस्स से राअसिरी ?—कौमुदी-महोत्सव, अंक ४, पृ० ३० ।

२. एपिग्राफिया इंडिका, खंड १५, पृ० ४१ । साथ ही मिलाओ उक्त ग्रंथ के पृ० ४२ की पाद-टिप्पणी ।

कि उस अभिलेख में उसने अपने पिता का गोत्र दिया है; क्योंकि उसके पति का गोत्र भिन्न (विष्णु-वृद्ध) था। कौमुदी महोत्सव से हमें इस संबंध में एक और बात यह मालूम होती है कि वह कारस्कर जाति का था। बौधायन में कहा है कि कारस्कर एक छोटी जाति है और इस जाति के लोगों के यहाँ ब्राह्मणों को नहीं जाना चाहिए; और यदि वे जायँ भी तो उनके यहाँ से लौटकर उन्हें प्रायश्चित्त अथवा अपनी शुद्धि करनी चाहिए[1]। बौधायन में कारस्कर लोग पंजाबी अरट्टों के मेल में रखे गए हैं और अरट्ट का शब्दार्थ होता है—"प्रजातंत्री"। उनका ठीक निवासस्थान हेमचंद्र ने बतलाया है और शाल्वों की व्याख्या करते समय कहा है कि वे कार नामक तराई के रहनेवाले हैं[2]। कारपथ या कारापथ नामक स्थान हिमालय के नीचेवाले प्रदेश में था[3]। शाल्व लोग मद्रों के एक विभाग के थे और स्यालकोट में रहते थे, जहाँ वे सियाल कहलाते थे; और यह सियाल "शाल्व" से ही निकला है; और यह "शाल्य" भी लिखा जाता है[4] और यह नाम अब तक प्रचलित है। इसलिये कारस्कर लोग पंजाब के रहनेवाले थे और मद्रों के एक उप-विभाग थे। हमें यह भी ज्ञात है कि मद्र लोग वाहीक और जार्तिक भी

---

१. बौधायन-कृत धर्म-सूत्र १. १. ३२.

२. हेमचंद्र-कृत अभिधान-चिंतामणि ४, पृ० २३. शाल्वस्तु कारकुक्षीया।

३. रघुवंश, १५. ६०. विल्सन का विष्णु-पुराण, खंड ३, पृ० ३६०.

४. विल्सन और हाल का विष्णु-पुराण, खंड ५, पृ० ७०.

कहलाते थे[१]। इस प्रकार मद्रक समाज[२] कई उप-विभागों के योग से बना था जिनमें शाल्व और यर्त्री अथवा जार्तिक लोग भी थे जिन्हें हम आजकल "जाट" कहते हैं और साथ ही कई दूसरे उप-विभाग भी थे अब हम यहाँ पाठकों को चंद्रगोमिन् के व्याकरण का वह उदाहरण स्मरण कराते हैं जिसमें कहा गया है—"जार्त्त (राजा) ने हूणों को परास्त किया।" यहाँ जार्त्त शब्द से मुख्यतः स्कंदगुप्त का अभिप्राय है[३]। इस प्रकार हमें कई भिन्न भिन्न साधनों से इस एक ही बात का पता चलता है कि गुप्त लोग कारस्कर जाट थे, जो पंजाब से चलकर आए थे। मेरी समझ में आज-कल के कक्कड़ जाट[४] उसी मूल समाज के प्रतिनिधि

---

१. रोज-कृत Glossary of Punjab Tribes and Castes १. ५६. ग्रियर्सन-कृत Linguistic Survey of India, खंड ६, भाग ४, पृ० ४. पाद ८. महाभारत, कर्ण पर्व (श्लोक २०३४.)

२. मद्रक के संबंध में देखो मेरा लिखा हिंदू राज्यतंत्र, पहला भाग. पृ० १९६-१९७. इसका अर्थ होता है—"मद्र राज्य का निष्ठ नागरिक"।

३. Gupta Inscriptions, पृ० ५४, (पं० १५); पृ० ५६ (पं० ४), दो अभिलेखों (भीतरी और जूनागढ़वाले) में एक प्रसिद्ध और निर्णायक युद्ध का वर्णन है। परन्तु यशोवर्म्मन् ने कश्मीर पर केवल चढ़ाई की थी, (Gupta Inscription, पृ० १४७, पं० ६) और यशोधर्म्मन् की अधीनता हूणों ने बिना किसी युद्ध के ही स्वीकृत कर ली थी।

४. मिलाओ रोज कृत Glossary २. २६३, पाद-टि०। इस नाम का उच्चारण 'कक्कड' भी होता है।

हैं, जिस समाज के गुप्त लोग थे। कारस्करों में गुप्त लोग जिस विशिष्ट उप-विभाग के थे, उसका नाम जारण था प्रभावती गुप्ता के अभिलेख (पूना प्लेट्स) में जो 'गोत्र' शब्द आया है, उसका मतलब जातीय उप-विभाग से ही है। अमृतसर में धारी नाम के एक प्रकार के जाट पाए जाते हैं[१]; और इस "धारी' शब्द की तुलना हम प्रभावती गुप्ता के संस्कृत शब्द 'धारण' से कर सकते हैं। इस बात का पूरा पूरा समर्थन कौमुदी-महोत्सव से भी होता है और चंद्रगोमिन् से भी होता है जो निस्संदेह एक गुप्त ग्रंथकार था।

§ ११३. संभवतः मद्रक जाट उन दिनों बहुत हीन जाति के नहीं समझे जाते थे, क्योंकि यदि वे लोग छोटी जाति के होते तो राजा सुंदरवर्म्मन् कभी चंद्रसेन को अपना दत्तक बनाने का विचार न करता। जान पड़ता है कि पहले वह चंद्र को ही अपना सारा राज्य देना चाहता था। परंतु जब किसी छोटी रानी के गर्भ से कल्याणवर्म्मन् का जन्म हुआ (कल्याणवर्म्मन् के संबंध में जो "माताएँ" शब्द का प्रयोग किया गया है, उससे सूचित होता है कि उसकी कई सौतेली माताएँ थीं) तब दत्तक पुत्र और उसे दत्तक लेनेवाले पिता में झगड़ा आरंभ हुआ। प्रजा ने जो उस समय चंद्र का बहुत अधिक विरोध किया था, उसका वास्तविक कारण यही था कि उन दिनों लोग कारस्करों को इसलिये बुरा समझते थे कि वे लोग सनातनी चातुर्वर्णाश्रम के अंतर्गत नहीं थे। महाभारत में मद्रकों को भी इसीलिये निंदनीय माना गया है। उन लोगों में

१. Glossary of Tribes & Castes of the Panjab & N. W. Frontier, खंड २, पृ० २३५.

कर दिया था। इस प्रकार अलबेरूनी ने उस समय एक सत्य और परंपरागत ऐतिहासिक तथ्य का ही उल्लेख किया था, जिस समय उसने यह कहा था कि गुप्त-काल का राजा अथवा राजा लोग निर्दय और दुष्ट थे। 'हिंदुओं की स्मृतियों में राष्ट्रीय संघटन और व्यवस्था के ऐसे नियम पहले से लिखे हुए वर्त्तमान थे जिनका यह विधान था कि जो राजा अत्याचारी हो अथवा जिसके हाथ अपने माता-पिता के रक्त से रंजित हों, उस राजा का नाश कर डालना चाहिए'[1]। इसलिये मगधवालों ने एक योजना प्रस्तुत की और वे चंद्रगुप्त प्रथम के विरुद्ध उठकर खड़े हो गए। उन्होंने वाकाटक प्रदेश (पंपासर) से कुमार कल्याणवर्म्मन को बुलवा लिया था और पाटलिपुत्र के सुगांग प्रासाद में उसका राज्याभिषेक कर डाला था। इस संबंध में कौमुदी-महोत्सव की रचयित्री ने बहुत ही प्रसन्न होकर कहा था—"वर्णाश्रम धर्म की फिर से प्रतिष्ठा हुई है, चंडसेन के राजकुल का उन्मूलन हो गया है"[2]। यह घटना उस समय की है, जब कि चंद्रगुप्त विद्रोही शबरों के साथ लड़ने के लिये एक ऐसे स्थान पर गया हुआ था जो रोहतास और अमरकंटक के मध्य में था। यह विदेशी राजा सन् ३४० ई० के लगभग मगध से निकाला गया था; क्योंकि कहा गया है कि उस समय कल्याण वर्म्मा हिंदुओं के नियमों के अनुसार अपना राज्याभिषेक कराने के लिए पूर्ण रूप से

---

१. Hindu Polity, दूसरा भाग ५०, १८६.

२. प्रकटितवर्णाश्रमपथमुन्मूलितचंडसेनराजकुलम् ।—कौमुदी-महोत्सव, अंक ५।

वयस्क हो गया था[१]। जिस वर्ष कल्याण वर्म्मा का राज्याभिषेक हुआ था, उसी वर्ष मथुरा के राजा की कन्या के साथ उसका विवाह भी हो गया था।

गुप्तों का विदेश-वास और उनका नैतिक रूप परिवर्त्तन

§ ११७. गुप्त लोग जो बिहार से निर्वासित हुए थे, वह अधिक समय के लिये नहीं हुए थे; केवल सन् ३४० ई० से ३४४ ई० तक ही वे बिहार से बाहर रहे थे परंतु उनके इस विदेश-वास का एक बहुत बड़ा परिणाम हुआ था और उसका भविष्य पर बहुत कुछ प्रभाव पड़ा था। उनके इस विदेश-वास के परिणाम-स्वरूप केवल बिहार का ही नहीं बल्कि सारे भारत का इतिहास ही बिल्कुल बदल गया था। अब गुप्तों का वंश ऐसे विदेशियों का वंश नहीं रह गया था जो राज्य पर अनुचित रूप से अधिकार कर लेनेवाले समझे जाते थे, बल्कि वह परम हिंदू-मागधों का एक ऐसा वंश बन गया था जो धर्म, ब्राह्मण, गौ तथा हिंदू-भारत के साहित्य तक्षण-कला, भाषा, धर्म-शास्त्र, राष्ट्रीय संस्कृति और राष्ट्रीय सभ्यता के संरक्षक और समर्थक थे। समुद्रगुप्त के राजकीय जीवन का आरंभ वाकाटकों की अधीनता में एक करद और अधीनस्थ शासक के रूप में हुआ था और उसके वाकाटकों का गंगा देवी-

---

१. पाटलिपुत्र पर चंद्रगुप्त प्रथम का अधिाकर सन् ३२० ई० में हुआ और राज्याभिषेक २५ वर्ष की अवस्था में होता था। कल्याण-वर्म्मा लगभग २० वर्षों तक विदेश में रहा था और इसलिये पाटलिपुत्र पर उसका फिर से अधिकार लगभग सन् ३४० ई० में हुआ होगा।

वाला साम्राज्य-चिह्न अपने सिक्कों पर अंकित कराया था और केवल राजा की उपाधि ग्रहण की थी। उस समय उसने किसी प्रकार के राजकीय चिह्न नहीं धारण किए थे जैसा कि व्याघ्र वर्गवाले सिक्कों पर दी हुई उसकी मूर्त्ति से प्रकट होता है। परंतु अंत में उसने गर्वपूर्वक अपने साम्राज्य के सोने के सिक्कों पर गरुड़-ध्वज भी अंकित कराया था; और इतिहास में बहुत ही थोड़े से राजाओं को इस प्रकार अपने सिक्कों पर गरुड़-ध्वज अंकित कराने का सौभाग्य और संतोष प्राप्त हुआ है। अपना साम्राज्य स्थापित करने के उपरांत उसने अपने जो सिक्के चलाए थे, उनपर उसने हिंदू-वीर और हिंदू-आदर्श की इस प्रकार अभिव्यक्ति की थी कि उसने उनपर अंकित करा दिया था कि मैंने सारे देश पर विजय प्राप्त करके उसका शासन इतनी उतमता से किया है कि अपने लिये स्वर्गपद प्राप्त कर लिया है (देखो ऊपर पृ० २४३)। वाकाटक-सम्राट् के अनुकरण पर उसने संस्कृत को राजकीय भाषा बनाकर उसे अपने दरबार में स्थान दिया था और पाटलिपुत्र के साम्राज्य-सिंहासन पर आसीन होकर अश्वमेध यज्ञ किए थे।

अयोध्या और उसका प्रभाव

§ ११७. क. पाटलिपुत्र से निकाल दिए जाने पर जिस समय चंद्रगप्त प्रथम या तो बहुत अधिक दुःखी होने के कारण और या युद्ध में घायल होने के कारण मरने लगा था, उस समय उसने समुद्रगुप्त को, जो उसके छोटे लड़कों में से एक था, अपने पास बुलाकर नेत्रों में आँसू भरकर और अपने मंत्रि-मंडल की स्वीकृति तथा सहमति से कहा था—"अब तुम राजा बनो" (राज्य की रक्षा करो)। और इसके बाद

ही वह मर गया था[१]। उसकी मृत्यु अवश्य ही गंगा के उस पार उसके संबंधी लिच्छवियों के राज्य में हुई होगी। उसका पुत्र समुद्रगुप्त भी लिच्छवियों का अधीनस्थ और संबंधी ही था और उस समय उसे साकेत का अर्थात् आस-पास का अवध का प्रदेश मिला होगा, जहाँ अयोध्या में हम इसके बादवाले शासनों में गुप्त सम्राटों को अपने दूसरे और प्रिय राजनगर में निवास करते हुए पाते हैं। अयोध्या में भी उन दिनों संस्कृति का एक केंद्र था। अयोध्या में ही वह कवि अश्वघोष हुआ था जो इससे ठीक पहलेवाले अब्दप्रवर्त्तक काल का कालिदास माना जाता है। वह बहुत बड़ा विद्वान् शिखरस्वामी भी अयोध्या का ही रहनेवाला था जो आगे चलकर रामगुप्त और चंद्रगुप्त द्वितीय का अमात्य या प्रधान मंत्री हुआ था[२]। सनातनी परंपरा के अनुसार अयोध्या में ही रामचंद्र की राजधानी थी और इसीलिये समुद्रगुप्त ने अपने सबसे बड़े लड़के का नाम रामगुप्त रखा था;[३] और यह एक ऐसा नाम था जो सारी पुरानी हिंदू-सभ्यता को व्याप्त

---

१. Gupta Inscriptions, पृ० ६।

२. बिहार और उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी का जरनल, खंड १८, पृ० ३७।

३. अरब ग्रंथकार अबू सालेह ने लोकप्रिय रम-पाल (रव्वाल) नाम अपने ग्रंथ में दिया है। (बि० उ० रि० सो० का जनरल, १८ पृ० २१) और इसका मिलान हम गुप्तों की राजावलीवाले उन नामों से कर सकते हैं जो कनिंघम को अयोध्या में मिली थी। उस नामावली के नामों के अंत में "गुप्त" के स्थान पर "पाल" शब्द मिलता है। जैसे समुद्रपाल, चंद्रपाल आदि। A. S. R. खंड ११, पृ० ६६।

करनेवाला था। समुद्रगुप्त ने उस परंपरा को पूर्ण रूप से ग्रहण कर लिया था। समुद्रगुप्त और उसके उत्तराधिकारियों के राजनीतिक विधान का हिंदू विद्या एक अंग बन गई थी। उनके राष्ट्रीय कार्य तथा राजनीतिक स्वरूप विष्णु की राजस (अर्थात् राजाओं के उपयुक्त) भक्ति के साँचे में ढल गया था। वे भारतवर्ष के राज्य का विष्णु की ही भाँति दृढ़तापूर्वक और पोषण करने के लिये उठ खड़े हुए थे। उनकी भक्ति बहुत प्रबल और गंभीर है। वे विष्णु का ही ध्यान करते हैं और विष्णु में ही ध्यान करते हैं। समुद्रगुप्त और चंद्रगुप्त द्वितीय दोनों अपने देवता के साथ मिलकर एक-रूप हो गए हैं। एरन में समुद्रगुप्त द्वारा स्थापित जो विष्णु की मूर्त्ति है, उसे जिस किसी ने देखा होगा, उसे स्वयं समुद्रगुप्त का भी स्मरण हो आया होगा और उसने उस मूर्त्ति में स्वयं समुद्रगुप्त की आकृति और परिच्छेद देखे होंगे और उदयगिरि में चंद्रगुप्त-गुहा में जो व्यक्ति विष्णुवराह की मूर्त्ति देखेगा, उसे यह स्मरण हो आवेगा कि चंद्रगुप्त द्वितीय स्वयं ही ध्रुवदेवी का उद्धार कर रहा है[1]। अपने समय की जो आध्यात्मिक और धार्मिक प्रवृत्तियाँ राजकीय और राष्ट्रीय भावों आदि को फिर से जन्म देती हैं, बिना उन्हें अच्छी तरह समझे कोई किसी राजनीतिक सुधार या रूपांतर का स्वरूप ठीक तरह से नहीं जान सकता और इसीलिये इस अवसर पर गुप्तों की इस प्रकार की सब बातों का ठीक ठीक स्वरूप यहाँ जान लेना आवश्यक है।

§ ११८. भीतरी में भी और मेहरौली में भी गुप्तों ने अपनी जो विजएँ विष्णु को अर्पण की थीं, जिस ठाठ-बाट से उन्होंने अश्व-

---

१. मिलाओ वि० उ० रि० सो० का जनरल, खंड १८, पृ० ३५।

मेध यज्ञ किए थे, जिस प्रकार उदारतापूर्वक उन यज्ञों में उन्होंने दान दिए थे और जिस ठाठ से अपने गरुडमदंक सिक्के प्रचलित किए थे, उन सबका ठीक ठीक अभिप्राय बिना उक्त मूल मंत्र को जाने कभी समझ में नहीं आ सकता। हम इन्हें हिंदू-मुगल कह सकते हैं, परंतु इनमें न तो मुगलोंवाली क्रूरता ही थी और न चरित्र-भ्रष्टता ही; और बिना इस कुंजी के इनके रहस्य का उद्घाटन नहीं हो सकता। बिना इसके आपको इस बात का पता नहीं चल सकता कि चंद्रगुप्त द्वितीय ने किस प्रकार प्राण-दंड की प्रथा उठा दी थी[1], किस प्रकार उसने हिंदुत्व के वैभव की कीर्त्ति को चरम सीमा पर पहुँचा दिया था और किस प्रकार उसने उत्तम शासन की ऐसी सीमाएँ निर्धारित की थीं जिनका और अधिक विस्तार कोई राज-दंड नहीं कर सका था।

§ ११६. भार-शिवों से लेकर वाकाटकों के समय तक उसी शिव का राज्य था जो सामाजिक त्याग और सन्यास का देवता था, जो सर्वशक्तिमान ईश्वर का संहारक
प्राचीन और नवीन धम रूप था और जो परम उदार तथा दानी होने पर भी अपने पास किसी प्रकार की संपत्ति नहीं रखता था, जिसके पास कोई भौतिक वैभव नहीं था, और जो परम उग्र तथा घोर था। परंतु इसके विपरीत दूसरे गुप्त राजा तथा पहले गुप्त सम्राट् समुद्रगुप्त ने ईश्वर के उस रूप का आवाहन किया था जिसका कार्य राजकीय और राजस है, जो अपने शरीर पर भभूत नहीं रमाता, बल्कि स्वर्ण के अलंकार धारण करता है, जो रचना और शासन करता

---

१. फा-हियान, सोलहवाँ प्रकरण।

है, जो वैभव की रक्षा करता और उसे देखकर सुखी होता है और जो हिंदू-राजत्व का परंपरागत देवता है। विष्णु सब देवताओं का राजा है, खूब अच्छे अच्छे वस्त्र और आभूषण पहनता है, सीधा तनकर खड़ा रहता है और अपनी प्रजा के राज्य का शासन करता है; जो वीर है और युद्ध का विजयदेवता है (उसका चिन्ह चक्र है जो साम्राज्य का लक्षण है) और जो उन समस्त दुष्ट शक्तियों का अप्रतिहार्य रूप से नाश करता है जो विष्णु भगवान् के साम्राज्य पर आक्रमण करती हैं। युद्ध तथा विजय की धोषणा करने के लिये उसके एक हाथ में शंख है। तीसरे हाथ में शासन का दंड या गदा है और चौथे हाथ में कमल है जो उसकी प्रजा के लिये संपन्नता, वृद्धि और आनंद का सूचक चिह्न है। इस राजम देवता के धर्म को ही समुद्रगुप्त ने अपने वंश और देश का धर्म बनाया था। विष्णु के प्रति उसकी भक्ति इतनी अधिक है कि स्वयं उसका व्यक्तित्व विष्णु में ही विलीन हो जाता है। भगवद्गीता के शब्दों में उसका वर्णन इस प्रकार किया जा सकता है—

"साध्वासाधूदय-प्रलय-हेतु पुरुषस्याचिन्त्यस्य भक्त्यवनतिमात्र ग्राह्यमृदुहृदयस्य[1]।"

और उन दिनों की साहित्यिक प्रथा के अनुसार इस वर्णन का दोहरा अर्थ होता है। इसमें भक्त और उसके आराध्य देवता दोनों का ही एक ही भाषा में वर्णन किया गया है—जो लक्षण आराध्य देवता के हैं, वही उसके भक्त के भी हैं। जो लोग हिंदू नहीं होंगे अथवा जो हिंदुओं की भक्ति का मर्म न जानते होंगे, वे

---

१. Gupta Inscriptions, पृ० ८, पं० २५।

यह वर्णन पढ़कर यही समझेंगे कि यह ईश्वर के गुणों का पाखंड-पूर्ण ध्यान है। परंतु वास्तव में बात ऐसी नहीं है। भक्ति-मार्ग में सर्वश्रेष्ठ सिद्धांत यह है कि उसके आराध्य देव में अनन्यता होनी चाहिए—दोनों में कुछ भी अंतर न रह जाना चाहिए। भक्त में धीरे धीरे उसके आराध्य देवता के गुण आने लगते हैं और तब अंत में भक्त का रूप इतना अधिक परिवर्त्तित हो जाता है कि वह अपने आराध्य देवता के साथ मिलकर एक हो जाता है। वह अपने देवता का प्रचारक और प्रतिनिधि रूप से काम करनेवाला बन जाता है। वह केवल मध्यवर्त्ती या निमित्त मात्र बन जाता है और उसके सभी कार्य उसके आराध्य देवता या प्रभु को अर्पित होते हैं। गुप्त लोग अपने मन में इस बात का अनुभव करते थे और इस पर पूरा पूरा विश्वास रखते थे कि हम विष्णु के सेवक और कार्यकर्त्ता हैं, हम विष्णु की ओर से एक विशेष कार्य करने के लिये नियुक्त हुए हैं और विष्णु की ही भाँति हमें भी अनधिकारी और धर्मभ्रष्ट राजाओं पर विजय प्राप्त करनी चाहिए, विष्णु की ही तरह हमें पूर्ण रूप से सबका स्वामी बनकर उन पर शासन करना चाहिए; और विष्णु के हाथ का कमल जो यह कहता है कि हम सबको सुखी करेंगे, उसी के अनुसार भारतवर्ष के समस्त निवासियों को सुखी और प्रसन्न करना चाहिए। उन लोगों ने यह कार्य पूर्ण रूप से संपादित किया था और समुद्रगुप्त ने यह बात अच्छी तरह अपने मन में समझ ली थी कि हमने यह काम बहुत अच्छी तरह से पूरा किया और इस प्रकार हम स्वर्ग के अधिकारी बन गए हैं। विष्णु की तरह समुद्रगुप्त और उसके अधिकारियों ने भी भारतवर्ष को धन-धान्य से भली भाँति पूर्ण कर दिया था और यहाँ संपन्नता, वैभव तथा संस्कृति की स्थापना कर दी थी।

१२. सन् ३५० ई० का राजनीतिक भारत और समुद्रगुप्त का साम्राज्य

§ १२०. समुद्रगुप्त के प्रयागवाले स्तंभ पर जो शिलालेख अंकित है, उसमें उसके जीवन के सब कार्यों का उल्लेख है; और इस बात में कुछ भी संदेह नहीं है कि उसकी यह जीवनी उसी के जीवन-काल में प्रकाशित हुई थी[1]। उसमें उन राज्यों और राजाओं के वर्णन हैं जो गुप्त-साम्राज्य की स्थापना के समय वर्त्तमान थे। परंतु फिर भी हम समझते हैं कि पुराणों में उन दिनों के राजनीतिक भारत का कदाचित् अपेक्षाकृत और भी अधिक विस्तृत वर्णन मिलता है। वास्तव में हमें पुराणों में समुद्रगुप्त के समय के भारत का पूरा पूरा चित्र मिलता है और उसी चित्र से पुराणों के कालक्रमिक ऐतिहासिक विवरण समाप्त होते हैं। परंतु पुराणों के उन अंशों का अच्छी तरह अध्ययन नहीं किया गया है और पौराणिक इतिहास के इस अंश के महत्व पर कुछ भी ध्यान नहीं दिया गया है; इसलिये उस पौराणिक सामग्री का कुछ विवेचन और विश्लेषण कर लेना आवश्यक जान

३५० ई० के राज्यों के संबंध में पुराणों में यथेष्ट वर्णन

---

१. फ्लीट का यह अनुमान ठीक नहीं था कि उसकी यह जीवनी उसकी मृत्यु के उपरांत प्रकाशित हुई थी। देखो रायल एशियाटिक सोसायटी के जरनल सन् १८९८, पृ० ३८६ में बुहलर का लेख। यह उनके अश्वमेध या अश्वमेधों से पहले प्रकाशित हुई थी। (फ्लीट की इस भूल ने बहुतों को और साथ ही मुझे भी भ्रम में डाल दिया था।)

पड़ता है; और वह सामग्री, जैसा कि हम अभी बतलावेंगे, बहुत अधिक मूल्यवान् है।

§ १२१. मत्स्यपुराण में आंध्रों के पतन-काल तक का इतिहास है; और गणना करके यह निश्चित किया गया है कि आंध्रों का पतन या तो सन् २६८ ई० में और या उसके लगभग हुआ था। (बिहार और उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी का जरनल, खंड १६, पृ० २८०)[1]। और इसके आगे के सूत्र वायुपुराण तथा ब्रह्मांड पुराण में चलते हैं। इन दोनों पुराणों में फिर से साम्राज्य का इतिहास आरंभ किया गया है और वह इतिहास विंध्यशक्ति से आरंभ हुआ है। विंध्यशक्ति के वंश और विशेषतः उसके पुत्र प्रवीर के उदय का विवेचन करते हुए उन पुराणों में आनुषंगिक रूप से विंध्यशक्ति के अधीन विदिशा-नागों और उनके उत्तराधिकारी नव-नागों[2] अर्थात् भार-शिवों का इतिहास दिया है। इसके उपरांत उनमें वाकाटक (विंध्यक) साम्राज्य और उसके संयोजक अंगों का पूरा वर्णन दिया है और साथ ही उस

---

१. उनके तुखार-मुरुंड आदि सम-कालीनों का अंत सन् २४३ या २४७ ई० के लगभग हुआ था। वि० उ० रि० सो० का जरनल, खंड १६, पृ० २८६।

२. इसका एक और रूप नव-नाक भी मिलता है। ऊपर पृ० २४३ में कालिदास का जो श्लोक उद्धृत किया गया है, क्या उसमें आए हुए "आ-नाक" शब्द का दोहरा अर्थ हो सकता है? यदि "आ-समुद्र" में समुद्र का अभिप्राय गुप्तों से हो सकता है तो फिर "आ-नाक" के "नाक" का अभिप्राय भी नाकों अर्थात् नागों से हो सकता है।

साम्राज्य के अधीनस्थ शासकों की संख्या और उनके योग भी दिए हैं। दूसरे शब्दों में यह बात इस प्रकार कही जा सकती है कि उनमें विंध्यशक्ति के पुत्र प्रवीर के शासन-काल तक का इतिहास है और साथ ही नव-नागों का भी इतिहास है; और इन कालों की बातों का वर्णन उनमें बीते हुए इतिहास के रूप में दिया गया है। और इसके उपरांत वे अपने समय के इतिहास का वर्णन आरंभ करते हैं। गुप्तों के समय से लेकर आगे का जो इतिहास वे देते हैं, उसमें न तो वे शासकों की संख्या ही देते हैं और न उनका शासन-काल ही बतलाते हैं। गुप्तों के समय से आगे की जो बातें दी गई हैं, उनसे पता चलता है कि वे परिवार उस समय तक शासन कर रहे थे और इसीलिए वे परिवार गुप्तों के सम-कलीन थे। जैसा कि हम अभी बतलावेंगे, निस्संदेह रूप से पुराणों का यही आशय है कि वे गुप्त साम्राज्य के अधीनस्थ और संयोजक अंग थे। इसमें वे कुछ अपवाद भी रखते हैं। उदाहरणार्थ वे गुप्तों के उन सम-कालीनों का भी उल्लेख कर देते हैं जो गुप्त-साम्राज्य के अंतर्मुक्त अंग नहीं थे। उनमें दिए हुए ब्योरे बिलकुल ठीक हैं और सीमाएँ आदि विशेष रूप से निर्धारित हैं। अतः उस समय का इतिहास जानने के लिये वे अमूल्य साधन हैं। और वहीं पहुँचकर वे पुराण रुक जाते हैं, इससे सूचित होता है कि वे उसी समय के लिखे हुए इतिहास हैं; अर्थात् ये दोनों पुराण उसी समय लिखे गए थे जिस समय समुद्र-गुप्त का साम्राज्य वर्त्तमान था। गुप्तकुल का शासन विंध्यशक्ति के पुत्र प्रवीर के उपरांत आरंभ हुआ था और इसलिये पुराणों ने उसी गुप्त-कुल को साम्राज्य का अधिकारी कुल माना है। वाकाटकों तक, जिनमें स्वयं वाकाटक भी सम्मिलित हैं, पुराणों में केवल साम्राज्य-भोगी कुलों के वर्णन हैं। विष्णुपुराण

और भगवान में कुछ ऐसे ऐतिहासिक तथ्य हैं जो विशिष्ट रूप से इन्हीं साम्राज्य-भोगी वंशों से संबंध रखते हैं। यहाँ ऐसा जान पड़ता है कि उन्होंने कुछ नितांत स्वतंत्र सामग्री का ही उपयोग किया है।

§ १२२. वायुपुराण और ब्रह्मांडपुराण में गुप्तों का वर्णन उन नागों के वर्णन के उपरांत आरंभ किया गया है जो बिहार में चंपावती या भागलपुर तक के शासक
साम्राज्य-पूर्व काल के गुप्तों थे। परंतु विष्णुपुराण में उन गुप्तों का
के संबंध में विष्णु-पुराण आरंभ नागों के समय से किया गया है जिससे उसका अभिप्राय गुप्त और घटोत्कच के उदय से है। यथा—

नवनागाः पद्मावत्यां कान्तिपुर्यां मथुरायामनुगंगा प्रयागं मागधा गुप्ताश्च भोक्ष्यन्ति।

और इसका आशय यह है कि जिस समय नव नाग पद्मावती, कांतिपुरी और मथुरा में राज्य करते थे, उसी समय मागध गुप्त लोग गंगा-तटवाले प्रयाग में शासन करते थे। इससे सूचित होता है कि उनकी पहली जागीर इलाहाबाद जिले में थी और उस समय वे लोग मगध के निवासी माने जाते थे। इसका स्पष्ट अभिप्राय यही है कि आरंभिक गुप्त लोग इलाहाबाद में यमुना की तरफ नहीं बल्कि गंगा की तरफ अर्थात् अवध और बनारस की तरफ राज्य करते थे। विष्णुपुराण में अनु-गंगा-प्रयाग एक शब्द के रूप में आया है और पद्मावती, कांतिपुरी और मथुरा की तरह राजधानी का यही अनु-गंगा-प्रयाग नाम दिया है। वह स्वतंत्र अनु-गंगा नहीं है जो किसी अनिश्चित प्रदेश का सूचक हो। इस अवसर पर न तो भागवत में ही और न विष्णुपुराण

में ही साकेत का नाम आया है। विष्णुपुराण में गुप्त का बहुवचन रूप "गुप्ताश्च" आया है और इसका विशेषण मागधा दिया है, जिससे उसका आशय यही है कि यह उस समय की बात है जब कि गुप्त लोग मगध से अधिकारच्युत कर दिए गए थे; अर्थात यह समुद्रगुप्त का साम्राज्य स्थापित होने से कुछ वर्ष पहले की बात है।

§ १२३. इसके विपरीत दूसरे पुराणों में गुप्त-कुल के संबंध में कुछ और ही प्रकार के तथ्य मिलते हैं।

गुप्त-साम्राज्य के संबंध में पुराणों का मत

वायु-पुराण और ब्रह्मांड पुराण में कहा गया है कि गुप्त वंशवाले (गुप्तवंशजाः) अर्थात् इस वंश के संस्थापक के उपरांत होनेवाले गुप्त लोग राज्य करेंगे (भोक्ष्यन्ते)

(क) अनु-गंगा-प्रयाग[1], साकेत और मगधों[2] के प्रांतों में।

(ख) शासन करेंगे (भोक्ष्यन्ते) अथवा पर शासन करेंगे (भोक्ष्यन्ति) नैषधों, यदुकों, शैशितों और कालतोयकों के मणिधान्य प्रांतों पर[3]।

---

१. अथवा अनु-गंगा और प्रयाग (अनुगंगा प्रयाग च Puran Text पृ० ५३, पाद-टिप्पणी ५)।

२. अनुगंगं प्रयागं च साकेतं मगधांस्तथा।
एतान् जनपदान् सर्वान् भोक्ष्यन्ते गुप्तवंशजाः॥

३. नैषधान् यदुकांश्चैव शैशितान् कालतोयकान्।
एतान् जनपदान् सर्वान् भोक्ष्यन्ते (वायु० के अनुसार भोक्ष्यन्ति)
मणिधान्यजान्॥ (ब्रह्मांड०)

(ग) शासन करेंगे (भोक्ष्यन्ते) या पर शासन करेंगे (भोक्ष्यन्ति) कोशलों, आंध्रों (विष्णु-पुराण के अनुसार ओड्रों), पौंड्रों, समुद्र-तट के निवासियों सहित ताम्रलिप्तों और देवों द्वारा रक्षित (देव-रक्षिताम्) रमणीय राजधानी चंपा[1] पर।

(घ) शासन करेंगे गुह-प्रांतों (विष्णुपुराण के अनुसार गुहान्) कलिंग, माहिषिक और महेंद्र[2] के प्रांतों पर कलिंग, महिष और महेंद्र[3] का शासक गुह होगा (भोक्ष्यति के स्थान पर पालयिष्यति)।

विष्णुपुराण से भी यह बात प्रमाणित होती है कि साम्राज्य के उक्त तीनों अंतिम प्रांत क्रमशः मणिधान्यक (विष्णु०) अथवा किसी मणिधान्यज [मणिधान्य का वंशज (ब्रह्मांड०)] देव और गुह के शासनाधिकार में थे, क्योंकि विष्णुपुराण में भी इन प्रांतीय सरकारों के शासक यही तीनों व्यक्ति कहे गए हैं। इस संबंध में वायुपुराण और ब्रह्मांडपुराण दोनों का पाठ एक ही है और उनमें ये नाम कर्म कारक में रखे गए हैं और कर्त्ता कारक "गुप्तवंशजाः" होता है। इन प्रांतीय शासकों के नामों का इन प्रांतों के नागों के साथ विशेषण रूप में प्रयोग किया गया है; यथा—मणिधान्यजान् (ब्रह्मांड०), देव-रक्षिताम् (चंपा का

---

१. कोसलांश्चान्ध्र-पौंड्रांश्च ताम्रलिप्तान् स-सागरान्।
चम्पां चैव पुरीं रम्यां भोक्ष्यन्ते(न्ति) देवरक्षिताम्॥ (वायु०)

२. कलिंगमाहिषिकमाहेन्द्रभौमान् गुहान् भोक्ष्यन्ति। (विष्णु०)

३. कलिंगा महिषाश्चैव महेन्द्रनिलयाश्च ये।
एतान् जनपदान् सर्वान् पालयिष्यति वै गुहः॥ (ब्रह्मांड० और वायु०)

विशेषण) और गुहान् (जो विष्णुपुराण में भी इसी रूप में मिलता है)।

§ १२१. इसके उपरांत उस समय के नीचे लिखे राजवंशों के नाम दिए गए हैं जो गुप्त-वंश के अधीन नहीं थे—(क) कनक जिसका राज्य स्त्री-राष्ट्र, भोजक (ब्रह्मांड०), त्रैराज्य (विष्णु०), और मुषिका (विष्णु०) पर था।

स्वतंत्र राज्य

(ख) सुराष्ट्र और अवंती के आभीर लोग।

(ग) शूर लोग।

(घ) अर्बुद के मालव लोग।

इनमें से ख, ग और घ यद्यपि हिंदू और द्विज तो थे, परंतु व्रात्य (व्रात्यद्विजाः) थे और उनके राष्ट्रीय शासक (जनाधिपाः) बहुत कुछ शूद्रों के समान (शूद्रप्रायाः) थे।

(ङ) सिंधु (सिंधु नदी के आस-पास का प्रदेश) और चंद्रभागा, कौंती (कच्छ) और काश्मीर ऐसे म्लेच्छों के अधिकार में थे जो अनार्य शुद्र थे (अथवा कुछ हस्तलिखित प्रतियों के अनुसार अंत्याः अथवा सबसे निम्न वर्ग के और अछूत थे)। ये लोग म्लेच्छ शूद्र थे, अर्थात् ऐसे म्लेच्छ (शकों से अभिप्राय है) थे जो हिंदू धर्म-शास्त्रों के अनुसार शूद्रों का पद तो प्राप्त कर चुके थे, परंतु फिर भी म्लेच्छ (अर्थात् विदेशी) ही थे (§ १४६ ख)। इस अवसर पर पुराणों में हिन्दू-शूद्रों से ये म्लेच्छ-शूद्र अलग रखे गए हैं। विष्णुपुराण में तो इन्हें स्पष्ट रूप से म्लेच्छ शूद्र ही कहा है[१]। विष्णु पुराण में सिंधु तट के उपरांत दार्विक

---

१. Puran Text पृ० ५५, पाद-टिप्पणी ३०।

देश का भी नाम दिया गया है। और इसका पूर्वी अफगानिस्तान से अभिप्राय है, जिसमें आजकल दरवेश खेलवाले और दौर लोग निवास करते हैं: और जो खैबर के दर्रे से लेकर उसके पश्चिम ओर है। महाभारत में हमें दार्विक के स्थान पर "दार्वीच" रूप मिलता है[1]।

§ १७५. इस प्रकार पुराणों से हमें यह पता चलता है कि आर्यावर्त्त में गुप्तों के अधीन जो प्रांत थे, उनके अतिरिक्त उनके तीन और ऐसे प्रांत थे जिन पर उनकी गुप्तों के अधीनस्थ प्रांत ओर से नियुक्त गवर्नर या शासक शासन करते थे। इनमें से अंतिम दो प्रांत (ग) और (घ) (देखो ऊपर पृ० २७२) दक्षिणी भारत में थे। और दूसरा प्रांत (ऊपर पृ० २७२ का 'ख') भी विंध्यपर्वत के दक्षिण में था। यह प्रांत पश्चिम की ओर दक्षिणी-भारत के प्रवेश-द्वार पर था। हिंदू दृष्टि-कोण से यह प्रांत भी दाक्षिणापथ में ही अर्थात् विंध्य पर्वत के दक्षिण में था, परंतु आजकल के शब्दों में हम यहाँ इसे (१) डेकन प्रांत कहेंगे। गवर्नरों या शासकों के द्वारा जिन प्रांतों का शासन होता था, उनमें यह प्रांत विष्णुपुराण में तीसरा प्रांत बतलाया गया है, परंतु वायुपुराण और ब्रह्मांडपुराण में इसका नाम तीनों प्रांतों में सबसे पहले आया है। विष्णुपुराण में सबसे पहले (२) कोसल, उड़ीसा, बंगाल और चंपा के प्रांत का नाम आया है और बाकी दोनों पुराणों में कोसल आदि का प्रांत दूसरे नंबर पर है। और इसके उपरांत सभी पुराणों के अनुसार (३) कलिंग-माहिषिक-महेंद्र प्रांत है। भागवत की बात इन सबसे अलग

---

१. हॉल और विलसन द्वारा संपादित विष्णुपुराण, २,१७५ पाद-टिप्पणी।

ही है। उसमें तीनों प्रांतों के अलग-अलग नाम नहीं हैं; और जान पड़ता है कि उसमें "मेदिनी" शब्द के अंतर्गत ही सारे साम्राज्य का अंतर्भाव कर दिया गया है। उसमें कहा गया है—गोप्ता भोक्ष्यन्ति मेदिनीम्। अर्थात् गुप्त के वंशज (यह गोप्ताः (वास्तव में संस्कृत गौप्ताः का प्राकृत रूप है) पृथ्वी का शासन करेंगे। साधारणतः पुराणों का जब किसी साम्राज्य से अभिप्राय होता है, तब वे मेदिनी, मही, पृथ्वी, वसुंधरा अथवा पृथ्वी के इसी प्रकार के किसी और पर्याय का प्रयोग करते हैं[1]। यदि हम विष्णुपुराण में दिए हुए क्रम को देखते हैं तो हमें पता चलता है कि वह बिलकुल इलाहाबाद-वाले शिलालेख का ही क्रम है। एक ओर तो कोसल, ओड्र, पौंड्र ताम्रलिप्ति और समुद्र-तट का मेल शिलालेखवाले कोसल और महाकांतार (पंक्ति १६) से मिलता है[2] और दूसरी ओर सम-तट (पंक्ति २२) से मिलता है। जान

---

१. इस प्रयोग का समर्थन और स्पष्टीकरण इस बात से हो जाता है कि समुद्रगुप्त ने अपने इलाहाबादवाले शिलालेख (पंक्ति २४) में समस्त भारत के लिये पृथ्वी और धरणी शब्दों का प्रयोग किया है। इसका मतलब है—सारा देश। भागवत के वर्त्तमान पाठ में (अनु-गंगामाप्रयागं गोप्ता भोक्ष्यन्ति मेदिनीम्) अनुगंगा शब्द इस प्रकार आया है कि मानों वह मेदिनी का विशेष्य हो। कदाचित् इससे कर्त्ता यह सूचित करना चाहता था कि जो गुप्त लोग पहले अनुगंगाप्रयाग के शासक थे, वे आगे चलकर सारे साम्राज्य का अथवा अनुगंगा-प्रयाग और साम्राज्य का भोग करने लगे थे।

२. महाभारत मं कांतारकों के राज्य का जो स्थान निर्देश किया गया है, उससे पता चलता है कि वह भोजकट-पुर (बरार) से पूर्व कोसल तक वेणा (वैन-गंगा) की तराई के उस पार और पूर्वी कोसल (दक्षिणवाले पाठ के अनुसार प्राकोटक) से पहले पड़ता था।—

पड़ता है कि समुद्रगुप्त ने एक ऐसे प्रांत की सृष्टि की थी जिसकी राजधानी चंपा में थी और जिसका विस्तार मगध के दक्षिण-पूर्व से छोटा नागपुर होते हुए उड़ीसा और छत्तीसगढ़ के करद-राज्यों और ठेठ बस्तर तथा चाँदा जिले तक था। वायुपुराण में भी और ब्रह्मांडपुराण में भी आंध्र को कोसल के बाद रखा गया है। कोसला और मेकला के पुराने वाकाटक प्रांत में समुद्रगुप्त ने उड़ीसा और बंगाल को भी मिला दिया था और उन सबका शासन चंपा से होता था, जहाँ से बंगाल और कोसल के लिये रास्ते जाते थे और जहाँ से नदी के द्वारा सीधे ताम्रलिप्ति तक भी जाने का मार्ग था। चंपा का विशेषण देव-रक्षिता दिया गया है, जिसका कदाचित् यह अर्थ हो सकता है कि वह राजा देव के अधीन था (राज्याभिषेक से पहले चंद्रगुप्त द्वितीय का नाम देव था। देखो बि० उ० रि० सो० का जरनल, खंड १८, पृ० ३७)। मेहरौलीवाले स्तंभ में कहा गया है कि चंद्रगुप्त द्वितीय ने वंगों पर विजय प्राप्त की थी; और इसका अर्थ यह हो सकता है कि जब वह वाइसराय या उपराज के रूप में शासन करता था, तब उसे एक युद्ध करना पड़ा था। जान पड़ता है कि अपने अभियान के कुछ ही दिन बाद समुद्रगुप्त ने समतट को भी अपने राज्य में मिला लिया था।

§ १२६. पुराणों से पता चलता है कि कलिंग-माहिषिकमहेंद्र[1]

सभापर्व ३१. १३। यह कांतारक वहीं था जहाँ आजकल कांकेर और बस्तर है। दूसरा कोसल (अर्थात् दक्षिणी कोसल) वही था जो आजकल का सारा चाँदा जिला है।

१. विष्णुपुराण की एक प्रति में माहिषिक के स्थान पर "माहेय-कच्छ" लिखा हुआ मिलता है जिसका अर्थ होता है—मही (नदी) के तट। यह कदाचित् महानदी की तराई थी।

(अथवा महेंद्रभूमि) को मिलाकर एक ही प्रांत बना लिया गया था। इसका मिलान पंक्ति १६ के शिलालेखवाले विभागों से भी हो जाता है। महाकांतार के उपरांत कौराल है जो पुलकेशिन् द्वितीय का कौनालृ जलाशय है; और यह पिठापुरम् के दक्षिण की वही झील है जो गोदावरी और कृष्णा नदियों के मध्य में पड़ती है[1]। पिष्टपुर, महेंद्रगिरि और कोट्टूर तीनों गंजाम जिले की पहाड़ी गढ़ियाँ हैं[2]। मोटे हिसाब से यह वही प्रांत है जिसे आजकल हम लोग पूर्वीय घाट कहते हैं और जिसका नाम ईस्ट इंडिया कंपनी के समय में उत्तरी सरकार था; अर्थात् यह कृष्णा और महानदी के मध्य का प्रदेश है। पिष्टपुर में उस समय कलिंग की राजधानी थी और यह बात पिष्टपुर और सिंहपुर में राज्य करनेवाले मगध कुल के एक ऐसे अभिलेख में लिखी हुई मिलती है जो प्रायः उन्हीं दिनों उत्कीर्ण हुआ था[3]। इस मगध-

कलिंग का मगध-कुल

कुल के आरंभिक शासकों में से एक तो शक्तिवर्म्मन् था और उसके उपरांत चंद्रवर्म्मन् और उसका पुत्र विजयनंदिवर्म्मन् वहाँ शासन करता था। विजयनंदिवर्म्मन् ने अपना कुल-नाम मगध-कुल से बदलकर शालंकायनकुल रखा था। यह बात या

---

१. एपिग्राफिया इंडिका, खंड ६, पृ० ३. तेलगू भाषा में कोलनु का अर्थ झील होता है।

२. वि० स्मिथ कृत Early History of India, पृ० ३०० (चौथा सं०)।

३. एपिग्राफिया इंडिका, खंड ४, पृ० १४२, खंड १२, पृ० ४, खंड ६, पृ० ५६ और इंडियन एंटिक्वेरी, खंड ५, पृ० १७६।

तो स्कंदगुप्त के समय में और या उसके बाद हुई होगी। हम देखते हैं कि विजयनंदिवर्म्मन् के एक उतराधिकारी (विजयदेववर्म्मन्) ने अश्वमेध यज्ञ भी कर डाला था अर्थात् उसने अपनी पूर्ण स्वतंत्रता की घोषणा भी कर दी थी। यह बात प्रायः निश्चित ही है कि जब परवर्त्ती वाकाटकों ने कलिंग पर विजय प्राप्त कर ली थी, तब वे गुप्तों के संबंधियों या उतराधिकारियों के रूप में भी अपना अधिकार स्थापित करना चाहते थे और देश के इस भाग के स्वामी होने का अपना पुराना अधिकार भी जतलाते थे और उनका यह अधिकार-स्थापन अवश्य ही शालंकायनों के मुकाबले में होता होगा। जान पड़ता है कि यह मगध-कुल वही था जिसे समुद्रगुप्त या उसके उत्तराधिकारी ने शासक करद या सामंत वंश के रूप में नियुक्त किया था। ये लोग ब्राह्मण थे जो मगध से वहाँ भेजे गए थे। इस कुल के आरंभिक राजा अपने आज्ञापत्र आदि संस्कृत में प्रचलित करते थे। इस कुल के प्रथम शासक का नाम गुह होगा, क्योंकि वायुपुराण और ब्रह्मांडपुराण में यही नाम आया है। इसका गुहान् या गुहम् रूप (जो विष्णुपुराण में मिलता है) गुह शब्द के मौलिक कर्म कारक का ही अवशिष्ट है, जो इस प्रसंग में वायुपुराण और ब्रह्मांडपुराण में नष्ट हो गया है और इसीलिये उनमें नहीं पाया जाता। लंका में दाठा वंशों (History of Tooth Relic) नामक एक ग्रंथ प्रचलित है जिसमें महात्मा बुद्ध के दाँत के सबंध की अनेक अनुश्रुतियाँ हैं। यह ग्रंथ ई० चौथी शताब्दी का बना हुआ माना जाता है। इस ग्रंथ में एक स्थान पर कहा गया है कि कलिंग का एक शासक, जिसका नाम गुह (गुह-शिव) था, समस्त भारत और उसके बाहर (जंबूद्वीप) के उस सम्राट् का करद और सामंत था जो पाटलिपुत्र में

बैठकर राज्य करता था और वह ब्राह्मण या आर्य-धर्म का उपासक था[१]। जान पड़ता है कि असल में बात यह थी कि गुह उन दिनों समुद्रगुप्त की अधीनता में और उसकी ओर से उस प्रदेश का शासन करता था।

§ १२६ क. गुप्त-साम्राज्य का तीसरा अधीनस्थ अंश विंध्य पर्वत के दक्षिण में था और इसमें नैषध, यदुक, शैशिक और कालतोयक प्रांत सम्मिलित थे। माहिष्मती के बिलकुल पड़ोस में ही शैशिक था[२]। नैषध तो बरार था और यदुक देवगिरि (दौलताबाद) था; और इस विचार से हम कह सकते हैं कि साम्राज्य का उक्त प्रांत बालाघाट पर्वत-माला और सतपुडा के बीच में अर्थात् ताप्ती नदी की तराई में था।

गुप्त-साम्राज्य का दक्खिन प्रांत

महाभारत से पता चलता है कालतोय उन दिनों आभारों (गुजरात) और अपरांत के बीच में था[३]। यह प्रांत वाकाटक-साम्राज्य में से लेकर बनाया गया था और इसका शासक कोई

---

१. दाठा वंशो J. P. T. S. १८८४, पृ० १०६, पद ७२-९४ और उसके आगे। यथा—"गुह शिवाह्वयो राजा" (७२) "तत्थ राजा महातेजो जम्बू-दीपस्य इस्सरो" (८१)। "तुह्यं सामन्त भूपालो गुह शिवो पनाधुना निन्दतोतादि से देवे छवत्थिम् वन्दते इति"। इसका आशय यह है कि पाटलिपुत्र के सम्राट् से इस बात की शिकायत की गई थी कि कलिंग पर शासन करनेवाला अपना सामन्त एक "मृत 'अस्थि'" की पूजा करता है और आर्य-देवताओं की निंदा करता है।

२. विल्सन द्वारा संपादित विष्णुपुराण, खंड २, पृ० १६६-१६७

३. उक्त ग्रंथ, खंड २, पृ० १६७-१६८।

मणिधान्यक था जो मणिधान्य का पुत्र या वंशज था[१]। कदाचित आपस का मन-मुटाव मिट जाने पर यह प्रदेश पृथिवीषेण को दे दिया गया था, क्योंकि पृथिवीषेण ने कुंतल के राजा पर विजय प्राप्त की थी; और कुंतल के राजा के साथ उसका प्रत्यक्ष संबंध होने के लिये यह आवश्यक था कि पृथिवीषेण ही इस प्रांत का शासक होता[२]। चंद्रगुप्त द्वितीय के शासन-काल में हम देखते हैं कि वाकाटक लोग बरार में और वहाँ से शासन करते थे।

दक्षिणी स्वतंत्र राज्य

§ १२७. इसके बाद दक्षिणी भारत का वह प्रांत आता है जिसका शासक कनक नामक एक व्यक्ति था। यह कनक भी किसी कुल का नाम नहीं है, बल्कि गुह की भाँति व्यक्ति का ही नाम है। यथा—

स्त्रीराष्ट्रम् भोजकांश्चैव भोक्ष्यते कनकाह्वयः। (विष्णु और ब्रह्मांड पु०)

"कनक नाम का शासक स्त्री-राष्ट्र और भोजकों पर राज्य करेगा"[३]। विष्णुपुराण में प्रांतों का और भी पूरी तरह से उल्लेख किया गया है। यथा—

---

१. महाभारत के अनुसार वाटधान्य और मणिधान्य आपस में पड़ोसी थे। दे० विल्सन द्वारा संपादित महाभारत, खंड २, पृ० १६७ (वाटधान=पाटहान=पठान)।

२. एपि० इ०, खंड९, पृ० २६६ A.S.W.R. खंड पृ० ४, १२५।

३. विष्णुपुराण में इसके लिये "भोक्ष्यति" शब्द आया है जिसका अर्थ होता है—"शासन करेगा" अथवा "दूसरों से शासन करावेगा।"

स्त्री-राज्य त्रै-राज्य मूषिक जानपदान् कनकाह्वयः भोक्ष्यति ।

मूषिक वह प्रदेश है जो मूसी नदी के आस पास पड़ता है; और यह मूसी नदी हैदराबाद से होकर दक्षिण की ओर बहती है। जान पड़ता है कि दक्षिणी मराठा प्रदेश का एक अंश ही भोजक था। त्रै-राज्य उन तीनों राज्यों का प्रसिद्ध वर्ग है जो दक्षिण में बहुत दिनों से चले आ रहे थे[1]। पुराणों में स्त्री-राज्य का उल्लेख सदा मूषिक देश के बाद ही और वनवास के साथ मिलता है और इसलिये हम समझते हैं कि यह वही कर्णाट या कुंतल प्रदेश है[2]।

राजा कनक

§ १२८. अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि यह बड़ा शासक कौन था जो तीन तामिल राज्यों पर प्रभुत्व रखता था और जो मूषिक देश से दक्षिणी कोंकण तक का शासन करता या कराता था? कनक नाम का यह व्यक्ति कौन था? यह स्पष्ट ही है कि उस समय इस नये शासक ने पल्लवों को अधिकारच्युत कर दिया था। पौराणिक वर्णन के अनुसार यह कनक दक्षिण का प्रायः सम्राट्-सा था। इस वर्णन का संबंध केवल एक ही शासक-कुल के साथ हो सकता है और वह वही कदंब-कुल था, जिसकी उन्हीं दिनों स्थापना हुई थी। पल्लवों के ब्राह्मण सेनापति मयूरशर्म्मन् ने पल्लव सम्राट् (पल्लवेंद्र) से एक अधीनस्थ और करद-राज्य प्राप्त किया था। उन दिनों

कनक या कान कौन था

---

१. देखो रायल एशियाटिक सोसाइटी के जरनल, सन् १६०५, पृ० २६३ में फ्लीट का लेख। यथा—चोल पांड्य केरल धरणीधर-त्रय

२. स्त्री-राज्य और कुंतल कदाचित् तामिल शब्दों के अनुवाद हैं।

दक्षिणी भारत में कांची के पल्लव ही सबसे अधिक शक्तिशाली थे, जिन्हें समुद्रगुप्त ने पराजित किया था। इन पल्लवों के पराजित होने पर कदाचित् मयूरशर्म्मन् ने अपनी स्वतंत्रता की घोषणा कर दी थी। जान पड़ता है कि उसके पुत्र कंगवर्म्मन् ने समुद्रगुप्त को उत्तरी भारत का भी और दक्षिणी भारत का भी सम्राट् मानने से इन्कार कर दिया था और उसका विरोध किया था। कंगवर्म्मन् का समय सन् ३५० ई० के लगभग है[1]। ताल-

१. कदंब-कुल नामक ग्रंथ, पृ० १३-१८ में यह मानकर तिथियाँ दी गई हैं कि समुद्रगुप्त ने दक्षिण पर जो विजयें प्राप्त की थीं, उन्हीं के फल-स्वरूप मयूरशर्म्मन् ने अपना राज्य आरंभ किया था। परंतु यह बात ठीक नहीं है। तालगुंडवाले अभिलेख में कहा गया है कि मयूर पहले एक राजनीतिक लुटेरा था और उसे पल्लव-सम्राट् से एक जागीर मिली थी जिसके यहाँ वह सेनापति के रूप में काम करता था। पल्लव-सम्राट् ने उसे अपना सेनापति अभिषिक्त किया था (पट्ट बंध-सपूजाम्, एपि० इं० ८, ३२. राजनीति-मयूखमें कहा गया है कि सेनापतियों का पट्टबंध होता था अर्थात् उनके सिर पर पगड़ी बाँधने की रसम होती थी)। उसके प्र-पौत्र ने तालगुंडवाला जो अभिलेख उत्कीर्ण कराया था, उसमें इस बात का कोई उल्लेख नहीं है कि मयूर ने कोई अश्वमेध यज्ञ किया था। कदाचित् उसने अपने जीवन के अंतिम काल में ही राजा के रूप में शासन करना आरंभ किया था। मिलाओ A. R. S. M. १६२९, पृ० ५० सबसे पहले उसके पुत्र कंग ने ही वर्म्मन् वाली राजकीय उपाधि ग्रहण की थी। मयूरशर्म्मन् का समय सन् ३२५-३४५ ई० के लगभग और उसके पुत्र कंग का समय सन् ३४५—३६० के लगभग समझा जाना चाहिये। इसकी पुष्टि उस तिथि से भी होती है जो काकुस्थवर्म्मन् के उस ताम्रलेख में

गुंडवाले शिलालेख (एपि० इं० ८, ३५) में कहा गया है कि—
"उसने भीषण युद्धों में बड़े बड़े विकट कार्य कर दिखलाए

है जो उसने अपने युवराज होने की अवस्था में उत्कीर्ण कराया था। उस पर ८० वाँ वर्ष अंकित है। कदंबों ने कभी कोई अपना नया संवत् नहीं चलाया था। न तो उसी से पता चलता है कि यह ८० वाँ वर्ष किस संवत् का था और न उसके पहले या उसके बाद ही उस संवत् का कोई उल्लेख मिलता है। पृथिवीषेण ने कुंतल के राजा अर्थात् कदंब राजा पर विजय प्राप्त की थी और यह कदंब राजा कंग के सिवा और कोई नहीं हो सकता। स्वयं पृथिवीषेण भी उस समय समुद्रगुप्त के अधीन था और काकुस्थ ने अपनी एक कन्या का विवाह गुप्तों के साथ कर दिया था। अतः युवराज काकुस्थ ने जिस संवत् का व्यवहार किया था, वह अवश्य ही गुप्त संवत् होना चाहिए। सन् ४०० ई० (गुप्त संवत् ८०) में काकुस्थ अपने बड़े भाई रघु का युवराज था। इस प्रकार उसके वृद्ध प्रपिता का समय सन् ३२०-३४० या ३२५-३४५ ई० रहा होगा। और जिस कंग ने सिंहासन का परित्याग किया था, उसका समय सन् ३४०—३५५ या ३४५—३६० ई० होगा। और काकुस्थ का समय सन् ४१०-४३० ई० के लगभग होगा। कदंब-कुल में मि० मोराएस (Mr Moraes) ने जो तिथियाँ दी हैं, वे लगभग २० वर्ष और पहले होनी चाहिएँ।

अभी हाल में चंद्रवल्ली (चीतलद्रुग) की झील के पास मिला हुआ मयूरशर्म्मन् का शिलालेख देखना चाहिये, जिस पर उसके संबंध में केवल कदंबानाम् (बिना किसी उपाधि के) लिखा है। Archaelogical Survey Report, Mysore १९२९, पृ० ५० और उस शिलालेख का शुद्ध किया हुआ पाठ देखो आगे परिशिष्ट "ख" में। उस शिलालेख में कोई मोकरि, पारियात्रिक या शक नहीं है।

थे और उसके राज-मुकुट पर उसके प्रांतीय सामंत चवर करते थे"। कंग को वाकाटक राजा पृथिवीषेण प्रथम ने परास्त किया था और इस पर कंग ने अपने राज-सिंहासन का परित्याग कर दिया था[1]। जान पड़ता है कि यह "कनक" शब्द तामिल 'कंग' का ही संस्कृत रूप है। विष्णुपुराण में इस पौराणिक नाम का एक दूसरा रूप 'कान' भी मिलता है[2]। जान पड़ता है कि जो पृथिवीषेण उस समय समुद्रगुप्त का सामंत था, वह जब साम्राज्य का अधिकारी हुआ, तब उसने कंग को उपयुक्त दंड दिया था; और कंग को इसीलिये राज-सिंहासन का परित्याग करना पड़ा था कि वह अपना साम्राज्य स्थापित करना चाहता था और अपने प्रयत्न में विफल हुआ था।

पौराणिक उल्लेख का समय और कान अथवा कानन का उदय

§ १२९. कान अथवा कनक अर्थात् कंग के उदय का समय निश्चित करने में हमें पुराणों से सहायता मिलती है। पहले हमें यह देखना चाहिए कि वह कौन सा समय था, जब कि पुराण इस अवसर पर गुप्तों और उनके सम-कालीनों का उल्लेख कर रहे थे। यह उनके कालक्रमिक इतिहास का अंतिम विभाग है। उस समय तक मालव, आभीर, आवंत्य और शूर (यौधेय)[3] लोग साम्राज्य में अंतर्भुक्त नहीं

---

१. कदंब-कुल, पृ० १७।

२. विलसन द्वारा संपादित विष्णुपुराण, खंड ४, पृ० २२१ में हॉल (Hall) की लिखी टिप्पणी।

३. देखो आगे § १४६।

हुए थे और उन्होंने साम्राज्य की अधीनता नहीं स्वीकृत की थी। भागवत में इनका उल्लेख स्वतंत्र राज्यों के रूप में हुआ है। वायुपुराण और ब्रह्मांडपुराण में इनका नाम समुद्रगुप्त के प्रांतों की सूची में नहीं है; और न इन पुराणों ने पंजाब को ही समुद्र-गुप्त के साम्राज्य के अंतर्गत रखा है। उन्होंने आर्यावर्त्त में केवल गंगा की तराई, अवध और बिहार को ही गुप्तों के अधिकार में बतलाया है। गुप्तों के संबंध में तो यह निश्चित ही है कि वे विंध्यशक्ति के सौ वर्ष बाद हुए थे; इसलिये पुराणों का काल-क्रमिक इतिहास सन् ३४८—३४९ पर पहुँचकर समाप्त होता है, और यह ठीक वही समय है जब कि रुद्रदेव अथवा रुद्रसेन वाकाटक की मृत्यु हुई थी। जिस ढंग से पुराणों में नागों का पूरा-पूरा इतिहास दिया गया है और वाकाटक-साम्राज्य तथा उसके उत्तराधिकारी समुद्रगुप्त के साम्राज्य (जिसका विस्तार वाकाटक-साम्राज्य के ही विस्तार की तरह कोसला, मेकला, आंध्र, नैषध आदि तक था) का पूरा-पूरा उल्लेख किया गया है, उससे सूचित होता है कि उन्होंने अपने काल-क्रमिक इतिहास का यह अंश, जो राजा रुद्रसेन की मृत्यु के साथ समाप्त होता है, वाका-टक राज्य में ही और वाकाटक राजकीय कागज-पत्रों की सहा-यता से ही प्रस्तुत किया था। रुद्रसेन की मृत्यु सन् ३४८–३४९ ई०में हुई थी और गुप्त-कालीन भारत के पौराणिक इतिहास का यही समय है और इसीलिये स्वभावतः पुराणों में समुद्रगुप्त के साम्राज्य का पूरा-पूरा चित्र नहीं दिया गया है और उनमें कहा गया है कि शक या यौन लोग उस समय तक सिंध, पश्चिमी पंजाब और अफगानिस्तान में राज्य कर रहे थे। इसलिये कंग के उदय का काल भी सन् ३४८–३४९ ई० के लगभग ही निश्चित होता है।

§ १३०. आर्यावर्त्त में पहला युद्ध करने के उपरांत समुद्रगुप्त वस्तुतः वाकाटक साम्राज्य पर ही अधिकार करने लगा था। उसने अपना अभियान इस प्रकार आरंभ किया था कि पहले तो वह बिहार से चल कर छोटा नागपुर होता हुआ कोसल की ओर गया था और तब वाकाटक साम्राज्य के दक्षिण-पूर्वी भागों से होता हुआ वह फिर लौटकर आर्यावर्त्त में आ गया था। इस अवसर पर हम सुभीते से इस बात का पता लगा सकते हैं कि समुद्रगुप्त जब विजय करने निकला था, तब वह किन-किन मार्गों से होकर आगे बढ़ा था। इसलिये इस अवसर पर हम प्रजातंत्रों और सिंध, काश्मीर तथा अफगानिस्तान के म्लेच्छ राज्यों का वर्णन छोड़ देते हैं और अगले प्रकरण में समुद्र-गुप्त के युद्धों की मुख्य-मुख्य बातें बतला देना चाहते हैं।

समुद्रगुप्त और वाकाटक साम्राज्य

१३. आर्यावर्त्त और दक्षिण में समुद्रगुप्त के युद्ध

§ १३१. इलाहाबादवाले शिलालेख के अनुसार आर्यावर्त्त में समुद्रगुप्त के युद्ध दो भागों में विभक्त थे। पहले भाग में तो वे युद्ध आते हैं जो दक्षिणी भारतवाले अभियान के पहले हुए थे और दूसरे भाग में वे युद्ध हैं जो उक्त अभियान के बाद हुए थे। इन्हीं युद्धों के परिणामस्वरूप उस गुप्त-साम्राज्य की स्थापना हुई थी जिसका चित्र पुराणों में अंकित है। यह चित्र बहुत कुछ ठीक और बिलकुल पूरा-पूरा है और इसमें साम्राज्य के तीनों प्रांतों का उल्लेख है (देखो § १२५); और साथ ही साम्राज्य के उस मुख्य भाग का भी उल्लेख है जिसमें अनु-गंगा-प्रयाग और मगध का प्रांत था।

समुद्रगुप्त के तीन युद्ध

§ १३२. समुद्रगुप्त ने सबसे पहला काम तो यह किया था कि एक स्थान पर उसने जमकर युद्ध किया था जिसमें दो अथवा कदाचित् तीन राजाओं (अच्युत, नागसेन और गणपति नाग) को परास्त किया था; और इसी युद्ध से उसके राजनीतिक सौभाग्य ने पलटा खाया था और उसके साम्राज्य की नींव पड़ी थी। इस युद्ध का तात्कालिक परिणाम यह हुआ था कि कोट-वंश के राजा को (जिसका नाम श्लोक में नहीं दिया गया है) उसके सैनिकों ने पकड़ लिया था और उसने फिर से पुष्पपुर में प्रवेश किया था। इलाहाबाद वाले स्तंभ के अभिलेख की १३वीं और १४ वीं पंक्तियों में ७ वें श्लोक में इस घटना का इस प्रकार वर्णन किया गया है—

कौशांबी का युद्ध

उद्वेलोदित-बाहु-वीर्य-रभसाद् एकेन येन क्षणाद् उन्मूल्य आच्युत नागसेन ग......

दंडैरग्राहयत् एव कोट-कुलजम् पुष्प-आह्वये क्रीडता सूर्येन... तत......।

ग के बाद के अक्षर मिट गए हैं, परंतु कदाचित् वह नाम गणपति.....होगा। क्योंकि अंत में जो "ग" बचा रह गया है, उसके विचार से भी और छंद के विचार से भी यही जान पड़ता है कि वह शब्द गणपति होगा। आगे चलकर २१ वीं पंक्ति में जो वर्गीकरण हुआ है और जो गद्य में है, उससे भी यही बात ठीक जान पड़ती है। उसमें नागसेन-अच्युत-वाले वर्ग का गणपति नाग से आरंभ हुआ है। यथा—

गणपति-नाग-नागसेन-अच्युत-नंदी-बलवर्म्मा।

इस वर्ग का सबसे अधिक महत्वपूर्ण व्यक्ति गणपति नाग है। युद्ध का सबसे बड़ा परिणाम यह हुआ था कि पाटलिपुत्र पर समुद्रगुप्त का सहज में अधिकार हो गया था और कोट-वंश का राजा भी युद्ध में पकड़ा गया था। यह युद्ध मुख्यतः मगध पर फिर से अधिकार करने के लिये ही हुआ होगा। स्वयं समुद्रगुप्त ने कोट के वंशज को नहीं पकड़ा था, जो उस समय पाटलिपुत्र का शासक था। इसलिये हम यह मान सकते हैं कि एक सेना ने तो पाटलिपुत्र पर आक्रमण किया होगा अथवा घेरा डाला होगा, और पाटलिपुत्र के अतिरिक्त किसी दूसरे स्थान पर अथवा पाटलिपुत्र से कुछ दूरी पर समुद्रगुप्त ने नागसेन और अच्युत के साथ और कदाचित् गणपति के साथ भी युद्ध किया होगा। अब हमें सिक्कों से भी और भाव-शतक से भी, जो गणपति नाग के शासन-काल में लिखा गया था (देखो § ३१) यह पता चलता है कि गणपति नाग मालवा का शासक (धाराधीश) था और उसकी राजधानी पद्मावती में थी और कदाचित् एक दूसरी राजधानी धारा में भी थी। शिलालेख की २१ वीं पंक्ति में अच्युत-नंदी का पूरा-पूरा नाम आया है और अहिच्छत्र में अच्युत का सिक्का भी मिला है, और उस सिक्के पर वही सब चिह्न हैं जो पद्मावती के नाग सिक्कों पर पाए जाते हैं और उसकी बनावट भी उन्हीं सिक्कों की सी है, और इससे यह जान पड़ता है कि वह नागों की ही एक शाखा में से था। नागसेन संभवतः मथुरा के कीर्त्तिषेण का पुत्र था[1] और

---

१. इस नागसेन को पद्मावती के उस नागसेन से अलग समझना चाहिए जो नागवंश का था और जिसका उल्लेख बाण ने अपने हर्षचरित में किया है; क्योंकि पद्मावतीवाले इस नागसेन की मृत्यु किसी

मगध तथा पाटलिपुत्र के राजा कल्याणवर्म्मन का श्वसुर था[1]। इसी कल्याणवर्म्मन् ने पाटलिपुत्र के चंडसेन को अधिकार-च्युत करके उस पर अपना अधिकार स्थापित किया था और मथुरा के राजा के साथ इसका संबंध था, और इस प्रकार यह नाग-वाकाटकों के संघ में सम्मिलित था। और भाव-शतक से पता चलता है कि गणपति एक बहुत अच्छा योद्धा और नागों का नेता था; और इसलिये हमें बहुत कुछ संभावना इस बात की जान पड़ती है कि इसी गणपति की अधीनता या नेतृत्व में नागसेन और अच्युतनंदी ने समुद्रगुप्त के साथ जमकर युद्ध किया था। ये लोग पाटलिपुत्र-वालों की सहायता करने के लिये अपने अपने स्थान से चले होंगे। जिस स्थान पर अहिच्छत्र, मथुरा और पद्मावती के राजा या शासक लोग सुभीते से एकत्र होकर समुद्रगुप्त के साथ युद्ध कर सकते थे, वह स्थान कौशांबी या इलाहाबाद हो सकता है; और बहुत कुछ संभावना इसी बात की जान पड़ती है कि यह युद्ध कौशांबी में हुआ होगा, क्योंकि पाटलिपुत्र के लिये पुराना राजमार्ग कौशांबी से ही होकर जाता था। कौशांबीवाले स्तंभ में इस विजय की जो घोषणा की गई है, उससे यही अभिप्राय प्रकट होता हुआ जान पड़ता है। प्रशस्ति इसी स्तंभ पर उत्कीर्ण होने को थी, जैसा कि ३०वीं पक्ति में स्पष्ट रूप से कहा गया है—

वाहुरयम् उच्छ्रतः स्तम्भः।

युद्धक्षेत्र में नहीं हुई थी, बल्कि एक राजनीतिक षड्यंत्र के कारण पद्मावती में ही इसकी मृत्यु हुई थी। इसका कोई सिक्का नहीं मिला है। जान पड़ता है कि यह गुप्तों का कोई अधीनस्थ सरदार था।

१. कौमुदी-महोत्सव, अंक ४।

उक्त तीनों शासक या उप-राज युद्ध-क्षेत्र में एक ही दिन (क्षणात्) मारे गए थे।

§ १३३. यह युद्ध सन् ३४४-४५ ई० में या उसके लगभग और वाकाटक सम्राट् प्रवरसेन प्रथम की मृत्यु के उपरांत तुरंत ही हुआ होगा। इस युद्ध के कारण गंगा की तराई का बहुत बड़ा प्रदेश समुद्रगुप्त के अधिकार में आ गया था। अवध तो पहले से ही उसके अधिकार में था और वही उसका केंद्र था। अब उसके राज्य का विस्तार पश्चिम में हरद्वार और शिवालिक तक और पूर्व में यदि बंगाल तक नहीं तो कम से कम इलाहाबाद से भागलपुर तक का प्रदेश अवश्य ही उसके अधीन हो गया था; और पुराणों में जो यह कहा गया है कि पौंड्र पर भी उसका अधिकार हो गया था, उससे सूचित होता है कि संभवतः बंगाल भी उसके साम्राज्य में मिल गया था। कदाचित् यमुना की तराई को तो उसने उस समय के लिये छोड़ दिया था और मगध में उसने अपनी शक्ति का बहुत अच्छी तरह संघटन किया था; और तब वाकाटक साम्राज्य के दक्षिण-पूर्वी भाग पर आक्रमण करना निश्चित किया था। उस समय तक वाकाटकों का केंद्र किलकिला प्रदेश में ही था और उनके साम्राज्य का दक्षिण-पूर्वी भाग उस केंद्र से बहुत दूर पड़ता था। परंतु समुद्रगुप्त के लिये वह छोटा नागपुर से बहुत पास पड़ता था। जान पड़ता है कि वाकाटक लोग अपने कोसला-मेकला प्रांतों का शासन मध्य-प्रदेश में ही रहकर करते थे। यदि हम और सैनिक बातों तथा सुभीतों का ध्यान छोड़ भी दें, तो भी हम कह सकते हैं कि समुद्रगुप्त वाकाटक साम्राज्य के उक्त भाग में केवल गड़बड़ी ही नहीं पैदा कर सकता

दूसरा काम

था, बल्कि कोसला, मेकला और आंध्र में वाकाटकों पर आक्रमण करके वाकाटक सम्राट् को बिलकुल लाचार भी कर सकता था। उन दिनों पल्लवों के हाथ में बहुत कुछ सुरक्षित और महत्त्वपूर्ण प्रदेश था और वे वाकाटकों की एक शाखा में से ही थे; और इसलिये वे वाकाटक सम्राट् के अधीन भी थे और उससे मेल भी रखते थे। उससे पहलेवाले वाकाटक सम्राट् ने जो चार अश्वमेध यज्ञ किए थे, उनके कारण वाकाटकों का भारत की चारों दिशाओं में अधिकार हो गया था। परंतु समुद्रगुप्त दक्षिणवालों को दबाने का उतना प्रयत्न नहीं करता था, जितना उन्हें शांत और संतुष्ट रखने का प्रयत्न करता था। वह वहाँ के शासकों को पकड़कर छोड़ दिया करता था; और केवल कोसला और मेकला को छोड़कर जो वाकाटक साम्राज्य के अंतर्भुक्त अंग तथा प्रदेश थे, उसने दक्षिण के और किसी प्रदेश को अपने राज्य में नहीं मिलाया था। कलिंग में उसने अपना एक नया करद और सामंत राज्य स्थापित किया था और इसीलिये यह जान पड़ता है कि दक्षिण में उसका अधिकार बहुत जल्दी जल्दी बढ़ा होगा। साथ ही दक्षिणी भारत उसके लिये बहुत अधिक लाभदायक भी था। सारा उत्तरी भारत सोने से भर गया था और संभवतः यह सारा सोना दक्षिणी भारत से ही यहाँ आया था। समुद्रगुप्त सिर्फ सोने के ही सिक्के तैयार कराता था; और कुछ दिनों बाद अपने एक अश्वमेध यज्ञ के समय उसने सोने के इतने अधिक सिक्के तैयार कराए थे, जो खूब उदारतापूर्वक बाँटे गए थे और इतने अधिक बाँटे गए थे, जितने पहले कभी नहीं बाँटे गए थे।

§ १३४. यह बात नहीं मानी जा सकती कि इलाहाबाद वाले शिलालेख में दक्षिणी भारत के राजाओं और सरदारों के जो नाम

मिलते हैं, वे यों ही और बिना किसी उद्देश्य के सिर्फ मनमाने तौर पर गिना दिए गए थे। उसका लेखक

दक्षिणी भारत की विजय

हरिषेण था जो समुद्रगुप्त के सेनापतियों में से एक था, जिसका सम्राट् के साथ बहुत ही घनिष्ठ संबंध था और जो शांति तथा युद्ध-विभाग का मंत्री था। उसके संबंध में यही आशा की जाती है कि उसने अपने स्वामी की विजयों का बिलकुल ठीक ठीक और पूरा लेखा ही रखा होगा। वह एक ऐसा इतिहास प्रस्तुत कर रहा था जो अशोक-स्तंभ पर सदा के लिये प्रकाशित किया जाने को था। उसने सारे भारत की विजयों आदि को दक्षिणी, उत्तरी, पश्चिमी और उत्तर-पश्चिमी इन चार भागों में विभक्त किया था और वह एक भौगोलिक योजना का बिलकुल ठीक अनुसरण कर रहा था। उसमें जो अनेक नाम आए हैं वे मनमाने तौर पर और बिना किसी कारण के नहीं रखे जा सकते थे। इसके सिवा हम यह भी समझ सकते हैं कि उसने जो लेख प्रस्तुत किया था, वह अवश्य ही सम्राट् को दिखलाकर उससे स्वीकृत भी करा लिया गया होगा; क्योंकि जिस समय वह लेख प्रकाशित हुआ था, उस समय सम्राट् जीवित था[1]। कांची, अवमुक्त, वेंगी और पलक्क एक विभाग में हैं। "पलक्कड़" के रूप में पलक्क का उल्लेख पल्लव अभिलेखों में कई स्थानों में मिलता है[2] जिनका

---

१. देखो ऊपर पृ० १६५ की पाद-टिप्पणी १, साथ ही देखो रा० ए० सो० के जरनल, सन् १८६८, पृ० ३८६ में बुहलर की सम्मति जिससे मैं पूरी तरह से सहमत हूँ।

२. इं० ए०, खंड ५, पृ०, ५१-५२, १५५; साथ ही देखो एपि० इं० खंड ८, पृ० १५६, (कड का अर्थ होता है—स्थान।—पृ०१६१)

संबंध गंटूर जिले के दानों से है, और साथ ही उन अभिलेखों में वेंग राष्ट्र का भी उल्लेख आया है जो समुद्रगुप्त का वेंगी ही है और जो गोदावरी तथा कृष्णा के बीच में था।

§ १३५. साधारणतः यही समझा जाता है कि समुद्रगुप्त ने दक्षिण की ओर जो अभियान किया था, वह दिग्विजय करने के लिये किया था। पर वास्तव में यह बात नहीं है। वह तो वाकाटक शक्ति को दबाने के लिये एक सैनिक उद्योग था; और इसकी आवश्यकता इसलिये पड़ी थी कि समुद्रगुप्त ने आर्यावर्त्त में जो पहला युद्ध किया था, उसमें गणपति नाग, अच्युतनंदी और नागसेन मारे गए थे। वाकाटक शक्ति का दूसरा केंद्र आंध्र-देश में था और वहाँ की राजधानी दशनपुर[1] से वाकाटकों की छोटी शाखा दक्षिण पर पल्लव सम्राटों (पल्लवेंद्र)[2] के रूप में शासन करती थी। और यह शाखा तामिल प्रदेश के सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण राज्य चोल को राजधानी कांची तक पहुँच गई थी जो सुदूर दक्षिण में था। दक्षिण पर आक्रमण करने का समुद्रगुप्त का एकमात्र उद्देश्य यही था कि पल्लवों की सेना का पराभव किया जाय। वह सोचता था कि वाकाटकों के सैनिक नेताओं (गणपति नाग आदि) को जो मैंने उत्तरी भारत में युद्ध में मार डाला है, यदि उसका

---

१. देखो एपि० इ०, १, ३६७ जहाँ इसे अधिष्ठान या राजधानी कहा गया है। साथ ही देखो इं० ए० ५, १५४ में फ्लीट का लेख। परवर्त्ती शिलालेख में इसे फिर राजधानी (विजयदशनपुर) कहा गया है।

२. इनके लिये इनके गंग और कदंब दोनों ही वर्गों के सामंतों ने इसी उपाधि का प्रयोग किया है। एपि० इं० १४, १३१ और ८, ३२।

बदला चुकाने के लिये पल्लव लोग अपने सेनापतियों और सामंतों को लेकर दक्षिण की ओर से चढ़ाई करेंगे और इधर बुंदेलखंड से रुद्रसेन आकर बिहार पर आक्रमण करेगा, तो मैं बीच में दोनों ओर से भारी विपत्तियों में फँस जाऊँगा। इसी बात को बचाने के लिये समुद्रगुप्त ने यह सोचा होगा कि पहले पल्लवों और उनके सहायकों आदि से ही एक एक करके निपट लेना चाहिए। वह बहुत तेज़ी से छोटा नागपुर संभलपुर और बस्तर होता हुआ सीधा वेंगी जा पहुँचा जो पल्लवों का मूल केंद्र था और कोलायर झील के किनारेवाले युद्ध-क्षेत्र में जा डटा। यह बहुत पुराना रास्ता है जो सीधा आंध्र देश को जाता है। समुद्र-गुप्त पूर्वी समुद्र-तटवाले मार्ग से नहीं गया था, क्योंकि उसके मंत्री हरिषेण ने दक्षिणी बंगाल और उड़ीसा के किसी नगर या कस्बे का उल्लेख नहीं किया है। इसी कोलायर झील के किनारे फिर सातवीं शताब्दी में राजा पुलकेशिन् द्वितीय के समय में एक भीषण युद्ध हुआ था[१] समुद्रगुप्त के मंत्री और सेनापति हरिषेण ने अपनी सूची में जिन शासकों के नाम गिनाए हैं, यदि उन पर हम विचार करें तो तुरंत पता चल जाता है कि ये सब शासक और राजा लोग आंध्र तथा कलिंग प्रदेश के ही थे जो कुरालृ या कोलायर झील के आस-पास पड़ते थे। जान पड़ता है कि वे एक साथ मिलकर ही समुद्रगुप्त का सामना करने के लिये आए थे (देखो § १३५ क) और वहीं वह अंतिम निपटारा करनेवाला युद्ध हुआ था[२]। उस समय समुगुप्त ने कोई बहुत अच्छी साम-

---

१. एपिग्राफिया इंडिका, ६, पृ० ३ और ६।

२. यह सूची (पंक्ति १६) इस प्रकार है—(१) कौसलक माहेंद्र, (२) महाकांतारक व्याघ्रराज; (३) कौरालक मण्टराज; (४)

रिक चाल चली होगी, क्योंकि पल्लवों के सभी नेता चारों ओर से समुद्रगुप्त की सेनाओं से घिर गए थे। उनका सारा संघटन छिन्न-भिन्न हो गया और उन सब लोगों ने आत्म-समर्पण कर दिया। समुद्रगुप्त ने उनके साथ कुछ शर्तें तै करके फिर उनको स्वतंत्र कर दिया। अब समुद्रगुप्त उस स्थान से, जो बेजवादा और राजमहेंद्री के बीच में था, लौट पड़ा। उसे कांची तक जाने की कोई आवश्यकता नहीं थी और न उस समय उसे पूर्वी समुद्र-तट अथवा पश्चिमी समुद्र-तट के किसी दूसरे दक्षिणी राज्य से कोई मतलब था। पल्लव वर्ग के सब राजाओं को परास्त करके और उदारता तथा नीतिपूर्वक उन पर विजय प्राप्त करके और उन्हें वाकाटकों की अधीनता से निकालकर और उनसे अलग करके तुरंत ही जल्दी जल्दी चलकर बिहार लौट आया। वहाँ से लौटने पर उसने रुद्रदेव पर चढ़ाई की। यह रुद्रदेव भी उसी प्रकार वीरतापूर्वक लड़ा था, जिस प्रकार वीरतापूर्वक उसके उत्तरी अधीनस्थों में से प्रत्येक राजा लड़ा था और अपने उन सहायकों के साथ वह युद्ध-क्षेत्र में मारा गया था। कदाचित् उसकी मृत्यु एरन के युद्धक्षेत्र में हुई थी (देखो § १३७)।

§ १३५ क. अपने संभलपुरवाले मार्ग में समुद्रगुप्त कोसल से

पिष्ठपुरक महेंद्रगिरिक-कौट्टूरक स्वामिदत्त; (५) एरंड-पल्लक दमन; (६) कांचेयक विष्णुगोप; (७) आवमुक्तक नीलराज; (८) वेंगेयक हस्तिवर्म्मन्; (९) पालक्कक उग्रसेन; (१०) दैवराष्ट्रक कुबेर; (११) कौस्थलपुरक धनंजय; प्रभृति सर्व-दक्षिणापथ-राज; आदि आदि।

होकर गया था और तब वह वहाँ से महाकांतार गया था; और महाभारत के आधार पर हम पहले यह कोलायर झीलवाला युद्ध बतला चुके हैं कि यह वही प्रदेश था जो आजकल का काँकेर और बस्तर है। इसके उपरांत वह कुराल पहुँचा था। वह अवश्य ही वेंगी से होता हुआ गया होगा[1] परंतु वेंगी के शासक का नाम कलिंग की राजधानी पिष्ठपुर के शासक के नाम के बाद दिया गया है; और यह कलिंग गोदावरी जिले में था। पिष्ठपुर के इस शासक (स्वामिदत्त) के अधिकार में महेंद्रगिरि और कोट्टूर की पहाड़ी गढ़ियों के आस-पास दो और छोटे प्रदेश या जिले थे जो आजकल के गंजाम जिले में थे। गंजाम जिले में ही कलिंगनगर (मुखलिंगम्) के पास ही कलिंग देश का एरंडपल्ली नामक कस्बा था जिसका उल्लेख देवेंद्रवर्म्मन्वाले उस ताम्रलेख में भी है जो चिकाकोल के निकट सिद्धांतम् नामक स्थान में पाया गया है (देखो एपि० इं०, खंड १३, पृ० २१२)। यह प्रदेश अवश्य ही पिष्ठपुर के स्वामिदत्त के अधीन रहा होगा और एरंडपल्ली का दमन एक "राजा" या उसी प्रकार का शासक रहा होगा, जिस प्रकार आजकल किसी जिले के अफसर या प्रधान अधिकारी हुआ करते हैं। इसी के बाद कांची के शासक विष्णुगोप का नाम आया है जो उस समय अपने बड़े भाई सिंहवर्म्मन् प्रथम का युवराज था अथवा उसके पुत्र कांचीवाले सिंहवर्म्मन् द्वितीय का अभिभावक था। एरंडपल्ली से कांची बहुत दूर पड़ती है। यदि

---

१. गोदावरी जिले के एल्लौर नामक नगर के पास जो इसका स्थान-निर्देश हुआ है, उसके लिये देखो एपिग्राफिया इंडिका, खंड ६, पृ० ५६।

हम यह मान लें कि कांची और एरंडपल्ली दोनों मिलकर एक ही थीं और एक ही स्थान पर थीं, तभी यह कथन संगत हो सकता है। इसके उपरांत आवमुक्त या अवमुक्त के शासक का नाम आया है। आव देश अथवा आव लोगों की राजधानी गोदावरी के पास पिठुंड में थी। आव और पिठुंड का नाम हाथीगुम्फावाले शिलालेख में आया है[१]। इसके उपरांत वेंगी के शासक का नाम आया है और इस वेंगी प्रदेश को समुद्रगुप्त ने पहले ही महाकांतार से कुराल की ओर जाते समय पार किया था। यदि यह मान लिया जाय कि समुद्रगुप्त कांची गया था, तो वह रास्ते में बिना वेंगी के शासक का मुकाबला किए किसी तरह कांची पहुँच ही नहीं सकता था। और यह इस बात का एक और प्रमाण है कि ये सभी लड़नेवाले एक ही स्थान पर एकत्र हुए थे। जैसा कि अभी ऊपर बतलाया जा चुका है, पलक्क वही स्थान है जहाँ से आरंभिक पल्लवों ने गंटूर जिले में और बेजवादा के आस-पास कई जमीनें दान की थीं। दानपत्रों में जो "पलक्कड" शब्द आया है, वह इसी पलक्क का दूसरा रूप है। यह नगर कृष्णा नदी के कहीं पास ही आंध्र देश में था। इसके बादवाले शासक के स्थान का नाम देवराष्ट्र आया है और इससे भी यही सिद्ध होता है कि वे सब राजा लोग एक ही स्थान पर एकत्र हुए थे। चालुक्य भीम प्रथम[२] के एक ताम्रलेख के अनुसार यह देवराष्ट्र एलमंची कलिंग देश (आधुनिक येलमंतिल्ली) का एक जिला (विषय)

---

१. एपि० इं०, २०, ७६, पंक्ति ११ और बि० उ० रि० सो० का जरनल, खंड १४, पृ० १५१।

२. Madras Report on Epigrapy, १९०९, पृ० १०८-१०९।

था; और इस चालुक्य भीम प्रथम का एक दूसरा ताम्रलेख बेजवादा में पाया गया था। इसी प्रकार कुस्थलपुर भी उसी प्रदेश का कोई जिला या विपय रहा होगा, यद्यपि इसका नाम अभी तक और किसी लेख आदि में नहीं मिला है। कदाचित् कोसल और महाकांतार के शासकों को छोड़कर ये सभी सैनिक सरदार—स्वामिदत्त और विष्णुगोप सरीखे राजाओं से लेकर जिले के अधिकारियों तक जिन पर चढ़ दौड़ने का कष्ट कोई विजेता न उठावेगा—सब एक साथ ही लड़ने के लिये इकट्ठे हुए थे और सबने एक ही युद्धक्षेत्र में खड़े होकर युद्ध किया था। उक्त सूची में नामों का जो क्रम दिया गया है, वह या तो इस बात का सूचक है कि ये सब राजा और जिलों के अधिकारी युद्ध-क्षेत्र में किस क्रम से खड़े हुए थे और या इस बात का सूचक है कि उन्होंने किस क्रम से आत्म-समर्पण किया था। यहाँ उनका महत्त्व शासकों के रूप में नहीं है, बल्कि योद्धाओं और सैनिक नेताओं के रूप में है। जान पड़ता है कि ये लोग दो मुख्य नेताओं की अधीनता में बँटे हुए थे। इनके नामों के आगे जो अंक दिए गए हैं, वे इलाहाबादवाले शिलालेख में दिए हुए उनके क्रम के सूचक हैं। (देखो § १३५ पृ० २९८ में पाद-टिप्पणी २।)

१		२
(३) कुराल का मण्टराज नेतृत्व करता था	और	(६) कांची का विष्णुगोप नेतृत्व करता था
(४) स्वामिदत्त		(७) अवमुक्त के नीलराज,
और		(८) वेंगी के हस्तिवर्म्मन्,
(५) एरंडपल्ली के दमन का		(९) पलक्क के उग्रसेन,

(१०) देवराष्ट्र के कुबेर
और
(११) कुस्थलपुर के धनंजय
का।

मुख्य सेना विष्णुगोप के अधीन थी जिसके पार्श्वों में कलिंग सेनाएँ थीं। इस युद्ध को हम कुराल का युद्ध कह सकते हैं। इस युद्ध के द्वारा समुद्रगुप्त ने वाकाटकों के कोसला, मेकला और आंध्र प्रांतों पर विजय प्राप्त की थी। समुद्रगुप्त लौटते समय भी उसी कोसलवाले मार्ग से ही आया था, क्योंकि हरिषेण ने और देशों का उल्लेख नहीं किया है। यह युद्ध कौशांबीवाले युद्ध (सन् ३४४ ई०) के कुछ ही दिन बाद हुआ होगा। यह युद्ध सन् ३४५-३४६ ई० के लगभग हुआ होगा। हम कह सकते हैं कि खारवेल की तरह समुद्रगुप्त ने भी औसत हर दूसरे वर्ष (सन् ३४४ से ३४८ ई० तक) युद्ध किए होंगे। वह वर्षा ऋतु के उपरांत पटने से चलता होगा और उसी वर्ष फिर लौटकर पटने आ जाता होगा[१]।

§ १३६. दक्षिणी भारत से लौटने पर समुद्रगुप्त ने वाकाटकों के असली केंद्र या उनके निवास के प्रांत पर आक्रमण किया था

---

१. कौटिल्य (अ० १३०) ने कहा है कि साधारण सेना एक दिन एक योजन (सात मील) सहज में और सुखपूर्वक चल सकती है; अच्छी सेना एक दिन में डेढ़ योजन और सबसे अच्छी सेना दो योजन तक चल सकती है। कनिंघम ने अच्छी तरह इस बात का पता लगा लिया है कि एक योजन सात मील का होता था। परंतु समुद्रगुप्त का अभियान अवश्य ही और भी अधिक द्रुत गति से हुआ होगा।

जो यमुना और विदिशा के बीच में था और जिसे आज-कल बुंदेलखंड कहते हैं। इस आर्यावर्त-युद्ध के कारण समुद्रगुप्त का (आयावर्त्त के) आटवी शासकों पर प्रभुत्व स्थापित हो गया था; अर्थात् बघेलखंड के विंध्य प्रांतों और पूर्वी बुंदेलखंड पर उसका राज्य हो गया था। इसलिए हम कह सकते हैं कि यह युद्ध आर्यावत्त के विंध्य प्रांतों अर्थात् बुंदेलखंड में उसके आस-पास हुआ था। पन्ना की पहड़ियों में युद्ध करना एक मुश्किल काम है और सैनिक नेता साधारणतः ऐसे युद्धों से बचते हैं। बुंदेलखंड की दक्षिण-पश्चिमी सीमा पर भिलसा (बिदिशा) (पूर्वी मालवा) प्रदेश पड़ता है। और पूर्वी मालवा की ओर से बुंदेलखंड में सहज में प्रवेश किया जा सकता है, क्योंकि गंगा की तराई से चलकर बेतवा या चंबल को पार करते हुए बुंदेलखंड में जाने के लिये पहले भी अच्छी और साफ सड़क थी और अब भी है। किलकिला-विदिशा के प्रांत पर समुद्रगुप्त ने उसी सम-तल प्रदेश से होकर आक्रमण किया होगा जो आज-कल अधिकांश में ग्वालियर राज्य में है और जिस रास्ते से मराठे हिंदुस्तान में आया करते थे। जान पड़ता है कि यह युद्ध एरन में हुआ था। हम जिन कारणों से इस परिणाम पर पहुँचे हैं, वे नीचे दिए जाते हैं।

दूसरा आर्यावर्त्त युद्ध

§ १३७. समुद्रगुप्त ने अपने स्मृति-चिह्न उसी एरन नामक स्थान पर बनवाए थे, जो वाकाटकों के रहने के प्रदेश के मध्य में पड़ता है; और इसी से हम यह बात निश्चयपूर्वक कह सकते हैं कि वह विजय करता हुआ वाकाटक प्रदेश में पहुँचा था। इसके बादवाले वाकाटक राजा पृथिवीषेण प्रथम के शासनकाल

एरन का युद्ध

में हम देखते हैं कि बुंदेलखंड उस समय तक वाकाटकों के अधिकार में था। एरन के ठीक दक्षिण में भी और पूर्व में भी कई प्रजातंत्र राज्य थे (देखो § १४५)। एरन पर समुद्रगुप्त प्रत्यक्ष रूप से तो शासन करता ही नहीं था, लेकिन फिर भी वहाँ उसने विष्णु का जो मंदिर बनवाया था, उससे कई बातों का पता चलता है। एरनवाले शिलालेख से पता चलता है कि उस समय तक समुद्रगुप्त ने "महाराजाधिराज" की उपाधि नहीं ग्रहण की थी और उसमें उसकी निश्चित वंशावली नहीं दी है। परंतु उसकी २१ वीं से २६ वीं पंक्ति में जो छठा और सातवाँ श्लोक दिया गया है, उससे पता चलता है कि वहाँ पर समुद्रगुप्त ने एक सैनिक विजय के उपरांत युद्ध का वैसा ही स्मृति-चिन्ह बनवाया था, जैसा आगे चलकर उसके पोते ने भीतरी नामक स्थान में बनवाया था। यह अभिलेख इलाहाबादवाले स्तंभ के अभिलेख से पहले का है। इस शिलालेख के "अंतक" शब्द पर खास जोर दिया गया है और कहा गया है कि सभी राजा (पार्थिवगणास् सकलः) पराजित हुए थे और राज्याधिकार से वंचित हो गए थे; और यह भी कहा गया है कि वहाँ राजा समुद्रगुप्त का "अभिषेक" हुआ था। उसमें समुद्रगुप्त का इस प्रकार वर्णन किया गया है कि उसकी शक्ति का कोई सामना नहीं कर सकता था—वह "अप्रतिवार्यवीर्यः" हो गया था; और उसकी यही उपाधि आगे चलकर उसके सिक्कों पर अंकित होने लगी थी। २१ वीं पंक्ति में उसकी सैनिक योग्यता का विशेष रूप से वर्णन किया गया है और कहा गया है कि उसके शत्रु निद्रित रहने की अवस्था में भी मारे भय के चौंक उठते थे। अपनी अपनी कीर्त्ति के चिह्न-स्वरूप उसने एक शिलान्यास किया था (पंक्ति २६); और जान पड़ता है कि यह उसी विष्णु के मंदिर का शिलान्यास होगा, जो

अभी तक वर्तमान है। उस मंदिर में स्तंभों और कारनिस के मध्य वाले स्थान में अंत्येष्टि क्रिया का एक चित्र अंकित है[1], और मंदिरों में साधारणतः ऐसे चित्र नहीं अंकित हुआ करते। जान पड़ता है कि यह उस समय का दृश्य है, जब कि वाकाटक राजा पराजित होकर युद्ध-क्षेत्र में निहत हुआ था और उसका शव-दाह हुआ था। उसी दिन से वह नगर प्रत्यक्ष रूप से गुप्त सम्राट् के अधिकार में आ गया था और उसकी व्यक्तिगत संपत्ति बन गया था, क्योंकि उसे "स्वभोग-नगर" कहा गया है और इसका यही अभिप्राय होता है।

एरन एक प्राकृतिक युद्ध क्षेत्र था

§ १३८. एरन एक ओर तो बुंदेलखंड के प्रवेश-द्वार पर और दूसरी ओर मालवा के प्रवेश-द्वार पर स्थित है। पूर्वी मालवा भी और पश्चिमी मालवा भी, तात्पर्य यह कि सारा मालवा, प्रजातंत्रों के अधिकार में था, जिन्होंने बिना लड़े-भिड़े ही समुद्रगुप्त के हाथ आत्म-समर्पण कर दिया था। यह स्थान पहले से ही सैनिक कार्यों के लिये बहुत महत्त्व का था, और यहाँ एक प्राचीन गढ़ भी था और इसके आगे एक बहुत बड़ा मैदान था। मानों प्रकृति ने पहले से ही यहाँ एक बहुत अच्छा युद्ध-क्षेत्र बना रखा था। जान पड़ता है कि इसी स्थान पर समुद्रगुप्त ने वाकाटक राजा के साथ युद्ध किया था। परवर्ती गुप्त काल में भी यहाँ एक और युद्ध हुआ था, क्योंकि यहाँ एक गुप्त सेनापति (गोपराज) का एक और स्मृति-चिह्न मिलता है, जिसने हूणों के समय यहाँ लड़कर अपने प्राण दिए थे और यहीं उसकी

---

१. आरकियालोजिकल सर्वे रिपोर्ट, खंड १०, पृ० ८५।

पतिव्रता पत्नी ने पूर्ण रूप से सहगमन करके उसकी चिता पर आरोहण किया था[1]।

§ १३६. रुद्रसेन युद्धक्षेत्र में समुद्रगुप्त से परास्त हुआ था और मारा गया था। समुद्रगुप्त के शिलालेख में जितने राजाओं के नाम आए हैं, उनमें एक यह रुद्र ही ऐसा राजा है जिसके नाम के अंत में "देव" शब्द मिलता है, और हम यह मान सकते हैं कि रुद्र के नाम के साथ यह "देव" शब्द जान-बूझकर जोड़ा गया था। उस समय रुद्रसेन भारत में सबसे बड़ा राजा था और वह अपने उस प्र-पिता का उत्तराधिकारी हुआ था जो सारे भारतवर्ष का एक वास्तविक सम्राट् रह चुका था। रुद्रसेन के नाम के अंत में जो 'सेन' शब्द है, वह वास्तव में नाम का कोई अंश नहीं है। जैसा कि हम ऊपर बतला चुके हैं, यह "सेन" शब्द कभी तो नाम के अंत में जोड़ दिया जाता था और कभी छोड़ दिया जाता था। उदाहरण के लिये हम नेपाल के शिलालेख ले सकते हैं जिनमें लिच्छवी राजा वसंतसेन का नाम कहीं तो वसंतसेन दिया है और कहीं वसंतदेव दिया है। "देव" शब्द अधिक महत्त्वसूचक है और इससे पूर्ण राजकीय पद का बोध होता है। ऊपर हमने जो वंशावली दी है, उसमें कहा गया है कि रुद्रदेव ने सन् ३४४ ई० में राज्यारोहण किया था, और समुद्रगुप्त की विजयों के संबंध में सभी लोगों का यह एक मत है कि वे सन् ३४५ ई० से ३५० ई० तक हुई थीं। इस प्रकार यह सिद्ध हो जाता है कि शिलालेखवाला रुद्रदेव वही रुद्रसेन प्रथम ही है (देखो § ६४)।

रुद्रदेव

---

१. फ्लीट कृत Cupta Inscriptions, पृ० ६२।

आर्यावर्त्त के राजा

§ १४०. आर्यावर्त्त के जो राजा समुद्रगुप्त से परास्त हुए थे, उनकी नामावली इस प्रकार है—

रुद्रदेव, मतिल, नागदत्त, चंद्रवर्म्मन्, गणपति-नाग, नागसेन, अच्युतनंदी और बलवर्म्मन[1]।

यह सूची दो भागों में विभक्त हो सकती है। (१) इनमें से पहले भाग में गणपति नाग से बलवर्म्मन् तक उन राजाओं के नाम हैं जो पहले आर्यावर्त्त युद्ध में परास्त हुए थे। इनमें से पहले तीन राजा तो कौशांबी में मारे गए थे और अंतिम राजा बलवर्म्मन् उस समय पाटलिपुत्र का शासक रहा होगा, जिस समय समुद्रगुप्त की सेना ने उस पर अधिकार किया था और जिसका उल्लेख सातवें श्लोक में बिना नाम के ही हुआ है। यदि यही बात हो तो हम कह सकते हैं कि कल्याण-वर्म्मन् का ही दूसरा या अभिषेक-नाम बलवर्म्मन् रहा होगा। और इसीलिये हम यह भी कह सकते हैं कि दूसरे वर्ग या विभाग में उन राजाओं और शासकों के नाम हैं, जो दूसरे युद्ध में परास्त हुए थे अथवा दूसरे युद्ध के बाद भी कुछ दिनों तक जो और छोटे-मोटे युद्ध होते रहे होंगे, उन्हीं में वे परास्त हुए होंगे[2]। इनमें से नागदत्त वही हो सकता है जो महाराज महेश्वर नाग का पिता था। यह महेश्वर नाग उप-राज था जिसकी एक मोहर लाहौर में पाई गई थी। उस

---

१. फ्लीट कृत Gupta Inscriptions, पृ० १२।

२. इस बात की बहुत कुछ संभावना जान पड़ती है कि इसके कुछ ही दिन बाद समुद्रगुप्त का मथुरा के पश्चिम श्रुघ्न देश में और वहाँ से जालंधर तक एक दूसरा अभियान भी हुआ था।

मोहर पर एक नाग या सर्प का लांछन अथवा चिह्न अंकित है और फ्लीट ने अपने Gupta Inscriptions में इनका संपादन किया है। इस पर की लिपि से पता चलता है कि यह मोहर ईसवी चौथी शताब्दी की है (Gupta Inscriptions, पृ० २८३)। मतिल बुलंदशहर जिले में शासन करता था जहाँ एक दूसरे नाग लांछन से युक्त उसकी मोहर मिली है[1]। हम यह नहीं जानते कि समुद्रगुप्त के शिलालेख में जिस चंद्रवर्म्मन का उल्लेख है, वह कौन है;[2] परंतु हम इतना अवश्य जानते हैं कि सन् २५० ई० के लगभग जालंधर दोआब के सिंहपुर नामक स्थान में सामंतों का एक यादव-वंश अवश्य स्थापित हुआ था (देखो §§ ७८ और ८०)। यह वंश अवश्य ही वाकाटकों का सामंत रहा होगा। उनके नामों के ऊनमें "वर्म्मन्" शब्द रहता था। यद्यपि सिंहपुर के शासकों की सूची में हमें "चंद्रवर्म्मन्" नाम नहीं मिलता, परंतु फिर भी यह संभव है कि वह कोई नवयुवक वीर रहा होगा

---

१. इंडियन एंटीक्वेरी, खंड १८, पृ० २८९। यह नाग शंखपाल का चिह्न है। इसमें एक शंख और एक सर्प है। सर्प की आकृति गोल है और उसके शरीर से आभा निकल रही है। दुर्गादेवी के एक ध्यान में शंखपाल का इस प्रकार वर्णन मिलता है—दाहोत्तीर्णमुवर्णाभा। यह शंखपाल देवी के हाथों में कंकड़ के रूप में रहता है।

२. विंसेंट स्मिथ ने एक बार कहा था कि समुद्रगुप्त के शिलालेख वाला चंद्रवर्म्मन् सुसनियावाले शिलालेख (रा० ए० सो० का जरनल, १८९७, पृ० ८६६) वाला चंद्रवर्म्मन् ही है। परंतु सुसनियावाले शिलालेख की लिपि (एपि० इं०, खंड १३, पृ० १३३) बहुत परवर्ती काल की है।

और रुद्रसेन की ओर से लड़ने के लिये युद्धक्षेत्र में आया होगा। अथवा यह चंद्रवर्म्मन् उसी वंश के राजा का दूसरा नाम भी हो सकता है। छठा राजा जो समुद्रगुप्त का समकालीन रहा होगा और जिसका नाम वृद्धवर्म्मन् दिया गया है, उसका उल्लेख लक्खा मंडलवाले शिलालेख (एपि० इं०, खंड १, पृ० १३ के सातवें श्लोक) में "चंद्र" के नाम से मिलता है। चंद्रवर्म्मन् इलाहाबादवाले शिलालेख के अनुसार नागदत्त का पड़ोसी था और यह मथुरा से और आगे के प्रदेश का शासक रहा होगा, जिसके उत्तराधिकारी की मोहर लाहौर में पाई गई है। अहिच्छत्र और मथुरा के बीच में नागदत्त के लिये कोई स्थान नहीं हो सकता। जो वर्गीकरण—रुद्रसेन-मतिल-नागदत्त-चंद्रवर्म्मन्—किया गया है वह भौगोलिक क्रम से है। रुद्रदेव के राज्य के ठीक बाद मतिल का राज्य पड़ता था और नागदत्त का राज्य उससे और आगे पश्चिम में था। और चंद्र वर्मन् का राज्य तो उससे भी आगे पूर्वी पंजाब में था।

§ १४० क. अब प्रश्न यह है कि क्या ये तीनों शासक एक ही युद्ध में रुद्रसेन से लड़े थे या अलग अलग लड़े थे। नागदत्त और चंद्रवर्म्मन् कभी रुद्रसेन के पड़ोस में तो थे ही नहीं, हाँ भारतीय इतिहास से हमें इस बात का पता अवश्य लगता है कि राजा और उनके साथी लोग बहुत दूर दूर से चलकर युद्ध करने के लिये जाते थे। अतः जैसी कि हम आशा कर सकते हैं, यदि हम समझें कि ये तीनों सामंत एक ही युद्ध में रुद्रदेव के साथ मिलकर और उसकी ओर से लड़े थे, तो यह कोई बहुत बड़ी या असंभव बात नहीं है। यह अवश्य ही समुद्रगुप्त का सबसे बड़ा युद्ध रहा होगा क्योंकि उसने लिखा है कि इन राजाओं के साथ होनेवाले इस युद्ध के उपरांत समस्त आटविक राजा मेरे सेवक

हो गए थे। और इसका अर्थ यही होता है कि बुंदेलखंड और बघेलखंड के सभी शासक इस युद्ध में सम्मिलित हुए थे; और जब गुप्त सम्राट् का पतन हो गया, तब उन लोगों ने समुद्रगुप्त की अधीनत स्वीकृत कर ली। परंतु दोनों पश्चिमी राजाओं या शासकों के संबंध में अधिक संभावना इसी बात की जान पड़ती है कि उनके साथ बाद में मथुरा के पश्चिम में एक दूसरा ही युद्ध हुआ था। पुराणों (वायु पुराण और ब्रह्मांड पुराण) में रुद्रसेन की मृत्यु के समय के समुद्रगुप्त के साम्राज्य का जो वर्णन दिया गया है (देखो § १२६) उसमें पंजाब का नाम नहीं आया है; और इससे भी यही सूचित होता है कि पश्चिमी भारत में एक दूसरा युद्ध हुआ था। और इस प्रकार बहुत कुछ संभावना इसी बात की जान पड़ती है कि साल दो साल बाद आर्यावर्त्त में एक तीसरा युद्ध भी हुआ था।

§ १४१. वाकाटक साम्राज्य पर समुद्रगुप्त ने जो दूसरी चढ़ाई की थी. वह वास्तव में प्रथम आर्यावर्त्त-युद्ध का क्रमागत अंश ही था। ये तीनों बड़े युद्ध वास्तव में एक ऐसे बड़े युद्ध के अंश थे जो कुछ दिनों तक चलता रहा था। इसलिये यह सारा सैनिक कार्य बहुत जल्दी जल्दी किया गया होगा। इसमें समुद्रगुप्त की ओर से जो सैन्य-संचालन हुआ था, वह इतना पूर्ण था कि उसमें समुद्रगुप्त को कभी कहीं पराजित नहीं होना पड़ा था और न कहीं रुकना ही पड़ा था; इसलिये सारी लड़ाइयाँ तीन ही वर्षों के सैन्य-संचालन-काल [उन दिनों युद्ध अक्तूबर (विजया दशमी) से आरंभ होकर अप्रैल तक ही होते थे] में समाप्त हो गई होंगी। ऊपर हमने जो काल-क्रम निश्चित किया है,

आर्यावर्त्त-युद्धों का समय

उसे देखते हुए यह कहा जा सकता है कि पहला आर्यावर्त-युद्ध सन् ३४४-३४५ ई० में हुआ होगा, दूसरा सन् ३४८ ई० में या उसके लगभग और तीसरा सन् ३४९ या ३५० ई० में हुआ होगा।

१४. सीमा प्रांत के शासकों और हिंदू प्रजातंत्रों का अधीनता स्वीकृत करना, उनका पौराणिक वर्णन और द्वीपस्थ भारत का अधीनता स्वीकृत करना

§ १४२. जब तीसरा आर्यावर्त-युद्ध समाप्त हो गया और नागदत्त तथा चंद्रवर्म्मन् का पतन हो गया, तब समुद्रगुप्त का युद्ध-काल भी समाप्त हो गया। यह बात इलाहाबादवाले शिलालेख (पं० २२) में साफ तौर पर लिखी हुई है। सीमाप्रांत में केवल पाँच मुख्य राज्य थे और वे सभी उसके साम्राज्य के अंतर्गत आ गए थे। (१) समतट, (२) डवाक, (३) कामरूप, (४) नेपाल और (५) कर्तृपुर ने साम्राज्य के सभी कर चुका दिए थे और इन सब राज्यों के राजा स्वयं आकर समुद्रगुप्त की सेवा में उपस्थित हुए थे[1]। सीमाप्रांत के इन राजाओं के राज्य गंगा नदी के मुहाने से आरंभ होते हैं और लुशाई-मणिपुर-आसाम[2] से होते

सीमा प्रांत के राज्य

---

१. इलाहाबादवाले स्तंभ का शिलालेख, पंक्ति २२, Gupta Inscription, पृ० ८।

२. कर्नल गेरिनी द्वारा संपादित Ptolemy (पृ० ५५-६१) में कहा गया है कि उन दिनों उत्तरी बरमा को डवाक कहते थे।

हुए बराबर हिमालय पर्वत तक पहुँचते हैं; और इस बीच में वे सभी प्रदेश आ जाते हैं, जिन्हें हम लोग आजकल भूटान, सिकम और नैपाल कहते हैं, और तब वहाँ से होते हुए शिमले की पहाड़ियों और काँगड़े (कर्तृपुर) तक अर्थात् बंगाल के उत्तर में पड़ने वाली पहाड़ियों (पौंड्र), संयुक्तप्रांत और पूर्वी पंजाब (माद्रक देश) तक इनका विस्तार जा पहुँचता है। समुद्रगुप्त के साम्राज्य में जो कर्तृपुर भी सम्मिलित हो गया था, उसका अर्थ यही है कि तीसरे आर्यावर्त्त-युद्ध के परिणामस्वरूप पूर्वी पंजाब भी उसके साम्राज्य में सम्मिलित हो गया। कदाचित् भागवत पुराण से भी यही आशय निकाला जा सकता है; क्योंकि उसमें स्वतंत्र प्रजातंत्री राज्यों की जो सूची दी है, उसमें मद्रक राज्य का नाम नहीं है (देखो § १४६) इसके बादवाले शासन-काल में हम देखते हैं कि गुप्त संवत् ८३ (सन् ४०३ ई०) में गुप्त संवत् का प्रचार शोरकोट (पुराना शिवपुर) तक हो गया था, जो चनाब नदी के पूर्वी तट के पास था[1]। नेपाल का नया लिच्छवी राजा जयदेव प्रथम समुद्रगुप्त का रिश्तेदार होता था; और उसके अधीनता स्वीकृत करने का यह अर्थ होता है कि भारतवर्ष की ओर हिमालय में जितने राज्य थे, उन सबने अधीनता स्वीकृत कर ली थी। नेपाल में जयदेव प्रथम के शासन-काल में गुप्त संवत् का प्रचार हुआ था[2]। जान पड़ता है कि जयदेव प्रथम के साथ संबंध होने के कारण ही उसके पार्वत्य प्रदेश पर चढ़ाई नहीं की गई थी। यह भी जान पड़ता है कि आगे चलकर समुद्रगुप्त ने समतट को

१. एपिग्राफिया इंडिका, खंड १६, पृ० १५।

२. फ्लीट कृत Gupta Inscription की प्रस्तावना, पृ० १३५। इंडियन एंटीक्वेरी, खंड १४, पृ० ३४५ (३५०)।

भी अपने चंपावाले प्रांत में मिला लिया था, क्योंकि इससे उसके साम्राज्य की प्राकृतिक सीमा समुद्र तक जा पहुँचती थी; और उड़ीसा तथा कलिंग का शासन करने के लिये और द्वीपस्थ भारत के साथ समुद्री व्यापार की व्यवस्था करने के लिये (देखो § १५०) यह आवश्यक था कि समुद्र तक सहज में पहुँच हो सके।

काश्मीर तथा दैवपुत्र वर्ग और उनकी अधीनता स्वीकृत करना

§ १४३. हमें यहाँ इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि समुद्रगुप्त का साम्राज्य काँगड़े तक ही था और उसमें काश्मीर तथा उसके नीचे का समतल मैदान सम्मिलित नहीं था। यह बात भागवत से स्पष्ट हो जाती है, जिसका मूल पाठ उस समय से पहले ही पूरा तैयार हो चुका था, जब कि दैवपुत्र वर्ग ने अधीनता स्वीकृत की थी। भागवत में इस वर्ग के संबंध में कहा गया है कि यह दमन किए जाने के योग्य है। इलाहाबादवाले शिलालेख की २३ वीं पंक्ति में कहा गया है कि समुद्रगुप्त की प्रशांत कीर्त्ति सारे देश में फैल गई थी, और यह भी कहा गया है कि उसने ऐसे अनेक राजवंशों को फिर से राज्य प्रदान किया था, जिनका पतन हो चुका या और जो राज्याधिकार से वंचित हो चुके थे। और इस शांतिवाली नीति का तुरंत ही यह परिणाम भी बतलाया गया है कि दैवपुत्र शाही-शाहानुशाही शक-मुरुंडों ने भी अधीनता स्वीकृत कर ली थी, और इस प्रकार उत्तर-पश्चिमी प्रदेश और काश्मीर भी साम्राज्य के अंतर्गत आ गया था। यह वही राज्य था जिसे भागवत और विष्णुपुराण में म्लेच्छ-राज्य कहा गया है। शाहानुशाही ने स्वयं समुद्रगुप्त की सेवा में उपस्थित होकर अधीनता स्वीकृत की थी, क्योंकि इलाहाबादवाले शिला-

लेख में यह बतलाया गया है कि दैवपुत्र वर्ग ने और दूसरे राजाओं ने किस रूप में अधीनता स्वीकृत की थी, और जिस क्रम से अधीनता स्वीकृत करने वालों के नाम गिनाए गए हैं, उससे सिद्ध होता है कि शाहानुशाही ने स्वयं ही समुद्रगुप्त की सेवा में उपस्थित होकर अधीनता स्वीकृत की थी। इस वर्ग में सबसे पहला नाम दैवपुत्र शाही-शाहानुशाही का ही है। इनमें से दैवपुत्र और शाही ये दोनों ही शब्द शाहानुशाही के विशेषण हैं और इन विशेषणों की आवश्यकता कदाचित् यह दिखलाने के लिये हुई होगी कि यह शाहानुशाही कुशन सम्राट् है और वह सासानी सम्राट् नहीं है जो उस समय गुप्त साम्राज्य का बिलकुल पड़ोसी था। अधीनता स्वीकृत करने का पहला प्रकार तो स्वयं सेवा में उपस्थित होना था जिसे "आत्म-निवेदन" कहते थे, और दूसरे प्रकार में दो बातें होती थीं। या तो अविवाहिता स्त्रियाँ सेवा में भेंट स्वरूप भेजी जाती थीं जिसे "उपायन" कहते थे और या अपनी कन्याओं का विवाह उस राजा या सम्राट् के साथ कर दिया जाता था जिसकी अधीनता स्वीकृत की जाती थी और इसे "कन्या-दान" कहते थे। अधीनता स्वीकृत करने का तीसरा प्रकार "याचना" कहलाता था और इसमें दो बातें होती थीं। इस याचना में यह कहा जाता था कि हमें अपने राज्य में गरुड़ध्वजवाले सिक्के प्रचलित करने की आज्ञा दी जाय; अथवा हमें अपने देश में शासन करने का अधिकार दिया जाय। इसे "गरुत्मदंक-स्व-विषय-भुक्ति-शासन-याचना" कहते थे। इसी के दो विभाग थे। एक में तो गरुड़ध्वजवाले सिक्कों (गरुत्मदंक-भुक्ति) का व्यवहार करने की प्रार्थना (शासन-याचना) की जाती थी; और दूसरा रूप यह था कि अपने राज्य के शासन (स्वविषय-भुक्ति) के अधिकार की याचना की जाती थी। पश्चिमी पंजाब

के कुशन अधीनस्थ राजाओं के पालद अथवा शालद और शाक सिक्कों से हमें पता चलता है कि उन राजाओं ने अपने यहाँ गुप्त सिक्के प्रचलित कर दिए थे[1]। वे अपने सिक्कों पर समुद्रगुप्त की मूर्त्ति और नाम अंकित कराते थे; और यह प्रथा चंद्रगुप्त द्वितीय के शासन-काल तक प्रचलित थी; क्योंकि हम देखते हैं कि उस समय तक कुशन राजाओं के सिक्कों पर उसकी मूर्त्ति और नाम अंकित होता था। इन गुप्त राजाओं की पहचान के संबंध में कोई संदेह नहीं हो सकता; क्योंकि उन सिक्कों पर राजाओं की जो मूर्त्तियाँ दी गई हैं, उनमें वे कुंडल पहने हुए हैं; और कुशन राजा लोग कभी कुंडलों का व्यवहार नहीं करते थे। मुद्राशास्त्र के ज्ञाता पहले ही कह चुके हैं कि ये सिक्के गुप्त-सिक्कों से मिलते-जुलते हैं[2]। कन्यादान (दान और उपायन में बहुत बड़ा अंतर है) शब्द का प्रयोग कुशन सम्राट् के लिये ही किया गया है, क्योंकि उन दिनों यह प्रथा थी, बल्कि यों कहना चाहिए कि नियम ही था कि जब कोई बहुत बड़ा प्रतिद्वन्द्वी शासक अपने विजेता के सामने सिर झुकाता था, तब वह उसके साथ अपनी कन्या का विवाह कर देता था।

§ १४४. उस समय सासानी सम्राट् शापुर द्वितीय (सन् ३१०-३७६ ई०) था जो कुशन राजा का स्वामी था। उस समय कुशन लोग अफगानिस्तान से "कुशानी - सासानी" सिक्के ढालकर प्रचलित किया करते थे, जो "शओननो शओ" कहलाते

---

१. वि० उ० रि० सो० का जरनल, खंड १८, पृ० २०८-२०९।
२. उक्त जरनल, खंड १८, पृ० २०८-२०९।

थे[1]। कुशन राजा को सासानी सम्राट् का जो संरक्षण प्राप्त था और उसके साथ उसका जो घनिष्ठ संबंध था, उसके कारण कुशनों के भारतीय प्रदेशों का (जो सिंधुनद के पूर्व में पड़ते थे) । गुप्त सम्राट् द्वारा अपने साम्राज्य में मिला लिए जाने में किसी प्रकार की बाधा नहीं हो सकती थी । काश्मीर, रावलपिंडी और पेशावर तक कुशन अधीनस्थ राजा लोग गुप्त साम्राज्य के सिक्के अपने यहाँ प्रचलित करके भारतीय साम्राज्य में आ मिले थे । कुशन शाहानुशाही ने जो आत्म-निवेदन किया था, उसके कारण समुद्रगुप्त को उस पर आक्रमण करने का विचार छोड़ देना पड़ा था । परंतु शत्रु ऐसी अवस्था में छोड़ दिया गया था कि वह भारी उत्पात खड़ा कर सकता था; क्योंकि आगे चलकर हम देखते हैं कि समुद्रगुप्त की मृत्यु के थोड़े ही दिन बाद शकाधिपति ने विद्रोह खड़ा कर दिया था; और यह विद्रोह संभवतः सासानी सम्राट् शापुर द्वितीय की सहायता से खड़ा किया गया था । समुद्रगुप्त के समय में जो कुशन-राजकुमारी भेंट करने का कलंक कुशनों को अपने सिर लेना पड़ा था, उसका बदला चुकाने के लिये अब गुप्तों से कहा गया था कि तुम ध्रुवदेवी को हमारे सपुर्द कर दो, और इसी के परिणामस्वरूप चंद्रगुप्त द्वितीय को बल्ख तक चढ़ जाने की आवश्यकता हुई थी, जिससे कुशन-राजा और कुशन-शक्ति का

सासानी सम्राट् और कुशनों का अधीनता स्वीकृत करना।

---

१. विंसेंट स्मिथ कृत Catalogue of Coins in the Indian Museum पृ० ६१ ।

सदा के लिये पूरा पूरा नाश हो गया था; और यह बल्ख कुशनों का सबसे दूर का निवास-स्थान और केंद्र था[१]।

प्रजातंत्र और समुद्रगुप्त

§ १४५. मालवों, आर्जुनायनों, यौधेयों, माद्रकों, आभीरों, प्रार्जुनों, सहसानीकों, काकों, खर्परिकों तथा अन्यान्य समाजों के प्रजातंत्रों के संबंध में डा० विंसेंट स्मिथ का यह विचार था कि ये सब प्रजातंत्र समुद्रगुप्त के साम्राज्य की सीमाओं पर थे। परंतु उनका यह मत भ्रमपूर्ण था और ये प्रजातंत्र समुद्रगुप्त के साम्राज्य की सीमाओं पर नहीं थे, क्योंकि पंक्ति २२ (इलाहाबाद-वाले स्तम्भ का शिलालेख) में, जहाँ सीमाओं पर के राजाओं का उल्लेख है, वहाँ स्पष्ट रूप से उक्त प्रजातंत्र इस वर्ग से अलग रखे गए हैं। ये सब साम्राज्य के अंतर्भुक्त राज्य थे और साम्राज्य के सब प्रकार के कर देने और उसकी समस्त आज्ञाओं का पालन करने का वचन देकर ये सब प्रजातंत्र गुप्त-साम्राज्य के अंग बन गए थे और उसके अंदर आ गए थे। अधीनस्थ और करद प्रजातंत्रों के जो नाम गिनाए गए हैं, उनमें उनकी भौगोलिक स्थिति का ध्यान रखा गया है और उसमें भौगोलिक योजना देखने में आती है। गुप्तों के प्रत्यक्ष राज्य-क्षेत्र अर्थात् मथुरा से आरंभ करके मालवों, आर्जुनायनों, यौधेयों और माद्रकों के नाम गिनाए गए हैं। इनमें से पहला राज्य मालव है। नागर या कर्कोट-नागर नामक स्थान, जो आज-कल के जयपुर राज्य में स्थित है, उन दिनों मालवों का केंद्र था और वहीं उनकी राजधानी थी, जहाँ मालवों के हजारों प्रजातंत्र सिक्के पाए गए हैं (देखो §

१. बि० उ० रि० सो० का जरनल, खंड १८, पृ० २६ और उससे आगे।

४२-४३); और उनके संबंध में कहा गया है कि वे सिक्के वहाँ उतनी ही अधिकता से पाए गए थे जितनी अधिकता से "समुद्र-तट पर घोंघे पाए जाते हैं।' भागवत में इन लोगों को अर्बुद-मालव कहा गया है और विष्णुपुराण में उनका स्थान राजपूताने (मरुभूमि) में बतलाया गया है। इस प्रकार यह बात निश्चित है कि वे लोग राजपूताने में आबू पर्वत से लेकर जयपुर तक रहते थे। उस प्रदेश को जो "मारवाड़" कहते हैं, वह जान पड़ता है कि इन्हीं मालवों के निवास-स्थान होने के कारण कहते हैं[1]। इसके दक्षिण में नागों का प्रदेश था और मालवों के सिक्के नाग-सिक्कों से बहुत मिलते-जुलते हैं[2]। इसके ठीक उत्तर में यौधेय लोग थे और उनका विस्तार भरतपुर (जहाँ विजयगढ़ नामक स्थान में समुद्रगुप्त के समय से भी पहले का एक प्रजातंत्री शिलालेख पाया गया है) से लेकर सतलज

---

१. जिसे हम लोग "मारवाड़" कहते हैं, उसे पंजाब में मालवाड़ कहते हैं। राजपूताना में "ड" का भी उच्चारण उसी प्रकार होता है, जिस प्रकार दक्षिणी भारत में होता है। मालव = माडव + वाटक भी मारवाड़ ही होगा। "वाट" शब्द का जो "वार" रूप हो जाता है और जिसका अर्थ "विभाग" होता है, इसके लिये देखो (अब स्व० राय बहादुर) हीरालाल-कृत Inscriptions of C. P., पृ० २४ और ८७ तथा एपि० इं०, खंड ८, पृ० २८५। वाटक और पाटक दोनों ही शब्द भौगोलिक नामों के साथ विभाग के अर्थ में प्रयुक्त होते हैं।

२. देखो रैप्सन-कृत Indian Coins, विभाग ५१ और विं० स्मिथ-कृत Coins of Indian Musuem, पृ० १६२।

नदी के ठेठ निम्न भाग में बहावलपुर राज्य की सीमा तक था जहाँ "जोहियावार" नाम अब तक यौधेयों से अपना संबंध सिद्ध करता है। रुद्रदामन् (सन् १५० ई० के लगभग) के ममय भी यह सबसे बड़ा प्रजातंत्री राज्य था। उस समय यौधेय लोग उसके पड़ोसी थे और निम्न सिंध तक पहुँचे हुए थे। मालव और यौधेय राज्यों के मध्य में आर्जुनायनों का एक छोटा सा राज्य था जिनके ठीक स्थान का तो अभी तक पता नहीं चला है; परंतु फिर भी उनके सिक्कों से सूचित होता है कि वे लोग अलवर और आगरा के पास ही रहते थे। माद्रक लोग यौधेयों के ठीक उत्तर में रहते थे और उनका विस्तार हिमालय के निम्न भाग तक था। झेलम और रावी के बीच का मैदान ही मद्र देश था[1] और कभी कभी व्यास नदी तक का प्रदेश भी मद्र देश के अंतर्गत ही माना जाता था[2]। व्यास और यमुना के मध्यवाले प्रदेश में वाकाटकों के सामंत सिंहपुर के वर्म्मन और नाग राजा नागदत्त के प्रदेश थे। समुद्रगुप्त के शिलालेख में प्रजातंत्रों का जो दूसरा वर्ग है, उसमें आभीर, प्रार्जुन, सहसानीक, काक और खर्परिक लोगों के नाम दिए गए हैं। समुद्रगुप्त से पहले इनमें से कोई प्रजातंत्र अपने स्वतंत्र सिक्के नहीं चलाता था, और इसका सीधा-साधा कारण यही था कि वे मांधाता (माहिष्मती) में रहनेवाले पश्चिमी मालवा के वाकाटक-गवर्नर के और पद्मावती के नागों के अधीन थे। वास्तव में गणपति नाग धारा का अधीश्वर (धाराधीश) कहलाता था। हम यह भी जानते हैं कि सहसानीक और काक लोग भिलसा के आस-पास रहते थे। भिलसा से प्रायः बीस मील

---

१. आरकियालाजिकल सर्वे रिपोर्ट, खं० २, पृ० १४।

२. रायल एशियाटिक सोसाइटी का जरनल, सन् १८९७, पृ० ३०।

की दूरी पर आज-कल जो काकपुर नामक स्थान है, वहीं प्राचीन काल में काक लोग रहते थे[1]। और साँची की पहाड़ी काकनाड कहलाती थी। चंद्रगुप्त द्वितीय के समय एक सहसानीक महाराज ने, जो कदाचित् सहसानीकों का प्रजातंत्री नेता और प्रधान था, उदयगिरि की चट्टानों पर चंद्रगुप्त-मंदिर बनवाया था। आभीरों के संबंध में हमें भागवत से बहुत सहायता मिलती है। भागवत में कहा गया है कि आभीर लोग सौराष्ट्र और आवंत्य शासक (सौराष्ट्रआवन्त्यआभीराः) थे। और विष्णुपुराण में भी कहा गया है कि आभीरों का सौराष्ट्र और अवंती प्रांतों पर अधिकार था। वाकाटक इतिहास से हमें यह भी ज्ञात है कि पश्चिमी मालवा में पुष्यमित्र लोग और दो ऐसे दूसरे प्रजातंत्री लोग रहते थे, जिनके नाम के अंत में "मित्र" शब्द था। ये आभीर प्रजातंत्र थे; और आगे चलकर गुप्त इतिहास में हम देखते हैं कि उनके स्थान पर मैत्रक लोग आ गए थे, जिनमें एकतंत्री शासन प्रचलित था। आभीरों से आरंभ होने वाला और खर्परिकों से समाप्त होने वाला यह वर्ग काठियावाड़ और गुजरात से आरंभ होकर दमोह तक अर्थात् मालवा प्रजातंत्र के नीचे और वाकाटक राज्य के ऊपर एक सीधी रेखा में था। पेरिप्लस के समय में आभीर लोग गुजरात में रहते थे; और डा० विं० स्मिथ ने जो बुंदेलखंड में उनका स्थान निश्चित किया है (रा० ए० सो० का जरनल, १८९७, पृ० ३०) वह किसी तरह ठीक और न्यायसंगत नहीं हो सकता। डा० स्मिथ ने यह निश्चय इसीलिये किया था कि उनके समय में लोगों में यह भ्रमपूर्ण विचार फैला हुआ था कि काठियावाड़ और

---

१. बिहार और उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी का जरनल, खंड १८, पृ० २१३।

गुजरात पर उन दिनों पश्चिमी क्षत्रप राज्य करते थे। परंतु पुराणों से भी और समुद्रगुप्त के शिलालेख से भी यही सिद्ध होता है कि काठियावाड़ अथवा गुजरात में क्षत्रपों का राज्य नहीं था। काठियावाड़ पर से पश्चिमी क्षत्रपों का अधिकार नाग-वाकाटक काल में ही उठा दिया गया था। इस विषय पर पुराणों से बहुत कुछ प्रकाश पड़ता है।

पौराणिक प्रमाण

§ १४६. भागवत में कहा गया है कि सुराष्ट्र और अवंती के आभीर और अरावली के सूर तथा मालव लोग अपना स्वतंत्र प्रजातंत्र रखते थे। उनके शासक "जनाधिपः" कहे गए हैं, जिसका अर्थ होता है—जन या जनता के (अर्थात् प्रजातंत्र) शासक। भागवत में माद्रकों का उल्लेख नहीं है। जान पड़ता है कि आर्यावर्त्त युद्धों के परिणामस्वरूप माद्रक लोग समुद्रगुप्त के साम्राज्य में सम्मिलित हो गए थे, और जब प्रजातंत्रों का अधीश्वर परास्त हो गया था, तब उनमें से सबसे पहले माद्रकों ने ही गुप्त सम्राट् की अधीनता स्वीकृत की थी। भागवत के शूर वही प्रसिद्ध यौधेय हैं। "शूर" शब्द (जिसका अर्थ 'वीर' होता है) "यौधेय" शब्द का ही अनुवाद और समानार्थक है। और यही यौधेय उनकी प्रसिद्ध और लोक-प्रचलित उपाधि या जातिनाम था। इससे दो सौ वर्ष पहले रुद्रदामन् इस बात का उल्लेख कर गया था कि यौधेय लोग क्षत्रियों में अपनी 'वीर' उपाधि से प्रसिद्ध थे[1]। पुराणों के अनुसार यौधेय लोग अच्छे और पुराने क्षत्रिय

---

१. सर्वक्षत्राविष्कृत-वीरशब्दजातोत्सेकअविधेयानाम्। (एपिग्राफिया इंडिका, खंड ८, पृ० ४४) अर्थात् "यौधेय लोग बहुत कठिनता से अधीनता स्वीकार करते थे और समस्त क्षत्रियों में अपनी 'वीर'

थे। मालवों की तरह वे लोग भी पहले पंजाब में रहते थे। यौधेयों और मालवों ने ही सिंध की पश्चिमी सीमा पर भी और इधर मथुरा की तरफ पूर्वी सीमा पर भी कुशन-शक्ति को आगे बढ़ने से रोक रखा था। ये लोग साधारणतः शूर अथवा वीर कहलाते थे। भागवत ने यौधेयों को आभीरों के उपरांत और मालवों से पहले रखा है अर्थात् उन्हें इन दोनों के बीच में स्थान दिया है; और इससे यह सूचित होता है कि वे आभीरों के उत्तर में और मालवों के उत्तर-पश्चिम में अर्थात् राजपूताने के पश्चिमी भाग में रहते थे। विष्णुपुराण में कहा है—"सौराष्ट्र-अवंती-शूरान् अर्बुद-मरुभूमि-विषयांश्च व्रात्या द्विजा आभीरशूद्र (इसे 'शूर' समझना चाहिए) आद्याः भोक्ष्यन्ति।" विष्णुपुराण में अवंती के उपरांत "शूद्र" शब्द आया है; परंतु उसका एक और पाठ "शूर" भी है और इसका समर्थन स्वयं विष्णुपुराण में ही एक और स्थान पर[1] और हरिवंश[2] से भी होता है। हाँ, शौद्रायणों का भी एक प्रजातंत्र था; और यह "शौद्रायण" शब्द निकला तो "शूद्र" शब्द से ही है, परंतु यहाँ "शूद्र" से शूद्रों की जाति का अभिप्राय नहीं है, बल्कि शूद्र नाम का एक व्यक्ति था, जिसने शौद्रायणों का प्रजातंत्र स्थापित किया था[3]। परंतु स्पष्ट रूप से यही जान पड़ता है कि

उपाधि सार्थक करने के कारण उन्हें गर्व था।" (कीलहार्न के अनुवाद के आधार पर)

१. विल्सन द्वारा संपादित विष्णुपुराण, (अँगरेजी) खंड २, पृ० २३३, "शूर आभीराः" मिलाओ हरिवंश, १२.८३७ का शूर आभीराः।

२. देखो विल्सन के विष्णुपुराण खंड २, पृ० १३३ में हाल (Hall) की लिखी हुई टिप्पणी।

३. देखो जायसवाल-कृत हिंदू-राज्यतंत्र, पहला भाग, पृ० २५७।

भागवत और विष्णुपुराण का इस अवसर पर शूरों से ही अभिप्राय है और यह "शूर" शब्द यौधेयों के लिये ही है। भागवत और विष्णुपुराण में प्रार्जुनों, सहसानीकों, काकों और खर्परों का कोई उल्लेख नहीं है। ये सब नाग वर्ग के थे और पूर्वी मालवा में थे।

§ १४६ क. इसके उपरांत म्लेच्छ-राज्य आता है, जो भागवत के अनुसार इसके बाद वाला राज्य है। यह कुशन राज्य था। यहाँ समुद्रगुप्त के शिलालेख के लिये पुराण मानों भाष्य का काम देते हैं। यथा—

सिन्धोस्तटं चन्द्रभागां
कौन्ती काश्मीर मंडलम्
भोक्ष्यन्ति शूद्राश्च आन्त्याद्या (अथवा व्रात्याद्या)
म्लेच्छाश्च आब्रह्मवर्चसः। [Purana Text, पृ० ५५]

अर्थात्—सिंधु के तट पर और चंद्रभागा के तट पर कौंती (कच्छ[1]) और काश्मीर मंडल में वे म्लेच्छ लोग शासन करेंगे जो शूद्रों में सबसे निम्न कोटि के और वैदिक वर्चस्व के विरोधी हैं।

विष्णुपुराण में कहा गया है—"सिंधुतटदार्वीकोर्वीचंद्रभागा-काश्मीर-विषयान् व्रात्यम्लेच्छा-शूद्रायाः" (अथवा म्लेच्छादयः शूद्राः) भोक्ष्यंति।" यहाँ विष्णुपुराण यह सिद्ध करना चाहता है कि सिंधु-चंद्रभागा की तराई (सिंध-सागर दोआब) और दार्वी-कोर्वी (दार्वीक तराई अर्थात् खैबर का दर्रा और उसके पीछे का

---

१. बंगाल एशियाटिक सोसाइटी का जरनल, सन् १८५१, पृ० २३४।

प्रदेश) सब एक साथ ही संबद्ध थे; और इससे यह सूचित होता है कि विष्णुपुराण का कर्त्ता यह बात अच्छी तरह समझता था कि भारतवर्ष की प्राकृतिक सीमाएँ कहाँ तक हैं। चंद्रभागावाली सीमा इस बात से निश्चित सिद्ध होती है कि गुप्त संवत् ८३ में शोरकोट में गुप्त संवत् का इस प्रकार व्यवहार होता था कि केवल उसका वर्ष लिख दिया जाता था[1] और उसके साथ यह बतलाने की भी आवश्यकता नहीं होती थी कि यह किस संवत का वर्ष है; और इससे यह सूचित होता है कि वहाँ यह संवत् कम से कम २५ वर्षों से अर्थात् समुद्रगुप्त के शासन-काल से ही प्रचलित रहा होगा।

§ १४६ ख. म्लेच्छ लोग यहाँ शूद्रों में सबसे निम्न कोटि के कहे गए हैं। यहाँ हम पाठकों को मानव धर्मशास्त्र तथा उन दूसरी स्मृतियों आदि का स्मरण करा देना चाहते हैं जिनमें भारत में रहने वाले शकों को शूद्र कहा गया है। पतंजलि ने सन् १८० ई० पू० के लगभग इस बात का विवेचन किया था कि शक और यवन कौन हैं; और ये शक तथा यवन पतंजलि के समय में राजनीतिक दृष्टि से भारतवर्ष से निकाल दिए गए थे, परंतु फिर भी उनमें से कुछ लोग इस देश में प्रजा के रूप में निवास करते थे। महाभारत में भी इस बात का विवेचन किया गया है कि ये शक तथा इन्हीं के समान जो दूसरे विदेशी लोग, भारतवर्ष में आकर बस गए थे और हिंदू हो गए थे, उनकी क्या स्थिति थी और समाज में

म्लेच्छ शासन का वर्णन

---

१. एपिग्राफिया इंडिका, खंड १६, पृ० १५।

वे किस वर्ण में समझे जाते थे[1]। प्रायः सभी आरंभिक आचार्य एक स्वर से शकों को शूद्र ही कहते हैं और उन्हें द्विज आर्यों के साथ खान-पान करने का अधिकार नहीं था। ये शासक शक लोग अपनी राजनीतिक और सामाजिक नीति के कारण राज-नीतिक विरोधी और शत्रु समझे जाते थे और इसीलिये इन्हें भागवत में शूद्रों में भी निम्नतम कोटि का कहा गया है; और इस प्रकार वे अंत्यजों के समान माने गए हैं। और इसका कारण भी स्वयं भागवत में ही दिया हुआ है। वे लोग सनातन वैदिक रीति-नीति की उपेक्षा तो करते थे ही, पर साथ ही वे सामाजिक अत्याचार भी करते थे। उनकी प्रजा कुशानों की रीति-नीति का पालन करने के लिये प्रोत्साहित अथवा विवश की जाती थी। वे लोग यह चाहते थे कि हमारी प्रजा हमारे ही आचार-शास्त्र का अनुकरण करे और हमारे ही धार्मिक सिद्धांत माने। इस संबंध में कहा गया है—"तन्नाथस्ते जनपदास् तच्छीला चारवादिनः।" राजनीतिक क्षेत्र में वे निरंतर आग्रहपूर्वक वही काम करते थे जो काम न करने के लिये शक क्षत्रप रुद्रदामन् से शपथपूर्वक प्रतिज्ञा कराई गई थी। जब रुद्रदामन् राजा निर्वाचित हुआ था, तब उसने शपथपूर्वक इस बात की प्रतिज्ञा की थी कि हिंदू-धर्म-शास्त्रों में बतलाए हुए करों के अतिरिक्त मैं और कोई कर नहीं लगा-

---

१. इस संबंध में महाभारत में जो कुछ उल्लेख है, उसका विवेचन मैंने अपने "बड़ौदा-लेक्चर" (१९३१) में किया है। महाभारत, शान्तिपर्व ६५, मनुस्मृति १०,४४। पाणिनि पर पतंजलि का महाभाष्य २।४।१०।

ऊँगा[1]। भागवत और विष्णुपुराण में जो वर्णन मिलते हैं, उनके अनुसार म्लेच्छ राजा अपनी ही जाति की रीति-नीति बरतते थे और प्रजा से गैरकानूनी कर वसूल करते थे। यथा—"प्रजास्ते भक्षयिष्यन्ति म्लेच्छा राजन्य-रूपिणः।" वे लोग गौओं की हत्या करते थे (उन दिनों गौएँ पवित्र मानी जाने लगी थीं, जैसा कि वाकाटक और गुप्त-शिलालेखों से प्रमाणित होता है), ब्राह्मणों की हत्या करते थे और दूसरों की स्त्रियाँ तथा धन संपत्ति हरण कर लेते थे (स्त्री-बाल-गोद्विजघ्नाश्च पर-दारा धनाहृताः)। उनका कभी अभिषेक नहीं होता था (अर्थात् हिंदू-धर्म-शास्त्र के अनुसार वे कानून की दृष्टि से कभी राजा ही नहीं होते थे)। उनके राजवंशों के लोग निरंतर एक दूसरे की हत्या करके विद्रोह करते रहते थे ('हत्वा चैव परस्परम्' और 'उदितोदितवंशास्तु उदितास्तमितस्तथा') और उनके संबंध की ये सब बातें ऐसी हैं जिनका पता उनके सिक्कों से मुद्राशास्त्र के आचार्यों को पहले ही लग चुका है। इस प्रकार सारे राष्ट्र में एक पुकार सी मच गई थी और वही पुकार पुराणों में व्यक्त की गई है। इस प्रकार मानों उस समय के गुप्त सम्राटों और हिंदुओं से कहा गया था कि उत्तर-पश्चिमी कोण का यह भीषण नाशक रोग किसी प्रकार समूल नष्ट करो। और इस रोग को दूर करने के ही काम में चंद्रगुप्त द्वितीय को विवश होकर लगना पड़ा था और यह काम उसने बहुत ही सफलतापूर्वक पूरा किया था।

---

१. एपिग्राफिया इंडिका, पृ० ३३-४३ (जूनागढ़वाला शिलालेख पंक्ति ६-१०) सर्व-वर्णैरभिगम्य रक्षणार्थं (म्) पतित्वे वृतेन आप्राणोच्छ्वासात् पुरुषवध-निवृत्ति-कृत सत्य-प्रतिज्ञेन अन्यत्र संग्रामेषु। तत्र पंक्ति १२—यथावत्-प्राप्तैर्बलि शुल्क-भागैः।

§ १४७. यह वर्णन यौन शासन का है और उन यवनों का नहीं है जो इंडो-ग्रीक कहलाते हैं[1]। यह "यौन" शब्द ही आगे चलकर "यवन" हो गया है। ब्रह्मांड पुराण में जहाँ आरंभिक गुप्तों के सम-कालीन राजवंशों और शासकों का वर्णन समाप्त किया है, वहाँ १९९ वें श्लोक के अंतिम चरण में कहा है—

तुल्यकालं भविष्यन्ति सर्वे ह्येते महीक्षितः।

और इसके उपरांत दूसरे श्लोक (सं० २००) में कहा है—

अल्पप्रसादा ह्यनृता महाक्रोधा ह्यधार्मिकाः।
भविष्यन्तीः यवना धर्मतः कामतोऽर्थतः॥

(इस देश में यवन लोग होंगे जो धर्म, काम और अर्थ से प्रेरित होंगे और वे लोग तुच्छ विचार वाले, झूठे, महाक्रोधी और अधार्मिक होंगे।)

बस, इसी श्लोक से उस काल की सब बातों का संक्षिप्त वर्णन आरंभ होता है। मत्स्य पुराण में भी, जिसकी समाप्ति सातवाहनों के अंत में होती है, ठीक वही वर्णन है, यद्यपि सब बातें तीन ही चरणों में समाप्त कर दी गई हैं। यथा—

भविष्यन्तीः यवनाः धर्मतः कामतोऽर्थतः।
तैर्विमिश्रा जनपदा आर्या म्लेच्छाश्च सर्वशः।
विपर्ययेन वर्त्तन्ते क्षयमेष्यन्ति वै प्रजाः[2]।

---

१. मिलाओ बिहार उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी का जरनल, खंड १८, पृ० २०१ में प्रकाशित The Yaunas of the Puranas (पुराणों के यौन) शीर्षक लेख।

२. अध्याय २७२, श्लोक २५-२६।

(इसका आशय यही है कि आर्य जनता म्लेच्छों के साथ मिल जायगी और प्रजा का क्षय होगा।)

भागवत में सिधु-चंद्रभागा-कौंती-काश्मीर के म्लेच्छों के संबंध में यही वर्णन मिलता है और उसमें अध्याय (खंड १२, अध्याय २)[1] के अंत तक वही सब ब्योरे की बातें दी गई हैं जिनका सारांश ऊपर दिया गया है। इस विषय में विष्णुपुराण में भी भागवत का ही अनुकरण किया गया है। इस प्रकार यह सिद्ध हो जाता है कि दूसरे पुराणों में जिन्हें यवन कहा गया है, उन्हीं को विष्णुपुराण और भागवत में म्लेच्छ कहा गया है। ऊपर जिन यवनों के संबंध की बातें कही गई हैं, वे इंडो-ग्रीक यवन नहीं हो सकते, क्योंकि पौराणिक काल-निरूपण के अनुसार भी और वंशावलियों के विवरण के अनुसार भी इंडो-ग्रीक यवन इससे बहुत पहले आकर चले गए थे। यहाँ जिन यवनों का वर्णन है, वे वही यौन अर्थात् यौवा या यौवन् शासक हैं जिनके संबंध में ऊपर सिद्ध किया जा चुका है कि वे कुशन थे[2]। यौव अथवा यौवा उन दिनों कुशनों की राजकीय उपाधि थी और

१. इसके बाद के अध्याय में यह वर्णन आया है कि कल्कि म्लेच्छों के हाथ से देश का उद्धार करेगा। और इस संबंध में मैंने यह निश्चय किया है कि यहाँ कल्कि से उस विष्णु यशोधर्मन् का अभिप्राय है जिसने हूणों का पूरी तरह से नाश किया था। परंतु महाभारत और ब्रह्मांड पुराण में इस कल्कि का जो वर्णन आया है, वह ब्राह्मण सम्राट् वाकाटक प्रवरसेन प्रथम के वर्णन से मिलता है। [साथ ही देखो ऊपर पृ० ९८ की पाद-टिप्पणी]

२. बिहार उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी का जरनल, खंड १६, पृ० २८७ और खंड १७, पृ० २०१।

पुराणों में कुशनों को तुखार-मुरुंड और शक कहा गया है। भागवत में कुछ ही दूर आगे चलकर (१२, ३, १४) स्वयं "यौन" शब्द का भी प्रयोग किया है।

§ १४८. सिंध-अफगानिस्तान-काश्मीर वाले म्लेच्छों के अधिकार में करीब चार प्रांत थे जिनमें कच्छ भी सम्मिलित था। यह हो सकता है कि म्लेच्छों के कुछ अधीनस्थ शासक ऐसे भी हों जो म्लेच्छ न रहे हों, जैसा कि भागवत में कहा गया है कि प्रायः म्लेच्छ ही गवर्नर या भूभृत् थे (म्लेच्छप्रायाश्च भूभृतः)। कौंती या कच्छ उन दिनों सिंध में ही सम्मिलित था, क्योंकि विष्णुपुराण में उसका अलग उल्लेख नहीं है। कच्छ-सिंध उन दिनों पश्चिमी क्षत्रपों के अधिकार में था, जिनके सिक्के हमें उस समय के प्रायः तीस वर्ष बाद तक मिलते हैं, जब कि कुशनों ने अधीनता स्वीकृत की थी; और कुशनों के अधीनता स्वीकृत करने का समय हम सन् ३५० ई० के लगभग रख सकते हैं।

म्लेच्छ राज्य के प्रांत

§ १४९. इस प्रकार पुराणों में हमें भारशिव-नाग-वाकाटक-काल और आरंभिक गुप्त काल का विश्वसनीय और बिलकुल ठीक ठीक वर्णन मिल जाता है। वाकाटक-काल और समुद्रगुप्त के काल का उनमें पूरा-पूरा वर्णन है। राजतरंगिणी में तो अवश्य ही कर्कोट राजवंश (ई० सातवीं शताब्दी) का पूरा और ब्योरेवार वर्णन दिया गया है; परंतु उससे पहले के हिंदू इतिहास के किसी काल का उतना पूरा और ब्योरेवार वर्णन हमें अपने साहित्य में और कहीं नहीं मिलता, जितना उक्त कालों का पुराणों में मिलता है।

पौराणिक उल्लेखों का मत

द्वीपस्थ भारत

§ १४६ क. भारशिव-वाकाटक-काल में द्वीपस्थ भारत भी भारतवर्ष का एक अंश ही माना जता था। उसकी यह मान्यता हमें सबसे पहले मत्स्यपुराण में मिलती है[1]। यों तो हिमालय या हिमवत पर्वत और समुद्र के बीच में ही भारतवर्ष है, परंतु वास्तव में भारतवर्ष का विस्तार इससे बहुत अधिक था, क्योंकि भारतवासी (भारती प्रजा) आठ

द्वीपस्थ भारत और उसकी मान्यता

---

१. मत्स्य पुराण, अध्याय ११३, श्लोक १–१४ (साथ ही मिलाओ वायुपुराण १, अध्याय ४५, श्लोक ६६-८६)।

यदिदं भारतं वर्षं यस्मिन् स्वायम्भुवादयः।
चतुर्दशैव मनवः (१)
अथाहं वर्णयिष्यामि वर्षेऽस्मिन् भारते प्रजाः (५)
न खल्वन्यत्र मर्त्यानां भूमौ कर्मविधिः स्मृतः।
उत्तरं यत्समुद्रस्य हिमवद्दक्षिणं च यत्।
वर्षं यद्भारतं नाम यत्रेयं भारती प्रजा ॥ (वायु० ७५)
भारतस्यास्य वर्षस्य नवभेदान्निबोधत ॥ (७)
समुद्रांतरिता ज्ञेयास्ते त्वगम्याः परस्परम् (वायु० ७८)
इंद्रद्वीपः कसेरुश्च ताम्रपर्णो गभस्तिमान्।
नागद्वीपस्तथा सौम्यो गन्धर्वस्त्वथ वारुणः ॥ (८)
अयं तु नवमस्तेषां द्वीपः सागरसंवृतः। (६)

इसके उपरांत भारतवर्ष के नवें द्वीप या विभाग का वर्णन आरम्भ होता है जिसमें समस्त वर्त्तमान भारत आ जाता है और जिसे यहाँ मानवद्वीप कहा गया है।

और द्वीपों में भी बसते थे। और इन द्वीपों के सम्बन्ध में कहा गया है कि बीच में समुद्र पड़ने के कारण इनमें जल्दी परस्पर आवागमन नहीं हो सकता था। इन द्वीपोंवाली योजना में भारतवर्ष नवाँ है। स्पष्ट रूप से इसका आशय यही है कि ये आठों द्वीप अथवा प्रायद्वीप, जिनमें भारतवासी रहते थे, भारतीय प्रायद्वीप की एक ही दिशा में थे। इस दिशा का पता ताम्रपर्णी की स्थिति से लगता है जो आठ हिंदू-द्वीपों में से एक थी। ये सभी द्वीप पूर्व की ओर थे, अर्थात् ये सब वही द्वीप हैं जिन्हें आज-कल दूरस्थ भारत (Further India.) कहते हैं। द्वीपों की इस सूची में सबसे पहले इंद्रद्वीप का नाम आया है जिसके संबंध में संतोषजनक रूप से यह निश्चित हो चुका है कि वह आज-कल का बरमा ही है[1]। उन दिनों भारतवासियों को मलाया प्रायद्वीप का बहुत अच्छी तरह ज्ञान था; और इस बात का प्रमाण ई० चौथी शताब्दी के एक ऐसे शिलालेख से मिल चुका है (जो आज-कल के वेलेस्ली (Wellesly) जिले में एक स्तंभ पर उत्कीर्ण हुआ था। यह शिलालेख एक हिंदू महानाविक ने, जिसका नाम बुधगुप्त था और जो पूर्वी भारत का रहनेवाला था,[2] उत्कीर्ण

---

१. देखो बि० उ० रि० सो० के जरनल (मार्च, १६२२) में एस० एन० मजुमदार का लेख जो अब उन्होंने कनिंघम के Ancient Geography of India १६२४ के पृ० ७४६ में फिर से छाप दिया है। उन्होंने जो कसेरुमत् को मलाया प्रायद्वीप बतलाया है, वह युक्तिसंगत है। पर हाँ, और द्वीपों के संबंध में उन्होंने जो कुछ निश्चय किया है, वह बिलकुल ठीक नहीं है।

२. उक्त ग्रंथ, पृ० ७५२ जिसमें कर्न (Kern) V, G खंड ३ (१६१५) पृ० २५५ का उद्धरण दिया गया है।

कराया था; और इंद्रद्वीप के उपरांत जिस कसेरु अथवा कसेरुमत द्वीप का उल्लेख है, बहुत संभव है कि यह वही द्वीप हो, जिसे आज-कल स्टेट्स सेटिलमेंटस (Straits Settlements) कहते हैं। इसके आगे दूसरे विभाग में ताम्रपर्णी (आधुनिक लंका या सीलोन का पुराना नाम) से नामावली आरंभ की गई है और उसमें इन द्वीपों के नाम हैं—ताम्रपर्ण, गभस्तिमान्, नागद्वीप, सौम्य, गांधर्व और वरुण द्वीप। नागद्वीप आज-कल का नोकोबार है[1]। कंबोडिया के शिलालेखों से हमें पता चलता है कि कंबोडिया (इंडो-चाइना) पर पहले नागों का अधिकार था, जिन्हें भारतवर्ष के सनातनी हिंदू-कौडिन्य के वंशधरों ने अधिकार-च्युत करके वहाँ अपना राज्य स्थापित किया था[2]। हम यह मान सकते हैं कि इन उपनिवेशों में हिंदुओं के जाकर बसने से पहले जो लोग रहा करते थे उन्हीं का जातीय नाम "नाग" था। गभस्तिमान् (सूर्य का द्वीप), सौम्य, गांधर्व और वरुण वही द्वीप हैं जो आज-कल द्वीपपुंज (Archipelago) कहलाते हैं और जिनमें सुमात्रा, बोरनियो आदि द्वीप हैं; और इनमें से सुमात्रा और जावा में ईसवी चौथी शताब्दी से पहले भी अवश्य ही भारतवासी जाकर बसे हुए थे। यह बात निश्चित है कि पुराणों के कर्त्ताओं को ईसवी तीसरी और चौथी शताब्दियों में इस बात का पूरा-पूरा ज्ञान था कि भारत के पूर्वी द्वीपों में हिंदुओं के उपनिवेश हैं और

---

१. गेरिनी (Gerini) द्वारा संपादित Ptolemys Geography पृ० ३७६-३८३.

२. डा० आर० सी० मजुमदार-कृत Champa नामक ग्रंथ २. १८, २३.

वे उन सब उपनिवेशों को भारतवर्ष के अंग ही मानते थे[१]। उन दिनों लोग भारतवर्ष का यही अर्थ मानते थे कि इसमें भारत के साथ-साथ वे द्वीप भी सम्मिलित हैं जिनमें भारतवासी जाकर बस गए हैं और इन्हीं में आज-कल का सीलोन या लंका भी सम्मिलित था। भारत के अतिरिक्त इन सबके आठ विभाग थे और इन्हीं नौ देशों को मिलाकर नवद्वीप कहते हैं।

समुद्रगुप्त और द्वीपस्थ भारत

§ १५०. इलाहाबादवाले शिलालेख की २३ वीं पंक्ति में शाहानुशाही तथा दूसरे राजाओं का जो वर्ग है और जिसे हम आज-कल के शब्दों में "प्रभाव-क्षेत्र के राज्यों का वर्ग" कह सकते हैं, उसके संबंध में लिखा है—"सैंहलक आदिभिस्च सर्वद्वीप-वासिभिः"। (अर्थात् सिहल का राजा और समस्त द्वीप-वासियों का राजा) और इन सब राजाओं के विषय में लिखा है कि उन्होंने अधीनता स्वीकृत कर ली थी और समुद्रगुप्त को अपना सम्राट् मान लिया था। उन राजाओं ने कोई कर तो नहीं दिया था, परंतु वे अपने साथ बहुत कुछ भेंट या उपहार लाए थे और उन्होंने स्पष्ट रूप से उसका प्रभुत्व स्वीकृत कर लिया था। समुद्रगुप्त ने इसका वर्णन इस प्रकार किया है कि मैंने अपनी दोनों भुजाओं मे सारी पृथ्वी को इकट्ठा करके ले लिया है। इसलिये हम कह सकते हैं कि जिसे उसने भारतवर्ष या पृथ्वी कहा है, उसमें द्वीपस्थ भारत भी सम्मिलित

---

१. वायुपुराण को देखने से जान पड़ता है कि उसके कर्त्ता को द्वीपपुंज का विस्तृत ज्ञान था; और ४८ वें अध्याय में उनके वे नाम दिए गए हैं जो गुप्त-काल में प्रचलित थे। यथा—अंग, (चंपा), मलय य (व) आदि।

था। यहाँ जो "समस्त द्वीप" कहा गया है, उससे भारतवर्ष के अथवा भारती प्रजा के समस्त उपनिवेशों से अभिप्राय है (देखो § १४६ क)। डा० विंसेंट स्मिथ का विचार है कि लंका के राजा मेघवर्ण का राजदूत समुद्रगुप्त की सेवा में बोध-गया में सिंहली यात्रियों के लिये एक बौद्ध-मठ या बिहार बनवाने की अनुमति प्राप्त करने के लिये आया था; और समुद्रगुप्त ने अपने शिलालेख में इसी बात की ओर संकेत करते हुए यह कहा है कि उसने भी उपहार भेजा था[1]। परंतु ये दोनों बातें एक दूसरी से बिलकुल स्वतंत्र जान पड़ती हैं। शिलालेख में केवल लंका या सिंहल के ही राजा का उल्लेख नहीं है, बल्कि समस्त द्वीपों के शासकों का उल्लेख है। यह बात प्रायः सभी लोग अच्छी तरह जानते हैं कि और भी ऐसे कई भारतीय उपनिवेश थे जिनके साथ भारतवर्ष का आवागमन का संबंध था। चंपा (कंबोडिया) में ईसवी तीसरी शताब्दी का एक ऐसा संस्कृत शिलालेख मिला है जो श्रीमार कौंडिन्य के वंश के किसी राजा का है[2] और जिसमें लोक-प्रिय वसंततिलका छंद अपने पूर्व रूप में है और उसकी भाषा तथा शैली वाकाटक तथा गुप्त-अभिलेखों की सी है। चंपा के उक्त शिलालेख से यह प्रमाणित हो जाता है कि भारतीय उपनिवेशों का भार-शिव और वाकाटक भारत के साथ संबंध

---

१. Early History of India, पृ० ३०४-३०५।

२. डा० आर० सी० मजुमदार-कृत Champa (चंपा) नामक ग्रंथ का अभिलेख, सं० १। साथ ही मिलाओ रायल एशियाटिक सोसाइटी का जरनल, १६१२, पृ० ६७७ जिसमें बतलाया गया है कि चीनी यात्री फान-ये (मृत्यु सन् ४४५ ई०) ने लिखा था कि (गुप्त) भारत का विस्तार काबुल से बरमा या अनाम तक है।

था; और जिस प्रकार उन दिनों भारतवर्ष में संस्कृत का पुनरुद्धार हुआ था, उसी प्रकार उन द्वीपों में भी हुआ था। ईसवी दूसरी शताब्दी के जितने राजकीय अभिलेख आदि उत्तर भारत में भी और दक्षिण भारत में भी पाए गए हैं वे सभी प्राकृत में हैं[१]। जिस भद्रवर्म्मन् ने (जिसे चीनी लोग फान-हाउ-ता कहते थे) चीनी सैनिकों को परास्त किया था (सन् ३८०-४१० ई०) वह चंद्रगुप्त द्वितीय का समकालीन था। उसका पिता, जो समुद्रगुप्त का समकालीन था, उस समय चीनी सम्राट् के साथ लड़ रहा था और उसने भारतीय सम्राट् के साथ संबंध स्थापित करना बहुत खुशी के साथ मंजूर किया होगा। भद्रवर्म्मन् का पुत्र गंगराज गंगा-तट पर कालयापन करने के लिये भारत चला आया था और तब यहाँ से लौटकर फिर चंपा गया था और वहाँ उसने शासन किया था[२]। इस बात का भी उल्लेख मिलता है कि सन् २४५ ई० से ही फूनन (Funan) के हिंदू राजा का भारतवर्ष के साथ संबंध था। हिंदू उपनिवेशों पर समुद्रगुप्त के समय की इतनी अधिक छाप मिलती है कि इलाहाबादवाले शिलालेख पर हमें आवश्यक रूप से गंभीरतापूर्वक विचार करना पड़ता है और उतनी ही गंभीरता के साथ विचार करना पड़ता है, जितनी गंभीरता के साथ हम उसमें दिए हुए भारतीय विषयों का विचार करते हैं। समुद्रगुप्त का शासन-काल वही था, जिस काल में फुनन में राजा

---

१. इसका एकमात्र अपवाद उस रुद्रदामन् का जूनागढ़वाला शिलालेख है जो स्वयं संस्कृत का बहुत बड़ा विद्वान् था और जो निर्वाचन के द्वारा राज-पद प्राप्त करने के कारण सनातनी हिंदू राजा बनने का प्रयत्न करता था।

२. Champa (चंपा नामक ग्रंथ), पृ० २५-२६।

श्रुतवर्म्मन राज्य करता था और जब कि वहाँ हिंदुओं के ढंग पर एक नई सामाजिक व्यवस्था स्थापित हुई थी[1]। लगभग उसी समय हम यह भी देखते हैं कि पश्चिमी जावा के हिंदू उपनिवेश में एक शिलालेख संस्कृत में लिखा गया था जो ईसवी चौथी या पाँचवीं शताब्दी की लिपि में था। फा-हियान जिस समय सुमात्रा में पहुँचा था, उस समय से ठीक पहले वहाँ सनातनी हिंदू संस्कृति का इतना अधिक प्रचार हो चुका था कि उसने लिखा था—"ब्राह्मण या आर्य-धर्म के अनेक रूप खूब अच्छी तरह प्रचलित हैं और बौद्ध धर्म इतना कम हो गया है कि उसके संबंध में कुछ कहा ही नहीं जा सकता (फा-हियान, पृ० ११३)। फा-हियान ने इस बात की भी साक्षी दी है कि ताम्रलिप्ति, जैसा कि हम ऊपर बतला चुके हैं, समुद्रगुप्त के समय में उसके राज्य में मिला ली गई थी और गुप्तों का एक बंदरगाह बन गई थी, और भारतवर्ष तथा लंका के मध्य अधिकांश आवागमन उसी बंदरगाह से होता था। ताम्रलिप्ति के लिये फाहियान को चंपा (भागलपुर) से जाना पड़ा था, जहाँ उन दिनों राजधानी थी; और इस बात का पूरा-पूरा समर्थन पुराणों के उस कथन से भी होता है जो चंपा-ताम्रलिप्ति के प्रांत के गुप्त-कालीन संघटन के संबंध में है। फाहियान ने देखा था कि एक बहुत बड़ा व्यापारी जहाज लंका के लिये रवाना हो रहा है। इस

---

१. कुमारस्वामी-कृत History of Indian and Indonesian Art, पृ० १८१ [देखो उसमें उद्धृत की हुई प्रामाणिक लोगों की उक्तियाँ] और Indian Historical Quarterly (इंडियन हिस्टारिकल क्वारटरली) १९२५, खंड १, पृ० ६१९ में फिनोट (Finot) का लेख।

लंका को उसने सिंहल कहा है (और समुद्रगुप्त ने भी उसे अपने शिलालेख में सिंहल ही कहा है) और ताम्रलिप्ति जाने के लिये वह भी उसी जहाज पर सवार हुआ था। भारत और लंका का संबंध इतना सहज और नित्य का था कि सैंहलक राजा को विवश होकर समुद्रगुप्त को सम्राट् मानना पड़ा था। द्वीपस्थ भारत के लिये भी उत्तरी भारत में ताम्रलिप्ति एक खास बंदरगाप था। ताम्रलिप्ति को जो चंपा के प्रांत में मिला लिया गया था, उसका उद्देश्य यही था कि द्वीपस्थ भारत के उपनिवेशों के साथ घनिष्ठ संबंध स्थापित हो जाय और समुद्री व्यापार पर नियंत्रण हो जाय[1]। यह बहुत सोच-समझकर ग्रहण की हुई नीति थी। योंही संयोग-वश लंका तथा दूसरे द्वीपों से जो लोग भारत में आ जाया करते थे, शिलालेख में उनका कोई स्पष्ट और अनिर्दिष्ट उल्लेख नहीं है, बल्कि साम्राज्य-विस्तार की जो नीति जान-बूझकर ग्रहण की गई थी, उसी के परिणामों का उसमें उल्लेख है।

§ १५१. कला संबंधी साक्षी से यह बात और भी अधिक प्रमाणित हो जाती है कि गुप्तों का भारतीय उपनिवेशों के साथ संबंध था। कंबोडिया में अनेक ऐसी मूर्तियाँ मिली हैं जो ईसवी चौथी शताब्दी की हैं और जिन पर वाकाटक-गुप्त-कला की छाप दिखाई देती है और गुप्त शैली के कुछ मंदिर भी वहाँ पाए गए हैं[2]। इसी प्रकार यह भी पता चलता है कि बरमा में गुप्त लिपि

---

१. इस देश में कदाचित् दक्षिणी भारत से उतना अधिक सोना नहीं आया था, जितना द्वीपस्थ भारत से आया था। द्वीपस्थ भारत में बहुत अधिक सोना उत्पन्न होता था।

२. कुमारस्वामी, पृ० १५७, १८२, १८३।

का प्रचार हुआ था और बरमावालों ने उसे ग्रहण भी कर लिया या और वहाँ गुप्त शैली की बनी हुई मिट्टी की बहुत-सी मूर्तियाँ भी पाई गई हैं[१]। इंडोनेशिया की परवर्ती शताब्दियों की कला के इतिहास का गुप्त कला के साथ इतना ओत-प्रोत और घनिष्ठ संबंध है कि उससे यह बात पूर्ण रूप से प्रमाणित हो जाती है कि वहाँ गुप्तों का प्रभाव समुद्रगुप्त के समय से ही पड़ने लगा था। समुद्रगुप्त ने यदि राजनीतिक क्षेत्र में नहीं तो कम से कम सांस्कृतिक क्षेत्र में तो अवश्य अपनी दोनों भुजाओं के साथ एक में मिला रखा था[२]।

§ १५१ क. समुद्रगुप्त ने सभी दृष्टियों से साम्राज्यवाद के

---

१. कुमारस्वामी, पृ० १६९। विंसेंट स्मिथ ने अपनी Early History of India (चौथा संस्करण) पृ० २६७, पाद-टिप्पणी में कहा है कि बरमा में गुप्त-संवत् का भी प्रचार हुआ था। बरमा के पुरातत्व-विभाग के सुपरिंटेंडेंट मि० उम्या से मुझे मालूम हुआ है कि बरमा में गुप्त-संवत् का कोई उल्लेख नहीं मिलता। परंतु देखो फुहरर का जून १८९४ का A. P. R. प्यू (Pyu) के शिलालेखों से पता चलता है कि बरमी उच्चारणों के लिये गुप्त-लिपि को स्वीकार किया गया था; और इस संबंध के अक्षरों के रूपों के लिये देखो एपिग्राफिया इंडिका, खंड १२, पृ० १२७।

२. बाहुवीर्यप्रसरधरणीबंधस्य। इलाहाबादवाले शिलालेख की २४वीं पंक्ति, Gupta Inscriptons, पृ० ८।

हिंदू आदर्श की सिद्धि की थी[१]। महाभारत के अनुसार सिंहल (लंका) और हिंदू द्वीप अथवा उपनिवेश हिंदू सम्राट् के भारतीय साम्राज्य के अंतर्भुक्त अंग थे[२]। उस आदर्श के अनुसार अफगानिस्तान समेत[३] सारा भारत उस साम्राज्य के अंतर्गत होना चाहिए। परन्तु साम्राज्य का विस्तार अफगानिस्तान से और अधिक पश्चिम की ओर नहीं होना चाहिए और न उसके अफगानिस्तान के उस पार के देशों की स्वतंत्रता का हरण होना चाहिए। हिंदू भारत में परंपरा से सार्वराष्ट्रीय विषयों से संबंध रखनेवाली जो शुभ नीति चली आई थी, उसकी प्रशंसा यूनानी लेखकों ने भी और अरब के सुलेमान सौदागर ने भी की है[४]। मनुस्मृति में पश्चिमी भारत की जो सीमा निर्धारित की गई है, उसी सीमा तक समुद्रगुप्त ने अपने साम्राज्य का विस्तार किया था और उससे आगे वह कभी नहीं बढ़ा था। उस समय के सासानी राजा को रोमन सम्राट् बहुत तंग कर रहा था और

हिंदू आदर्श

---

१. महाभारत, सभापर्व, १४, ६-१२ और ७३, २०।

२. उक्त ग्रंथ और पर्व; ३१, ७३-७४, (साथ ही देखो दक्षिणी पाठ ३४)।

३. महाभारत, सभापर्व, २७, २५, जिसमें उस सीस्तान की सीमाएँ भी निर्धारित हैं जिसमें परम काम्बोज जाति के लोग और उन्हीं से मिलते-जुलते उत्तरी ऋषिक (आर्शी लोग) आदि फिरके बसते थे। ऋषिक और आर्शी के संबंध में देखो जयचंद्र विद्यालंकार-कृत "भारतभूमि" नामक ग्रंथ के पृष्ठ ३१३-३१५ और बिहार तथा उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी का जनरल, खंड १८, पृ० ६७।

४. Hindu Polity, दूसरा भाग, पृ० १९०-१९१.

इसी लिये सासानी राजा बहुत दुर्बल हो गया था। यदि समुद्रगुप्त चाहता तो सहज में सासानी राजा के राज्य पर आक्रमण कर सकता था और संभवतः उसका राज्य अपने साम्राज्य में मिला सकता था, क्योंकि युद्ध की कला में उन दिनों उसका सामना करनेवाला कोई नहीं था। परंतु समुद्रगुप्त के लिये पहले से ही धर्म-शास्त्र (जिसका शब्दार्थ होता है— सभ्यता का शासन) बना हुआ मौजूद था और वह धर्म-शास्त्र के नियमों का उल्लंघन नहीं कर सकता था। उसने उसी धर्म का पालन किया था। उस धर्म ने पहले से ही हिंदू राजा के सार्वराष्ट्रीय कार्यों को भी और साम्राज्य संबंधी कार्यों को भी निर्धारित और सीमित कर रखा था। समुद्रगुप्त की विजयों के इतिहास से यह सूचित होता है कि उसके सब कार्य उसी शास्त्र से भली भाँति नियंत्रित होते थे और वह कभी स्वेच्छाचारी सेनापति नहीं बना था—उसने अपनी सैनिक शक्ति के मद से मत्त होकर कभी मर्यादा का उल्लंघन नहीं किया था।

———

चौथा भाग

दक्षिणी भारत [सन् १५०–३५० ई०]

और

उत्तर तथा दक्षिण का एकीकरण

गायन्ति देवाः किल गीतकानि
धन्यास्तु ये भारतभूमिभागे।
स्वर्गापवर्गास्पदमार्गभूते
भवन्ति भूयः पुरुषाः सुरत्वात्॥

[भारत-गीत]
विष्णुपुराण २, ३, २४।

सम्यक्-प्रजापालनमात्राधिगतराजप्रयोजनस्य।

[अर्थात्—वह सम्राट्, जिसका राज्य ग्रहण करने का प्रयोजन केवल यही है कि प्रजा का सम्यक् रूप से पालन हो।

— दक्षिणी भारत के गंग वंश के शिला-लेख]

१५. आंध्र (सातवाहन) साम्राज्य के अधीनस्थ सदस्य या सामंत

§ १५२. यहाँ सुभीते की बात यह होगी कि हम दक्षिणी इतिहास का भी कुछ सिंहावलोकन कर लें जिससे हमें यह पता

चल जाय कि उत्तरी भारत पर उसका क्या प्रभाव पड़ा था और दक्षिण तथा उत्तर में किस प्रकार का संबंध था; और तब इस बात का विचार करें कि गुप्तों के साम्राज्य-वाद पर उसका क्या प्रभाव पड़ा था।

साम्राज्य-युगों की पौराणिक योजना

आंध्रों के समय से लेकर उसके आगे के इतिहास का वर्णन करते समय पुराण बराबर यह बतलाते चलते हैं कि साम्राज्य के अधिकार के अधीन कौन-कौन से शासक राजवंश थे। इस प्रकार का उल्लेख उन्होंने तीन राजवंशों के संबंध में किया है—आंध्र (सातवाहन), विंध्यक (वाकाटक) और गुप्त-राजवंश। यहाँ यह बात देखने में आती है कि जब साम्राज्य का केंद्र मगध से हटकर दूसरे स्थान पर चला जाता है अथवा जब साम्राज्य का अधिकार कारवायनों के हाथ से निकलकर सातवाहनों के हाथ में चला जाता है तब पुराण उन साम्राज्य-भोगी राजकुलों का वर्णन उनके मूल निवास-स्थान से आरंभ करते हैं, उनकी राजवंशिक उपाधियों से नहीं करते हैं। पुराणों में सातवाहनों को आंध्र कहा गया है, जिसका अर्थ यह है कि वे आंध्र देश के रहनेवाले थे। इसी प्रकार वाकाटकों को उन्होंने विंध्यक कहा है, अर्थात् वे विंध्य देश के रहनेवाले थे, और पुराण जब फिर मगध के वर्णन की ओर आते हैं, तब वे फिर गुप्तों का वर्णन उनकी राजवंशिक उपाधि से करते हैं। अब हम यह देखना चाहते हैं कि आंध्रों के साम्राज्य-संघटन के विषय में पुराणों में क्या कहा गया है, क्योंकि वाकाटकों और गुप्तों से संबंध रखने वाले पौराणिक उल्लेखों का विवेचन हम पहले कर ही चुके हैं।

§ १५३. वायुपुराण और ब्रह्मांडपुराण में कहा गया है कि

आंध्रों की अधीनता में पाँच सम-कालीन वंशों की स्थापना हुई थी। यथा—

वायु०—आंध्राणाम् संस्थिताः पंच तेषां वंशाः समाः पुनः।
—वायु० ३७, ३५२[१]।

ब्रह्मांड०—आंध्राणाम् संस्थिताः पंच तेषां वंश्याः ये पुनः।
—ब्रह्मांड० ७४, ७१[२]।

इसके विपरीत मत्स्यपुराण, भागवत और विष्णुपुराण में पाँच की संख्या नहीं दी गई है, बल्कि इस प्रकार के तीन राजवंशों का वर्णन आया है। वायुपुराण और ब्रह्मांडपुराण में दो राजवंशों के नाम भी दिए हुए हैं; और ये वही दोनों नाम हैं जो मत्स्यपुराण और भागवत में भी आए हैं, अर्थात् उनमें नामशः आभीरों और अधीनस्थ आंध्रों का उल्लेख है; परंतु उनका आशय तीन राजवंशों से है, क्योंकि उनमें कहा गया है कि आंध्र के अंतर्गत हम दो राजवंशों के वर्ष दे रहे हैं। वायुपुराण और ब्रह्मांडपुराण में जो पाँच राजवंशों की गिनती गिनाई गई है, उससे अनुमान होता है कि कदाचित् उन्होंने अपनी सूची में मुंडानंदों और महारथी-वंश (मैसूर के कल्याण महारथी का वंश) भी उसमें सम्मिलित कर लिया है, जिनका पता उनके सिक्कों से चलता है[३]। परंतु इन दोनों राजवंशों का कुछ पहले ही अंत हो चुका था, इसलिये दूसरे पुराणों में केवल तीन राजवंशों का उल्लेख किया गया था। पुराणों में उन्हीं राजवंशों के वर्ष तथा क्रम दिए गए हैं जो अगले

---

१. Bibliotheca Indica, खंड २, पृ० ४५३.

२. बंबई का वेंकटेश्वरवाला संस्करण, पृ० १८६.

३. रैप्सन-कृत C. A. D. पृ० ५७-६०, (संशोधन, पृ० २१२ में।)

पौराणिक युग अर्थात् वाकाटकों (विंध्यकों) के समय तक चले आ रहे थे। इस संबंध में उनके मूल पाठ इस प्रकार हैं—

मत्स्य०—आंध्राणाम् संस्थिता राज्ये तेषां भृत्यान्वये नृपाः।
सप्तैव आंध्रा भविष्यन्ति=दश आभीरस्तथा नृपाः।
(२७१, १७-१८)[1]

भाग०—सप्त = आभीर = आंध्रभृत्याः।

विष्णु०—आंध्रभृत्याः सप्त = आभीराः[2] (जहाँ विष्णुपुराण ने भागवत का कुछ अंश उद्धृत करते समय पढ़ने में कुछ भूल की है और आंध्रभृत्याः को सप्त आभीराः का विशेषण माना है।)

इस प्रकार यह बात स्पष्ट ही है कि मत्स्यपुराण और भागवत में राजवंशों की संख्या नहीं दी गई है। उनमें यही कहा गया है कि आंध्रों के अधीन आभीरों और अधीनस्थ आंध्रों के राजवंश थे (यहाँ यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि साम्राज्य-भोगी आंध्रों से अधीनस्थ आंध्र अलग थे) और इन राजवंशों की स्थापना आंध्रों ने की थी। मि० पारजिटर ने इन दोनों भिन्न भिन्न बातों को इस प्रकार मिलाकर एक कर दिया है, मानों वे दोनों एक ही हों और उनका एक ही अर्थ हो; और तब एक ऐसा नया पाठ प्रस्तुत कर दिया है जो यहाँ सबसे ज्यादा गड़बड़ी पैदा करता है। इन दोनों राजवंशों के अतिरिक्त मत्स्यपुराण में एक और राजवंश का उल्लेख किया है, जिसका नाम उसमें श्रीपार्वतीय दिया है।

---

१. जे० विद्यासागर का संस्करण, पृ० ११६०.

२. जे० विद्यासागर का संस्करण, पृ० ५८४, ४, १४, १३.

परंतु इस वंश का उल्लेख केवल उसी में मिलता है, और किसी स्थान पर नहीं मिलता। मत्स्यपुराण में यह भी कहा गया है कि ये सब वंश अधीनस्थ या सामंत आंध्रों के समकालीन थे; और इसलिये यह जान पड़ता है कि वे भी सातवाहनों के ही स्थापित किए हुए थे; परंतु आंध्रों के समय में कदाचित् उनका उतना अधिक महत्त्व नहीं था, जितना बाकी दोनों राजवंशों का था। अब हम इन तीनों राजवंशों के इतिहास का विवेचन करते हैं।

अधनस्थ आंध्र और श्री-पार्वतीय

§ १५४. आंध्र वही हैं जिन्हें विष्णुपुराण में आंध्र-भृत्यु कहा गया है, अर्थात् वे अधीनस्थ आंध्र हैं। मत्स्यपुराण, वायुपुराण और ब्रह्मांडपुराण में सबसे पहले उन्हीं का विवेचन हुआ है। इस वंश में सात पीढ़ियाँ हुई थीं। इस विषय में भागवत भी उक्त पुराणों से सहमत है, पर उसमें अंतर केवल इतना ही है कि उसमें आभीरों को आंध्रों से पहले रखा गया है: परंतु इस बात से हमारे विवेचन पर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ता, क्योंकि ये दोनों ही वंश सम-कालीन थे। भागवत ने कदाचित् भौगोलिक दृष्टि से वर्णन किया है और उसका विवेचन उत्तर की ओर से आरंभ होता है। मत्स्यपुराण, वायुपुराण और ब्रह्मांडपुराण में यह भी बतलाया गया है कि किन किन वंशों ने कितने कितने दिनों तक राज्य किया था। (१) आंध्र (अधीनस्थ आंध्र) और (२) श्री-पार्वतीय राजवंशों के संबंध में मत्स्यपुराण की अधिकांश हस्त-लिखित प्रतियों में यह पाठ मिलता है—

आंध्राः श्रीपार्वतीयाश्च
ते द्वे पंच शतं समाः[१]।

---

१. पारजिटर कृत Purana Text, पृ० ४६, टिप्पणी ३२।

अर्थात्--आंध्रों और श्री-पार्वतीयों ने (अर्थात् दोनों ने) १०५ वर्षों तक राज्य किया था।

इसके विपरीत वायुपुराण और ब्रह्मांडपुराण में यह पाठ है--

अंध्रा भोक्ष्यन्ति वसुधाम्
शतं[1] द्वे च शतं च वै।

अर्थात्—आंध्र लोग वसुधा का दो (राजवंश) एक सौ (वर्ष) और एक सौ (वर्ष) क्रमशः भोग करेंगे।

यहाँ यह बात स्पष्ट है कि वायुपुराण और ब्रह्मांडपुराण में "आंध्र" शब्द के अंतर्गत दो राजवंशों का अंतर्भाव किया गया है—एक तो अधीनस्थ या भृत्य आंध्र जो साम्राज्यवाली उपाधि धारण करते थे और दूसरे आंध्र श्रीपार्वतीय। वायु और ब्रह्मांड दोनों ही पुराणों में इनका राज्य-काल एक सौ वर्ष कहा गया है; परंतु मत्स्यपुराण में एक सौ पाँच वर्ष कहा गया है। डा० हॉल (Dr. Hall) की ब्रह्मांडपुराणवाली प्रति में[2] और मि० पारजिटर की वायुपुराणवाली प्रति में जो वस्तुतः ब्रह्मांडपुराण की-सी प्रति है, एक वंश के लिये सौ वर्ष और दूसरे के लिये

---

१. Purana Text पृ० ४६, टिप्पणी ३३। कुछ हस्तलिखित प्रतियों में 'शते' शब्द को इस प्रकार बदल दिया गया है कि उसका अन्वय "दो" के साथ होता है; परंतु वास्तव में यह 'द्वे' शब्द वर्षों के लिये नहीं, बल्कि राजवंशों के लिये आया है।

२. विल्सन और हॉल का वायुपुराण ४, २०८ Purana Text, पृ० ४६, टि० ३४।

सौ वर्ष छः महीने मिलते हैं। इस प्रकार वास्तव में ये तीनों ही पुराण तीन सामंत-वंशों के ही वर्णन करते हैं।

ऊपर जो यह कहा गया है कि "आंध्र लोग वसुधा का भोग करेंगे" उससे यह सूचित होता है कि उन परवर्ती आंध्रों ने साम्राज्य के अधिकार ग्रहण किए थे। हम अभी आगे चलकर यह बतलावेंगे कि आंध्र देश के श्रीपार्वतीयों ने साम्राज्य का अधिकार ग्रहण किया था और सातवाहनों के पतन के उपरांत दक्षिणी भारत में उन्हीं के राजवंश ने सबसे पहले साम्राज्य स्थापित करने का प्रयत्न किया था।

आभीर

§ १५५. महत्स्यपुराण के अनुसार आभीरों की दस पीढ़ियाँ हुई थीं और उनका राज्यकाल ६७ वर्ष कहा गया है (सप्त षष्टिस्तु वर्षाणि दशाभीरास्तथैव च। तेपुत्सन्नेषु कालेन ततः किलकिला-नृपाः।) वायुपुराण और ब्रह्मांडपुराण में भी आभीरों की दस पीढ़ियाँ बतलाई गई हैं, परंतु भागवत में केवल सात ही पीढ़ियाँ बतलाई गई हैं और साथ ही भागवत में यह भी नहीं कहा गया है कि उनका राज्य-काल कितना था। विष्णुपुराण ने भी इस विषय में भागवत का ही अनुकरण किया है।

§ १५६. इन सब बातों का सारांश यही है कि सब मिलाकर तीन राजवंश थे, जिनमें से दो की स्थापना तो साम्राज्य-भोगी आंध्रों ने की थी और तीसरे राजवंश का उदय भी उसी समय हुआ था और जान पड़ता है कि वह तीसरा वंश भी उन्हीं के अधीन था। यद्यपि उस समय तो उस तीसरे राजवंश का कोई

विशेष महत्त्व नहीं था, परंतु सातवाहनों के पतन के उपरांत उन्होंने विशेष महत्त्व प्राप्त कर लिया था।

इस प्रकार हमें पता चलता है कि –

(१) अधीनस्थ (भृत्य) छोटे आंध्रों की सात पीढ़ियाँ थीं और उनका राज्य-काल १०० वर्ष अथवा १०५ वर्ष था।

(२) आभीर १० (अथवा ७) पीढ़ियाँ, ६७ वर्ष।

(३) श्रीपार्वतीय १०० अथवा १०५ वर्ष।

अधीनस्थ या भृत्य आंध्र कौन थे और उनका इतिहास

§ १५७. ये अधीनस्थ या भृत्य आंध्र वस्तुतः वही प्रसिद्ध सामंत सातवाहन अथवा आंध्र हैं जिनके वंशजों में चुटु वंश के दो हारितीपुत्र हुए थे और जिनके शिलालेख कन्हेरी (अपरांत), कनारा (बनवसी) और मैसूर (मलवल्ली) में मिले हैं[1]। इन शिलालेखों की लिपियों को देखते हुए इनका समय सन् २०० ई० से पहले नहीं रखा जा सकता[2]। यद्यपि बनवसीवाले लेख की

---

१. रैप्सन कृत C. A. D. ३१, ४३, ४६ और ५३-५५ कन्हेरी A. S. W. I. खंड ५, पृ० ८६, बनवसी, इं० एंटि०, खं० १४, पृ० ३३१। मैसूर (मलवल्ली का शिमोगा) E. C. ७, २५१।

२. राइस कृत E. C. खं० ८, पृ० २५२ के सामने का प्लेट। इं० एंटि०, खंड १४। सन् १८८५ पृ० ३३१, पृ० ३३२ के सामने-वाला प्लेट। डा० बुहलर से समझा था कि बनवसीवाला लेख ईसवी पहली शताब्दी के अंत या दूसरी शताब्दी के आरंभ का है;

लिपि पुरानी है, परंतु उसी शासन-काल का मलवल्लीवाला जो शिलालेख है, उसकी लिपि वही है जो सन् २०० ई० में प्रचलित थी। यह मलवल्लीवाला शिलालेख भी उसी प्रकार के अक्षरों में लिखा है, जिस प्रकार के अक्षरों में राजा चंडसाति का कोडवली-वाला शिलालेख है। सातवाहनों की शाखा में इस चंडसाति के बाद केवल एक ही और राजा हुआ था (दे० एपिग्राफिया इंडिका, खंड १८, पृ० ३१८) और उसके लेख में जो तिथि मिलती है, उसका हिसाब लगाकर मि० कृष्णशास्त्री ने उसे दिसंबर सन् २१० ई० स्थिर किया है; और यह तिथि पुराणों में दी हुई उसकी तिथि के बहुत ही पास पड़ती है (पुराणों के अनुसार इसका समय सन् २२८ ई० आता है। देखो बिहार-उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी का जरनल, सन् १६३०, पृ० २७६)। राजा हारितीपुत्र विष्णु-कंद चुटुकुलानंद शातकर्णि और उसके दौहित्र हारिती-पुत्र शिव-स्कंद वर्म्मन् (वैजयंतीपति)[1] की वंशावली प्रो० रैप्सन ने बहुत ही ध्यान और विचारपूर्वक, इस वंश के तीन शिलालेखों और पहले कदंब राजा के एक लेख के आधार पर, फिर से ठीक करके तैयार की थी[2]। जिस सामग्री के आधार पर उन्होंने यह

परंतु डा० भगवानलाल इंद्रजी का मत है कि वह कुछ और बाद का है। प्रो० रैप्सन ने C. A. D. पृ० २३ (भूमिका) में कहा है कि राजा हारितीपुत्र का समय अधिक से अधिक सन् ईसवी की तीसरी शताब्दी के आरंभ में रखा जा सकता है, इससे और पहले किसी तरह रखा ही नहीं जा सकता।

१ E. C. खंड ७, पृ० २५२।

२. C. A. D. पृ० ५३ से ५५ (भूमिका)।

वंशावली प्रस्तुत की थी, उसे मैंने खूब अच्छी तरह देख और जाँच लिया है और इसलिये उसी को ग्रहण कर लेना मैंने सबसे अच्छा समझा है। हाँ, उसमें जो विष्णुकद्द नाम आया है, उसे मैंने विष्णु-स्कंद कर दिया है। यह वंशावली इस प्रकार है—

राजा हारितीपुत्र विष्णु-स्कंद (विष्णु-कद्द)
चुटुकुलानंद शातकर्णि = महाभोजी—
|
महारथी=नागमुलनिका
|
हारितीपुत्र शिव-स्कंद वर्म्मन्
(वैजयंती-पति)

§ १५८. इसमें कुछ भी संदेह नहीं है कि इस वंश का नाम चुटु है। अभी तक "चुटु" शब्द की व्याख्या नहीं हुई है।

चुटु

यह वही शब्द है जिसका संस्कृत रूप चुण्ट है और जिसका अर्थ होता है—छोटा होना। यह अभी तक चुटिया नागपुर में 'चुटिया' के रूप में पाया जाता है जिसका अर्थ होता है—छोटा नागपुर; और यह नाम उस नागपुर के मुकाबले में रखा गया है जो मध्यप्रदेश में है। वहुत कुछ संभावना इसी बात की जान पड़ती है कि यह द्रविड़ भाषा का शब्द है जिसे आर्यों ने ग्रहण कर लिया था। आधुनिक हिंदी में इसी का समानार्थक शब्द छोटू है, जिसका अर्थ होता है—छोटा लड़का या भाई आदि। यह छोटू भी वही शब्द है जो चुटिया नागपुर में चुटिया के रूप में है। चुटु और चुटुकुल का अर्थ होना

चाहिए—छोटी शाखा अर्थात् साम्राज्य-भोगी सातवाहनों की छोटी शाखा।

§ १५६. पुराणों के अनुसार इस चुटु कुल का अंत वाकाटक-काल में अर्थात् सन् २५० ई० के लगभग हुआ था और उससे पहले १०० अथवा १०५ वर्षों तक उनका अस्तित्व रहा। इससे हम कह सकते हैं कि इस कुल का आरंभ सन् १५० ई० के लगभग हुआ होगा; और यह वह समय था जब कि रुद्रदामन् की शक्ति के उदय के कारण सातवाहनों को सबसे अधिक कठिनाइयों का सामना करना पड़ रहा था।

रुद्रदामन् और सातवाहनों पर उसका प्रभाव

राजकीय संघटन के विचार से रुद्रदामन् की जो स्थिति थी, उसका ठीक ठीक महत्त्व अभी तक भारतीय इतिहास ज्ञाताओं ने नहीं समझा है। उसे बहुत बड़ी शक्ति केवल अपनी उस कानूनी हैसियत के कारण प्राप्त हुई थी जो हैसियत किसी शक-शासक को न तो उससे पहले ही और न उसके बाद ही इस देश में हासिल हुई थी। उसका पिता पूर्ण रूप से अधिकार-च्युत कर दिया गया था और राज्य से हटा दिया गया था। परंतु काठियावाड़ (सुराष्ट्र) और उसके आस-पास के समस्त हिंदू-समाज के द्वारा रुद्रदामन् राजा निर्वाचित हुआ था (सर्ववर्णैरभिगम्य रक्षणार्थं (म्) पतित्वे वृतेन)। जिन सौराष्ट्रों ने उसे राजा निर्वाचित किया था, वे अर्थशास्त्र[1] के अनुसार प्रजातंत्री थे। निर्वाचित होने पर रुद्रदामन् को शपथपूर्वक एक प्रतिज्ञा करनी पड़ी थी, जिसकी घोषणा और पुष्टि उसने अपने जूनागढ़वाले शिलालेख

---

१. ११. १२५।

में भी की है। उसमें उसने यह प्रतिज्ञा भी की थी कि—"मैं अपनी प्रतिज्ञा (अर्थात् राज्याभिषेक के समय की हुई शपथ[१]) का सदा सत्यतापूर्वक पालन करूँगा।" रुद्रदामन् ने जो शपथ या प्रतिज्ञा की थी और अपने जूनागढ़वाले शिलालेख में उसने जो सार्वजनिक घोषणा की थी, उसका आशय यही था कि जब तक मुझमें दम रहेगा, तब तक मैं एक सच्चे हिंदू राजा की भाँति व्यवहार और आचरण करूँगा; और इस बात के उदाहरण-स्वरूप उसने कहा था कि जब मैंने सुदर्शन सागर नाम की झील फिर से बनवाने का विचार किया, तब मेरे मंत्रियों ने उसका इसलिये विरोध किया कि उसमें बहुत अधिक धन व्यय होगा। उस समय मैंने उनका निर्णय मान लिया और अपने निजी धन से उसे फिर से बनवा दिया। इस राजा का आचरण और व्यवहार वैसा ही था, जैसा किसी पक्के से पक्के और कट्टर हिंदू राजा का हो सकता था; और इसी-लिए हम यह भी मान सकते हैं कि यह बहुत ही लोकप्रिय नेता बन गया होगा। वह संस्कृत का अच्छा जानकार और शास्त्रों का बड़ा पंडित था और उसने संस्कृत को ही अपने यहाँ फिर से राजभाषा का स्थान दिया था। सातवाहन राजा को उससे बहुत बड़ा खटका हो गया था और उसने दक्षिणापथ के अधीश्वर को दो बार परास्त भी किया था। परंतु फिर भी हिंदू धर्म-शास्त्र के अनुसार उसने भ्रष्ट राजा (अर्थात् अपने पराजित शत्रु) को फिर से उसके राज-पद पर प्रतिष्ठित कर दिया था। उसके शासन के कारण सातवाहन साम्राज्य में एक नया संघटन हुआ था।

---

१. सत्य प्रतिज्ञा अर्थात् वह प्रतिज्ञा जो राजा को अपने राज्याभिषेक के समय करनी पड़ती थी। देखो Hindu Polity दूसरा भाग, पृ० ५०।

§ १६०. बस इन्हीं सब परिस्थितियों में चुटु कुल या छोटे कुल का उदय हुआ था और उसके साथ ही साथ कुछ और भी अधीनस्थ या भृत्य-कुलों का भी उदय हुआ था। जो चुटुकुलानंद सिक्के मिलते हैं, वे संभवतः इसी काल के माने जा सकते हैं। यह चुटु या छोटा कुल पश्चिमी समुद्र-तट की रक्षा करता था। उनकी राजधानी बनवसी (कनारा) प्रांत की वैजयंती नाम की नगरी में थी। उनका शिलालेख हमें उत्तर में कन्हेरी नामक स्थान में मिलता है और उनके सिक्के दक्षिण में करवार नामक स्थान में मिलते हैं जो बनवसी प्रांत में समुद्र-तट पर है। उनके जो सिक्के चुटुकुलानंद (नंबर जी० पी० २)[1] कहे जाते हैं, उन पर के अक्षर यद्यपि सन् १५० ई० से भी अधिक पुराने जान पड़ते हैं, परंतु फिर भी उनमें "कु" का जो रूप है, जिसका सिरा कुछ मोटा है और उनमें जिस रूप में "न" के ठीक ऊपर अनुस्वार लगाया गया है और "स" का जो रूप है, वह बाद का है। ऐसा जान पड़ता है कि अक्षरों के पुराने रूप उन दिनों सिक्कों में प्रायः रख दिए जाते थे; और कुल मिलाकर वे सब सिक्के सौ बरसों के दरमियान में बने थे। यहाँ यह बात भी ध्यान में रखनी चाहिए कि ये सिक्के चुटु-कुल के किसी राजा या व्यक्ति के नाम से नहीं बने थे, बल्कि उन सब पर उनकी राजकीय उपाधि या चुटु-कुल का ही नाम दिया जाता था। [राञो चुटुकुडानंदस= अर्थात् चुटु-कुल को आनंद देनेवाले (का सिक्का)]। और मुंडराष्ट्र के गवर्नर या शासक मुंडानंद के सिक्कों में भी हमें

---

१. C, A. D. पृ० २१, प्लेट ८, G. P. २, G. P. ३, २३५।

यही विशेषताएँ दिखाई देती हैं। पल्लव शिलालेखों के अनुसार यह मुंडराष्ट्र आंध देश का एक प्रांत था[१]।

चुटुलोग और सातवाहनों की जाति—मलवल्ली शिलालेख

§ १६१. ये चुटु राजा, जिन्हें पुराणों में भृत्य आंध्र कहा गया है, साम्राज्य-भोगी आंध्रों की एक शाखा के ही थे और इन्हीं के द्वारा हमें सातवाहनों की जाति का भी कुछ पता चल सकता है। मैंने एक दूसरे स्थान पर[२] यह बतलाया है कि साम्राज्य-भोगी आंध्र ब्राह्मण जाति के थे। इस शाखा-कुल के वर्णन से इस मत की और भी पुष्टि होती है। उनका गोत्र मानव्य था जो केवल ब्राह्मणों का ही गोत्र होता है; और चुटु राजाओं के बाद भी यह बात मानी जाती थी कि वे ब्राह्मण थे। मैसूर के शिमोगा जिले में मलवल्ली नामक स्थान में शिव का एक मंदिर था जिसमें स्थापित मूर्त्ति का नाम मट्टपट्टि-देव था। इस मंदिर में एक चुटु-राजा ने कुछ जागीर चढ़ाई थी और उसे ब्रह्म-देय के रूप में एक ब्राह्मण को दान कर दिया था, जिसका नाम हारितीपुत्र कोंडमान था और जो कौंडिन्य-गोत्र का था। इस दान का उल्लेख एक छः-पहलू खंभे पर अंकित है जो मलवल्ली

---

१. मुडानंद का सिक्का, नं० २६६ इसी वर्ग का है। जान पड़ता है कि इसका संबंध मुंडराष्ट्र से था और मुंडराष्ट्र का नाम पल्लव शिलालेखों में आया है। (एपि० इं० ८, १५६) चुटिया नागपुर की मुंडारी भाषा में मुंडा शब्द का अर्थ होता है—राजा।

२. बि० उ० रि० सो० का जरनल, खंड १६, पृ० २६३-२६४।

में जमीन पर पड़ा हुआ था[१]। उसमें चुटु राजा का नाम और वर्णन इस प्रकार दिया हुआ है—वैजयंतीपुर राजा मानव्य सगोत्तो हारितोपुती विण्हु कड्ड चुटुकुलानंद सातकणिण। इसी राजा ने अपने महावल्लभ राज्जुक को इस संबंध की आज्ञा भेजी थी। जान पड़ता है कि उसके बाद वाली किसी सरकार ने वह जागीर देवोत्तर समझकर फिर से किसी को दे दी थी। एक कदंब राजा ने बाद में फिर से "बहुत ही प्रसन्न मन से"[२] (परितुत्थेण अर्थात् परितुष्ट होकर) कोंडमान के एक वंशज को वह जागीर दान कर दी थी जो उस राजा का मामा और कौशिकीपुत्र था। इस दान में पुरानी जागीर तो थी ही, पर साथ ही उसमें बारह नए गाँव भी जोड़ दिए गए थे और उन सब गाँवों के नामों का भी वहाँ अलग-अलग उल्लेख कर दिया गया है; और इस दान का भी उसी खंभे पर सार्वजनिक रूप से उल्लेख कर दिया गया था। पूर्वकालीन दाता ने जो दान किया था, उसका उस खंभे पर इस प्रकार उल्लेख है—शिव (खद) वम्मणा मानव्यसगोत्तेण हारितिपुतेन वैजयंती-पतिना पुव्व-इत्तिति। यहाँ शिवखद वर्म्मन करण कारक में आया है और इसके विपरीत कदंब राजा प्रथमा में रखा गया है और यह शिवखद वम्मन ही वह पहला राजा था

---

१. E. C. खंड ७, २५१–२५२, अंक २६३–२६४।

२. देखो रायल एशियाटिक सोसाइटी के जरनल, सन् १९०५, पृ० ३०५, पाद-टिप्पणी २ में फ्लीट द्वारा इसका संशोधन। डा० फ्लीट ने यह मानकर कुछ गड़बड़ी पैदा कर दी है कि शिवस्कंद वर्म्मन् एक कदंब राजा था। परंतु वास्तव में यह चुटु राजा का नाम है जिसे प्रो० रैप्सन ने स्पष्ट कर दिया है। देखो C. A. D, L. I. V.

जिसने वह दान किया था (पुव्वदत्ता)। इसमें उसके नाम के साथ भी वही उपाधियाँ हैं जो विष्णु-स्कंद शातकर्णि के शिला-लेख में मिलती हैं। उन दिनों नाम के आगे उसका सम्मान बढ़ाने के लिये "शिव" शब्द जोड़ देने की बहुत अधिक प्रथा थी। इस राजा की माता का जो शिलालेख बनवसी में उत्कीर्ण हुआ था,

'शिव' सम्मान-सूचक है

उसके अनुसार इस राजा का नाम शिवखदनागरि सिरी था; और कन्हेरी में उसकी माता का जो शिलालेख है, उसमें उसका नाम खंड नाग सातक दिया है। इसलिये इसके आरंभ का 'शिव' शब्द केवल सम्मान-सूचक है। सात और साति वास्तव में स्वाति शब्द का ही रूप है और पुराणों में यह सात या साति शब्द आंध्रों के कई नामों के साथ आया है। स्वाति का अर्थ होता है—तल-वार। उसकी माता विष्णुस्कंद की कन्या थी। इसी का नाम विण्हु-कद या विण्हुकड्ड भी मिलता है। यह चुटु-कुल का राजा था और बनवसीवाले शिलालेख में इसी को सात-कण्णि भी कहा गया है। पहला दान स्वयं वैजयंती-पति पारितिपुत्र शिवस्कंद वर्म्मन्[1] ने नहीं किया था और न उसने उसका उल्लेख ही कराया था, बल्कि उसके दादा विष्णु-स्कंद (विण्हु कड्ड[2]) सातकर्णि ने

---

१. कदंब राजा ने "सात" को बदलकर "वर्म्मन्" कर दिया है अथवा "सात" के बाद ही वर्म्मन् भी जोड़ दिया है; और यद्यपि उससे पहले तो यह प्रथा नहीं थी, पर हाँ उसके समय में राजा लोग अपने नाम के साथ "वर्म्मन्" शब्द जोड़ लिया करते थे।

२. मैं इसे "कड्डु" नहीं बल्कि "कड्ड" पढ़ता हूँ। दूसरी पंक्ति में जो "ड" है, उसे पहली पंक्ति के मट्टपट्टिदेव और नंद में के, तथा तीसरी पंक्ति के देय्य और दिन्नम् में के "द" के साथ मिलाओ।

वह दान किया था और उसी ने उसे उत्कीर्ण भी कराया था। और दूसरे अभिलेख में जो यह कहा गया है कि जब कदंब राजा ने यह सुना कि शिवस्कंद वर्म्मन् ने पहले यह दान किया था, तब उसने बहुत ही प्रसन्नतापूर्वक और परितुष्ट होकर उसे फिर से दान कर दिया, उसका आशय यह है कि प्रपिता और पौत्र के नामों में कुछ गड़बड़ी हो गई थी और प्रपिता के नाम के स्थान पर भूल से पौत्र का नाम लिख दिया गया था[१]।

§ १६२. मैंने वह प्लेट बहुत ध्यानपूर्वक पढ़ा है और चौथी पंक्ति में "शिव" शब्द के पहले मैंने देखा कि "कदंबानाम् राजा" पढ़ना असंभव है। हाँ अंतिम पंक्ति में मुझे कदंबों के वैभव का अवश्य उल्लेख मिला है; और उसी पंक्ति से यह भी सूचित होता है कि वह कदंबों का लिखवाया हुआ दानपत्र है। उस लेख की चौथी पंक्ति से ही बादवाले दान का उल्लेख आरंभ होता है, और उसमें का जो अंश पढ़ा जा सकता है, वह इस प्रकार है—शिव ख (द) वमणा मानव्य स (गो) त्तेन हारितीपत्तेन वैजयंतीपति (न) (पंक्ति की समाप्ति)। "शिव" के पहले दो शब्द (राञा)

मलवल्ली का कदंब राजा, चुटु-राजाओं के उपरांत पल्लव हुए थे

---

१. अथवा यह भी हो सकता है कि शिवस्कंद ने फिर से उस दान की स्वीकृति दी हो और उसका समर्थन किया हो, जैसा कि उस पल्लव दान के संबंध में हुआ था जो एपि० इं १, पृ० २ में प्रकाशित हुआ है और जिसमें पल्लव-सम्राट् ने अपने पिता "बप्प" के किए हुए दान का समर्थन या पुष्टि की है।

और थे और तब उसके बाद खाली जगह है। "शिव" शब्द के पहले मि० राइस ने पढ़ा था—"सिद्धम् जयति भट्टपट्टिदेवो वैज-यंती-धम्म महाराजे पति-कत सौभायिच्छपरा कदंबानाम् राजा" और इसी में मुझे जयतिमट—ध (म्) महा···जा···लिखे होने के भी कुछ चिन्ह मिलते हैं। इसके उपरांत मि० राइस ने जिसे "धिराजे" पढ़ा है, वह ठीक और साफ तरह से पढ़ा नहीं जाता, परंतु उसकी जगह पर मेरी समझ में यह पाठ है र (शा) म्मा अणप-ति··क। मि० राइस ने जो 'पति कद' आदि पढ़ा है, उसका कोई अर्थ नहीं होता। उन्होंने जिसे 'धि रा जे प ति क त' पढ़ा है, वह मेरी समझ में 'र (शा)म्मा अणप-ति' है। मुझे इस बात में कुछ भी संदेह नहीं है कि "धम्ममहाराजो" के बाद (मयु)-रशाम्मा आणप (य) ति था। "राञा" से पहले "प" के बाद जो छः अक्षर और "क" के बाद जो चार अक्षर मिट से गए हैं, यदि उन्हें खूब अच्छी तरह रगड़ कर साफ किया जाय और तब उनकी प्रतिलिपि तैयार की जाय तो उनके वास्तविक स्वरूपों का पता चल सकता है। मयूरशर्म्मा पहला कदंब राजा था। उसी ने यह दान फिर से जारी किया या दोहराया था।

परंतु यह कोई आवश्यक निष्कर्ष नहीं हो सकता कि कदंबों के बाद तुरंत ही चुटु-वंश का राज्य आरंभ हो गया था। चुटुओं और कदंबों का परस्पर संबंध था और कदंब लोग चुटुओं की ही एक शाखा थे (देखो § २००)। अवश्य ही इन दोनों के मध्य में कोई शत्रु भी प्रबल हो गया होगा और वह शत्रु पल्लवों के सिवा और कोई नहीं हो सकता। तालगुंड वाले शिलालेख को देखते हुए इस विषय में कल्पना या अनुमान के लिये कोई स्थान नहीं रह जाता, क्योंकि उसमें यह कहा गया है कि पल्लवों के राज्य

के कुछ अंश पर मयूरशर्म्मा ने अधिकार कर लिया था और उस पर अपना राज्य स्थापित किया था, और वह इसलिये राजा मान लिया गया था कि वह हारितीपुत्र मानव्य का वंशधर था[१]। इस प्रकार ईसवी तीसरी शताब्दी के उत्तरार्द्ध में चुटुओं को पल्लवों ने दबा लिया था; और जिस पल्लव राजा ने इस प्रकार चुटुओं को दबाया था, वह शिवस्कंद वर्म्मन् पल्लव से ठीक पहले हुआ था; अर्थात् वह शिवस्कंद वर्म्मन् का पिता था जिसने एक अश्वमेध यज्ञ किया था (देखो § १८३)।

§ १६३. कौंडिन्य लोग ईसवी दूसरी शताब्दी के आरंभ में ही क्षेत्र में आ गए थे। ये लोग कदाचित् उसी वंश के वंशधर थे जिसने अपना एक वंशधर चंपा (इंडो-चाइना) में कौंडिन्य राज्य स्थापित करने के लिये भेजा था। जान पड़ता है कि साम्राज्य-भोगी सातवाहनों के समय में ये लोग उत्तरी भारत से बुलाए गए थे। यह वंश बहुत ही प्रतिष्ठित था। दो मलवल्ली अभिलेखों में इनका नाम बहुत सम्मानपूर्वक आया है और इनका राज-वंश के साथ संबंध था। चंपा में कौंडिन्यों के संबंध में जो अनुश्रुति है, उसका हमें यहाँ ऐतिहासिक समर्थन मिलता है। चंपा में जो उपनिवेश स्थापित हुआ था, उसे बसाने के लिये कौंडिन्यों के नेतृत्व में दक्षिण भारत से कुछ लोग गए थे। फिर समुद्रगुप्त के शासन-काल में एक और कौंडिन्य चंपा गया था, जहाँ उसने समाज-सुधार किया था। बहुत कुछ संभावना इसी बात की जान पड़ती है कि उसका संबंध भी इसी वंश के साथ रहा होगा। इन

कौंडिन्य

---

१. एपि० इं० खंड ८, पृ० ३१, ३२, शिलालेख की पंक्तियाँ ६, ७।

कौंडिन्यों का अपनी चंपावाली शाखा के साथ अवश्य ही संपर्क रहा होगा और वह संपर्क उनके लिये बहुत कुछ लाभदायक भी होता ही होगा। इस प्रकार ईसवी दूसरी, तीसरी और चौथी शताब्दियों में दक्षिण भारत में भी और उपनिवेशों में भी वे लोग सामाजिक नेता थे।

आभीर

§ १६४. पुराणों में दी हुई बातों से आभीरों का इतिहास बहुत कुछ स्पष्ट हो जाता है। यद्यपि आभीरों की १० अथवा ७ पीढ़ियाँ कही गई हैं, परंतु फिर भी उनका राज्य-काल केवल ६७ वर्ष था। साधारणतः यही माना जाता है कि उस समय के सातवाहनों के समय में इन आभीरों ने 'उस ईश्वरसेन की अधीनता में एक राज्य स्थापित किया था, जिसका शिलालेख हमें नासिक में मिलता है'[1]। उस शिलालेख में दो महत्त्वपूर्ण जानकारी की बातें मिलती हैं। (१) जो ईश्वरसेन उसमें राजा कहा गया है और जिसके शासन-काल के नवें वर्ष में वह लेख उत्कीर्ण हुआ था, वह किसी राजा का लड़का नहीं था, बल्कि उसका पिता शिवदत्त एक सामान्य आभीर था (शिवदत्तआभीर-पुत्रस्य)। और (२) जिस महिला ने वह दान किया था और सभी तरह के रोगी साधुओं की चिकित्सा आदि के लिये कुछ पंचायती संघों के पास धन जमा कर दिया था, उसने अपने आपको "गणपक विश्ववर्म्मन् की माता" और "गणपक रेभिल की पत्नी" कहा है जिससे यह सूचित होता है कि उसके संबंधी किसी गण प्रजातंत्र के प्रधान थे। जिन आभीरों का साम्राज्य-भोगी सात-

---

१. एपिग्राफिया इंडिका, खंड ८, पृ० ८८।

वाहनों के समय में उदय हुआ था, जान पड़ता है कि उनका एक गण या प्रजातंत्र था और उनमें ईश्वरसेन ऐसा प्रथम व्यक्ति हुआ था जिसने राजा (राजन) की उपाधि धारण की थी। उसके संबंध में यह विश्वास किया जाता है कि उसने सन् २३६ और २३९ ई० के मध्य में शक क्षत्रप को अधिकार-च्युत करके निकाल दिया था। मत्स्यपुराण (देखो § १५५) में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि विंध्यशक्ति के उदय के पहले अर्थात् सन् २४८ ई० के लगभग आभीरों का अंत हो गया था। ऐसा जान पड़ता है कि जिस समय ईश्वरसेन का उदय हुआ था, उसी समय से पुराण यह मान लेते हैं कि आभीरों का गण या प्रजातंत्री और अधीनता का काल समाप्त हो गया था। यदि ६७ वर्ष के अंदर ही दस अथवा सात आदमी बारी बारी से शासन के उत्तराधिकारी हों तो इसका अर्थ केवल यही हो सकता है कि उनमें गणतंत्र या प्रजातंत्र प्रचलित था और उसमें उसी तरह उत्तराधिकारियों या शासकों की पीढ़ियाँ होती थीं, जैसी पुष्यमित्रों तथा इसी प्रकार के दूसरे मित्रों में हुआ करती थीं जिनका उल्लेख पुराणों में है और प्रत्येक अधिकारी का शासन-काल इसी प्रकार अल्प हुआ करता था। जिस समय समुद्रगुप्त क्षेत्र में आता है, उस समय हम फिर आभीरों को गणतंत्री या प्रजातंत्री समाज के रूप में पाते हैं। ईश्वरसेन ने कदाचित् आभीर संघटन बदल डाला था और एक राजवंश स्थापित करने का प्रयत्न किया था। नासिक वाले शिला-लेख में इस बात का उल्लेख है कि स्वयं ईश्वरसेन के समय में ही गणपकों का अस्तित्व था, अर्थात् गणतंत्र या प्रजातंत्र प्रचलित था और उसका प्रधान गणपक कहलाता था। यद्यपि अधिकतर संभावना तो इसी बात की जान पड़ती है कि वह गणतंत्र के बाहर का एक नया और एकतंत्री शासक या राजा था, परंतु यह

भी हो सकता है कि वह एक गणतंत्री राजा रहा हो। जो हो, परंतु यह बात अवश्य निश्चित है कि उसके समय में आभीरों ने एक राजनीतिक समाज के रूप में सातवाहन राजवंश की अधीनता में रहना छोड़ दिया था। ईश्वरसेन के ६७ वर्ष पहले सातवाहनों ने जो आभीर गणतंत्र को मान्य किया था, उसका समय सन् १६० ई० के लगभग हो सकता है। रुद्रदामन् को गणतंत्री यौधेयों और मालवों ने बहुत तंग कर रखा था; और जान पड़ता है कि सातवाहनों ने आभीरों को बीच में इसीलिये रख छोड़ा था कि यौधेयों और मालवों के साथ विशेष संघर्ष की संभावना न रह जाय और आभीर लोग बीच में रह कर दोनों पक्षों का संघर्ष बचावें। सातवाहनों ने देखा होगा कि अपने पड़ोसी क्षत्रप के राज्य से ठीक सटा हुआ एक गणतंत्र रखने में कई लाभ हैं।

§ १६५. पुराणों में आभीर शासकों की संख्या के संबंध में कुछ गड़बड़ी है; कहीं वे १० कहे गए हैं और कहीं ७; और यह गड़बड़ी इसलिये हुई है कि इसके ठीक बाद ही एक और संख्या भी दी गई है अर्थात् कहा गया है कि गर्दभिलों में सात शासक हुए थे। भागवत में कहा गया है कि गर्दभिलों में १० और आभीरों में ७ शासक हुए थे और दूसरे पुराणों में कहा गया है कि आभीरों में १० और गर्दभिलों में ७ शासक हुए थे। यह संख्या-विपर्यय के कारण होने वाली भूल है। परंतु भागवत के अतिरिक्त और सभी पुराण इस बात में सहमत हैं कि आभीरों में १० शासक हुए; और इसलिये यही बात अधिक ठीक जँचती है।

§ १६६. जैसा कि ऊपर बतलाया जा चुका है कौटिल्य के समय में काठियावाड़ में सौराष्ट्रों का गणतंत्र था। जान पड़ता है

कि आभीर और सौराष्ट्र लोग यादवों और अंधक वृष्णियों के ही संगी-साथी और रिश्तेदार थे।

श्रीपार्वतीय कौन थे और उनका इतिहास

§ १६७. गंटूर जिले में कृष्णा नदी के किनारे नागार्जुनी-कोंड अर्थात् नागार्जुन की पहाड़ी पर अभी हाल में जो कई शिलालेख मिले हैं उनके आधार पर डा० हीरानंद शास्त्री ने यह निश्चय कर लिया है कि श्रीपर्वत कौन था। वे सब शिलालेख ईसवी तीसरी शताब्दी के हैं। इन पहाड़ियों के बीच में एक उपत्यका या घाटी है; और इन पहाड़ियों पर उन दिनों किलेबंदी थी। ईंटों की किलेबंदी के कुछ भग्नावशेष वहाँ अभी तक वर्त्त-मान हैं और वे ईंटें मौर्य ढंग की हैं। सैनिक कार्यों के लिये यह स्थान बहुत ही उपयुक्त था और एक दृढ़ गढ़ का काम देता था; और जान पड़ता है कि मौर्यों के समय अथवा उससे भी और पहले से यह स्थान प्रांतीय राजधानी के रूप में चला आ रहा था। वहाँ शत्रुओं से अपना बचाव करने के लिये जो प्राकृतिक योज-नाएँ थीं, उन्हें ईंटों और पत्थरों की किलेबंदी से और भी ज्यादा मजबूत कर लिया गया था। वे ईंटें २० इंच लम्बी, १० इंच चौड़ी

श्रीपर्वत

---

१. आरकियालोजिकल सर्वे रिपोर्ट, १९२६-२७, पृ० १५६ और उसके आगे, १९२७-२८, पृ० ११४। लिपि के संबंध में देखो आर० स० रिपोर्ट १९२६-२७, पृ० १८५-१८९। जब मेरी यह मूल पुस्तक छपने लगी थी, तब मुझे एपिग्राफिया इंडिका, खंड २० का पहला अंक मिला था जिसमें डा० वोगेल ने इन शिलालेखों को संपादित करके प्रकाशित कराया है।

और ३ इंच मोटी हैं। और यही नाप उन ईंटों की भी है जो बुलंदीबाग में खोदकर निकाली गई हैं। लक्षणों से सिद्ध होता है कि इस स्थान पर सातवाहनों के साम्राज्य की किलेबंदीवाली राजधानी थी, जिनके सिक्के—जिनकी संख्या ४४ थी—एक मठ के भग्नावशेष में मैमारों के औजारों के साथ पाए गए थे[१]।

आंध्र देश के श्रीपर्वत का इक्ष्वाकु-वंश

§ १६८. मि० हामिद कुरैशी और मि० लांगहर्स्ट ने इस स्थान पर बौद्धों के कुछ ऐसे स्तूपों के भग्नावशेष भी खोद निकाले हैं जिन पर अमरावती के ढंग की नक्काशी है। वहाँ मि० कुरैशी ने अठारह शिलालेख ढूँढ़ निकाले थे जिनमें से पंद्रह शिलालेख संगमरमर के पत्थरों पर खुदे हुए हैं। ये सब खंभे एक ऐसे महाचेतिय या बड़े स्तूप के चारों ओर गड़े थे जिसके अंदर महात्मा बुद्ध के मृत शरीर का कुछ अंश (दाँत या अस्थि आदि) रक्षित था[२]। शिलालेखों से पता चलता है कि उस स्थान का नाम श्रीपर्वत था। हम यह अनुश्रुति भी जानते हैं कि सुप्रसिद्ध बौद्ध भिक्षु और विद्वान् नागार्जुन श्रीपर्वत पर चला गया था और वहीं उसकी मृत्यु हुई थी, और इस संबंध में एक बहुत ही अद्भुत बात यह है कि उस पहाड़ीका आजकल भी जो नाम (नागार्जुनीकोंड) प्रचलित है, उससे भी इस बात का समर्थन होता है। युआन-च्वांग ने लिखा है कि नागार्जुन सातवाहन राजा के दरबार

---

१. आरकियालोजिकल सर्वे रिपोर्ट, १९२७-२८, पृ० १२१।

२. महा० बुद्ध के शरीर का वह अवशेष अब मिल गया है। देखो Modern Review (कलकत्ता), १९३२, पृ० ८८।

में रहता था[१]। सब शिलालेख पाली ढङ्ग की प्राकृत भाषा में हैं। पत्थर की कुछ इमारतें और असली इमारतें भी कुछ स्त्रियों की बनवाई हुई थीं; और ये सब इमारतें भिक्षु और स्थपति आनंद के कहने से और उसीकी देख-रेख में बनवाई गई थीं। ये सब स्त्रियाँ इक्ष्वाकु (इखाकु) राजवंश की थीं। सन् १८८२ ई० में जग्गय्य-पेट नामक स्थान में जो तीन शिलालेख मिले थे, उनसे हमें इक्ष्वाकु-वंश का पहले से ही पता लग चुका है; और डाक्टर बुह्लर ने यह निश्चय किया था कि ये सब शिलालेख ईसवी तीसरी शताब्दी के हैं[२]। मि० कुरैशी को जो अठारह शिलालेख मिले थे, उनसे पता चलता है कि राजवंश की कई स्त्रियाँ पक्की बौद्ध थीं, परंतु राजा लोग सनातनी हिंदू थे और उनकी राजधानी विजयपुरी पास ही उस घाटी में थी[३]। इनमें से अधिकांश शिलालेख राजा सिरि-वीर पुरिसदत्त के शासन-काल के ही हैं जो उसके राज्यारोहण के छठे और अठारहवें वर्ष के बीच के हैं। जग्गय्यपेट में, जिसका समय संवत् २० है, एक शिलालेख महाराज वासिठीपुत्र सिरि

---

१. Watters, २, २००, २०७।

२. इंडियन एंटिक्वेरी, खंड ११, पृ० २५६।

३. आरकियालोजिकल सर्वे रिपोर्ट, १९२७–२८, पृ० ११७।

बाहुबल चाटमूल (अथवा चाटमूल द्वितीय) के राज्यारोहण के ग्यारहवें वर्ष का है। इन शिलालेखों और जगय्यपेट वाले शिलालेखों के मिलान से नीचे लिखा वंश-वृक्ष तैयार होता है

१. जान पड़ता है कि तलवर का संबंध उस तरवाड़ शब्द से है जो अदालतों के मुकदमों की रिपोर्टों (Law Reports) में तरवाड़ के रूप में मिलता है और जिसका अर्थ है—ऐसा राज्य जो किसी दूसरे को दिया जा सकता हो। महातलवर का मतलब होगा—बड़ा राजा या बहुत बड़ा जागीरदार।

२. इसका विवाह धनकस के महादंडनायक खंड = विशाखांक से हुआ था।
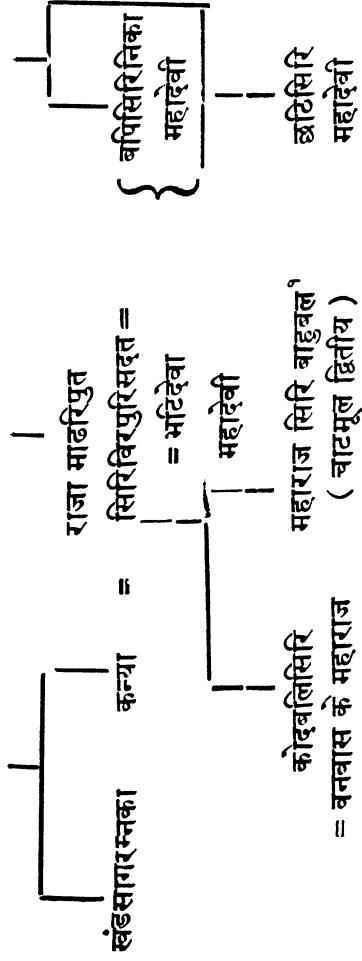
१. इन नामों के संस्कृत रूप इस प्रकार होंगे —

विरपुरिसदत = वीरपुरुषदत्त। चान्तिसिरि = शान्तिश्री । हम्मसिरि = निका=हर्म्यश्रीका । छठि=षष्ठी (कात्यायिनी देवी)। चाट=शात (जिसका अर्थ होता है—प्रसन्न)।

डा० हीरानंद शास्त्री ने जो "बाहुबल" पढ़ा है, वह ठीक है। देखो ग्यारहवाँ प्लेट जिसमें वह स्पष्ट चौकोर "ब" है। डा० वोगेल ने जो इसे "एहुवल" पढ़ा है, वह प्लेट को देखने से ठीक नहीं जान पड़ता। प्लेट जी (G) में "ब" का रूप गलत बना है, परंतु उसका पूरा रूप प्लेट एच (H) में मिलता है जिसमें वह दो बार आया है और दोनों बार स्पष्ट "ब" ही है।

वीर पुरिसदत्त ने अपनी तीन ममेरी बहनों के साथ विवाह किया था, जिनमें से दो उसी तिथि के शिलालेखों में "महादेवी" कही गई हैं (एपि० इं०, खंड २०, पृ० १६-२०)। इनमें से भटिदेव कदाचित् सबसे बड़ी रानी थी और वह चाटमूल द्वितीय की माता थी। इसके अतिरिक्त राज-परिवार की चार और स्त्रियों ने भी बड़े बड़े दान किए थे, पर शिलालेखों में यह नहीं कहा गया है कि राजा अथवा राज-परिवार के साथ उनका क्या संबंध था। उनके नाम इस प्रकार हैं—

१. महादेवी रुद्रधर भट्टारिका उजनिका (अर्थात् उज्जैन से आई हुई) जो एक महाराज की लड़की थी। महाचेतिय से संबद्ध विहार को इसने चांतिसिरि के साथ मिलकर १०७ खंभे और बहुत से दीनार दिए थे।

२. एक महातलवरी जो महातलवर महासेनापति विराहुसिरि की माता और प्रकीयों के महासेनापति महातलवर वासिटीपुत महाकुंडसिरि की पत्नी थी।

३. चुल चाटसिरिका महासेनापत्नी जो हिरंजकस के महासेनापति महातलवर वासिठीपुत खंड चलिकिरेम्मणक की पत्नी थी।

वनवास का कोई एक महाराज भी था, जिसे इक्ष्वाकु राज-परिवार की एक स्त्री (चाटमूल द्वितीय की बहन) ब्याही थी। वह या तो चटु राजाओं में अंतिम था और या अंतिम राजाओं में से एक था; और उसकी उपाधियों से यह जान पड़ता है कि वह इक्ष्वाकुओं का अधीनस्थ या भृत्य हो गया था। यह स्पष्ट है कि चाटमूल प्रथम पहले सातवाहनों के अधीन एक महा-

राज था। शिलालेखों में उसकी उपाधि साधारणतः छोड़ दी गई है और उसके संबंध में केवल इसी प्रकार उल्लेख किया गया है—"इक्ष्वाकुओं का सिरि चाटमूल।" और जहाँ उसकी उपाधि भी दी गई है [जैसे उसकी लड़की ने एक स्थान पर उसकी उपाधि दी है; देखो एपिग्राफिया इंडिका, खंड २०, पृ० १८ (बी २)]। वहाँ उसे सदा "महाराज" ही कहा गया है; परंतु वीरपुरिसदत्त को सदा (केवल दो स्थानों को छोड़कर) राजन् ही कहा गया है। वीरपुरिसदत्त का पुत्र चाटमूल द्वितीय सदा "महाराज" ही कहा गया है (एपिग्राफिया इंडिका, खंड २०, पृ० २४)। इससे सूचित होता है कि चाटमूल प्रथम ने राजकीय पद ग्रहण किया था और उसके बाद केवल एक पीढ़ी तक उसके वंश में वह पद चला था और चाटमूल द्वितीय के समय में उसके वंश से वह पद निकल गया था। रुद्रधर भट्टारिका उज्जयिनी के महाराज की कन्या थी; और इससे यह प्रमाणित होता है कि इक्ष्वाकुओं के समय में अवंती में कोई क्षत्रप नहीं बल्कि एक हिंदू शासक राज्य करता था; और इस बात की पुष्टि पौराणिक इतिहास से भी तथा दूसरे साधनों से भी होती है। रुद्रधर भट्टारिका का पिता अवश्य ही भार-शिव साम्राज्य का एक सदस्य रहा होगा (वह भार-शिव साम्राज्य का कोई अधीनस्थ राजा होगा)।

§ १६९. राजा सिरि चाटमूल (प्रथम) ने अग्निहोत्र, अग्निष्टोम, वाजपेय और अश्वमेध यज्ञ किया था और वह देवताओं के सेनापति महासेन का उपासक था। इन लोगों में अपनी मौसेरी और ममेरी बहनों से विवाह करने की इक्ष्वाकुओं वाली प्रथा प्रचलित थी। बौद्ध धर्म के प्रति उन लोगों ने जो सहनशीलता दिखलाई थी, वह अवश्य ही बहुत मार्के की थी। राजपरिवार की प्रायः सभी स्त्रियाँ बौद्ध थीं; और यद्यपि राजाओं तथा राजपरिवार

के दूसरे पुरुषों ने उन स्त्रियों को दान करने के लिये धन दिया था, परंतु फिर भी किसी राजा अथवा राजपरिवार के दूसरे पुरुष ने स्वयं अपने नाम से एक भी दान नहीं किया था। इक्ष्वाकुओं ने अपने पुराने स्वामी सातवाहनों की ही धार्मिक नीति का अनुकरण किया था। उनका शासन बहुत ही शांतिपूर्ण था। वीर पुरुषदत्त के समय के शिलालेखों में से एक शिलालेख में यह कहा गया है कि नागार्जुन की पहाड़ी पर वंग, वनवास, चीन, चिलात, काश्मीर और गांधार तक के यात्री तथा सिंहली भिक्षु आदि आया करते थे।

दक्षिण और उत्तर का पारस्परिक प्रभाव

§ १७०. चांतिसिरि के परिवार के शिलालेखों की लिपि से सिद्ध होता है कि वह ईसवी तीसरी शताब्दी में हुई थी। बुह्लर ने वीर पुरिसदत्त का, जो चांतिसिरि का भतीजा और दामाद था, समय ईसवी तीसरी शताब्दी निश्चित किया है[1]। जान पड़ता है कि राजा चाटमूल (प्रथम) ने सन् २२० ई० के लगभग अर्थात् आंध्र के साम्राज्य भोगी सातवाहन राजवंश के चंडसाति का अंत होने के थोड़े ही दिन बाद अश्वमेध यज्ञ किया था[2]। इसके कुछ ही दशकों के बाद पल्लव

---

१. इंडियन एंटिक्वेरी, खंड ११, पृ० २५८।

२. सन् २१० ई० के लगभग का उसका अभिलेख वहाँ पाया जाता है (एपि० इं० १८, ३१८)। इसके उपरांत राजा पुलोमावि (तृतीय) हुआ था और पुराणों में उसी से इस वंश का अंत कर दिया गया है (बि० उ० रि० सो० का जरनल, खंड १६)। और जान पड़ता है कि राजा पुलोमावि तृतीय अपने पूर्वजों के समस्त राज्य का उत्तराधिकारी नहीं हुआ था।

राजा शिवस्कंद वर्म्मन् ने भी इसी प्रकार के यज्ञ (अग्निष्टोम, वाजपेय, अश्वमेध[१]) किए थे और वाकाटक सम्राट् प्रवरसेन प्रथम ने भी और भी अधिक ठाट-बाट से ये सब यज्ञ किए थे। इस प्रकार यहाँ आकर उत्तर भारत और दक्षिण भारत के इतिहास परस्पर संबद्ध हो जाते हैं।

§ १७१. इन लोगों का वंश उत्तर से आये हुए अच्छे क्षत्रियों का था। प्राचीन इक्ष्वाकुओं की भाँति ये लोग भी अपनी मौसेरी, और ममेरी आदि बहनों के साथ विवाह करते थे। जान पड़ता है कि जिस समय सातवाहन लोग उत्तर में संयुक्त प्रांत तथा बिहार तक पहुँच गए थे; और जिस समय वे साम्राज्य के अधिकारी थे संभवतः उसी समय ये लोग उत्तर भारत से चलकर दक्षिण की ओर गए थे। श्रीपर्वत के इक्ष्वाकुओं में चाटमूल प्रथम ऐसा पहला राजा था, जिसने अपने पूर्ण स्वाधीन शासक होने की घोषणा की थी; और यह घोषणा उसने संभवतः अपने शासन के अंतिम दिनों में की थी। परंतु यह एक ध्यान रखने की बात है कि शिलालेखों में उसका नाम बिना किसी उपाधि के आया है। केवल भटिदेवा के शिलालेख में उसका नाम उपाधि सहित है, जिसमें उसकी सामंत वाली महाराज की उपाधि दी गई

---

१. एपि० इं० खंड १, पृ० ५. शिवस्कंद वर्म्मन् के पिता के नाम के साथ जो विशेषण लगाए गए हैं, वे इक्ष्वाकु शैली के हैं जिससे सूचित होता है कि इक्ष्वाकुओं के ठीक बाद ही उसे राजकीय अधिकार प्राप्त हुए थे। यथा—

(इक्ष्वाकु) हिरण-कोटि-गो-सतसहस-हल-सत-सहसदायिस।

(पल्लव) अनेक-हिरोग-कोढ़ी-गो-हल-सतसहस-प्पदायिनो।

है। केवल वीर पुरिसदत्त को राजन् की उपाधि प्राप्त थी। शिलालेखों में चाटमूल द्वितीय के नाम के साथ वही सामंतों-वाली "महाराज" की उपाधि मिलती है। उसने दक्षिणापथ के दक्षिणी साम्राज्य को फिर से स्थापित करने का प्रयत्न किया था और इसका आरंभ उसने एक अश्वमेध यज्ञ से किया था। उत्तर में जो राजनीतिक काम भार-शिव कर रहे थे, वही दक्षिण में इक्ष्वाकु लोग करना चाहते थे। जान पड़ता है कि भार-शिवों का उदाहरण देखकर ही चाटमूल (प्रथम) ने भी उनका अनुकरण करना चाहा था; क्योंकि उत्तर में भारशिव उस समय तक अपनी योजना सफलतापूर्वक पूरी कर चुके थे और उन्होंने मध्यप्रदेश में आंध्र की सीमा तक अपना साम्राज्य स्थापित कर लिया था। उत्तर के साथ इक्ष्वाकुओं का जो संबंध था, उसकी पुष्टि इस बात से भी हो जाती है कि इक्ष्वाकु की रानियों में से एक रानी उज्जयिनी से आई थी।

§ १७२. हम यह मान सकते हैं कि चंद्रसाति सातवाहन के उपरांत सन् २२० ई० के लगभग इक्ष्वाकु वंश ने साम्राज्य स्थापित करने का विचार किया था[1]। इनकी तीन पीढ़ियों ने

---

१. एपिग्राफिया इंडिका, खंड १८, पृ० ३१८। राजा वासिठिपुत समि (स्वामिन्) चंडसातिवाला शिलालेख उसके राज्य-काल के दूसरे वर्ष में उत्कीर्ण हुआ था और उस पर तिथि दी है म १, हे २, दि १। मि० कृष्ण शास्त्री इसका अर्थ लगाते हैं—मार्गशीर्ष बहुल प्रथमा, और हिसाब लगाकर उन्होंने निश्चय किया है कि वह शिलालेख दिसंबर सन् २१० ई० का है। मिलान करो पुराणों में दिया हुआ इस राजा का तिथि-काल सन् २२८-२३१ ई०, जिसका विवेचन बिहार-उड़ीसा रिसर्च सोसाइटीके जरनल खंड १६, पृ० २७६ में हुआ है। उक्त शिलालेख पिठापुरम् से नौ मील को दूरी पर कोडवलि नामक स्थान में है।

राज्य किया था, इसलिये हम कह सकते हैं कि इस वंश का अंत सन् २५०-२६० ई० के लगभग हुआ होगा; और इस बात का मिलान पुराणों से भी हो जाता है; क्योंकि उनमें कहा गया है कि जिस समय विंध्यशक्ति का उदय हुआ था, उसी समय इक्ष्वाकु वंश का अंत हुआ था। सातवाहनों ने जिस समय चुटुओं और आभीरों की स्थापना की थी, लगभग उसी समय इक्ष्वाकुओं की भी स्थापना की थी। चुटु और आभीर लोग तो पश्चिम को रक्षा करते थे और इक्ष्वाकु लोग पूर्व की ओर नियुक्त किए गए थे। चाटमूल द्वितीय इस वंश का कदाचित् अंतिम राजा था। शिवस्कंद वर्म्मन् पल्लव के एक सामंत महाराज (जिसे स्वामी पिता या बप्पस्वामिन् कहा गया है) के शासन-काल के दसवें वर्ष में हम देखते हैं कि आंध्र देश पर पल्लव सरकार का अधिकार था अर्थात् सन् २७० ई० के लगभग (§§ १८०, १८७) इक्ष्वाकु लोग अज्ञात हो गए थे। अतः इन शासनों का समय लगभग इस प्रकार होगा—

चाटमूल प्रथम (सन् २२०—२३० ई०)
पुरिसदत्त (सन् २३०-२५० ई०)
चाटमूल द्वितीय (सन् २५०-२६० ई०)

श्रीपर्वत और वेंगी-वाली कला

§ १७२ क. श्रीपर्वत की कला में द्वारपाल के रूप में एक शक की मूर्त्ति मिलती है[1] और इसका संबंध सातवाहन काल से ही हो सकता है। विरोधी और शत्रु शक को जो द्वारपाल का पद दिया गया है, उसी से उसका समय निश्चित हो सकता है; और एक विहार के खँडहरों में जो सातवाहन सिक्के पाए गए हैं, उनसे भी समय निश्चित हो सकता है।

१. माडर्न रिव्यू, कलकत्ता, जुलाई १९३२, पृ० ८८।

खंभों में जो मूर्त्तियाँ बनी हुई हैं, वे उसी अमरावती की कला की हैं जिसे भारतीय-कला की वेंगीवाली शाखा कहते हैं। जैसा कि अमरावती-वाले शिलालेखों (एपि० इं०, खंड १५, पृ० २६७) से प्रमाणित होता है, यह कला ईसवी सन् से कई शताब्दी पहले से चली आ रही थी। अमरावती में जो बहुत बढ़िया नक्काशी के काम हैं, वे मेरी समझ में सातवाहनों के ही समय के हैं, जिनका व्यक्तिगत नाम शियेन-ते-क या शन्ते-क (वाट्र्स Watters २. २०७) था और जो मुझे शांतकर्ण का ही बिगड़ा हुआ रूप जान पड़ता है; और शांतकर्ण शब्द सातवाहन सूची में तीन बार आया है। युआन च्वांग ने जो यह अनुश्रुति सुनी थी कि सातवाहन राजा नागार्जुन का संरक्षक था, वह तब तक प्रामाणिक नहीं हो सकती, जब तक नागार्जुन ईसा या ईसवी सन् से पहले न हुआ हो। युआन-च्वांग ने लिखा है कि मूल स्तूप अशोक का बनवाया हुआ था। इक्ष्वाकुओं ने जो काम किया था, वह सातवाहनों की नकल थी। केवल शातकर्णि द्वितीय ही इतना संपन्न था कि वह अशोक के आंध्र देशवाले स्तूप को अलंकृत कर सकता। उसका शासनकाल भी बहुत विस्तृत था (उसने ई० पू० सन् १०० से सन् ४४ तक राज्य किया था। देखो बिहार-उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी का जरनल, खंड १६, पृ० २५८)। और अशोक के स्तूप को अलंकृत करने के लिये उसी को यथेष्ट समय मिला था। फिर युआन-च्वांग ने भी यही लिखा है कि वह सातवाहन राजा बहुत दीर्घजीवी था और उसके पुत्र का शासन-काल अमरावती में एक स्थान पर अंकित है (देखो ल्यूडर्स नं० १२४८) यह भी प्रवाद है कि स्तूप बनवाने में जब राजा शांतक सातवाहन का खजाना खाली हो गया, तब नागार्जुन ने पहाड़ी में से निकालकर उसे बहुत सा सोना दिया था। और हो सकता है कि इस जनश्रुति का

मूल यह हो कि नागार्जुन ने ही सबसे पहले मैसूर या बालाघाट-वाली सोने की खान का पता लगाया हो। नागार्जुन ने अपने दीर्घ जीवन में जिन बहुत-सी विद्याओं का ज्ञान प्राप्त किया था, उनमें धातुओं और रसायन की विद्याएँ भी थीं।

१६. पल्लव और उनका मूल

भारतीय इतिहास में पल्लवों का स्थान

§ १७३. जो पल्लव लोग सातवाहनों के अंतिम अवशिष्टों अर्थात् इक्ष्वाकुओं और चुटुओं को दबाकर और अधिकारच्युत करके स्वयं उनके स्थान पर बैठे थे, उनका भारतीय इतिहास में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण स्थान है। उन्हें दक्षिण भारत के वाकाटक और गुप्त ही समझना चाहिए। जिस प्रकार उत्तर भारत में वाकाटकों ने संस्कृत का फिर से प्रचार किया था, उसी प्रकार दक्षिण भारत में पल्लवों ने किया था। और जिस प्रकार उत्तर भारत में वाकाटकों ने शैव धर्म को राजकीय धर्म बनाया था, उसी प्रकार पल्लवों ने उसे दक्षिण में राजकीय धर्म बनाया था। जिस प्रकार गुप्तों ने उत्तरी भारत में वैष्णव धर्म को ऐसा स्थायी रूप दिया था कि वह आज तक प्रचलित है, उसी प्रकार पल्लवों ने दक्षिणी भारत में शैव धर्म की ऐसी जबरदस्त छाप बैठाई थी कि वह धर्म आज तक वहाँ प्रचलित है। जिस प्रकार वाकाटकों और गुप्तों ने समस्त उत्तरी भारत को मिलाकर एक किया था, उसी प्रकार पल्लवों ने दक्षिणी भारत में वह एकता स्थापित की थी जो विजय नगर के अंतिम दिनों तक ज्यों की त्यों बनी रही थी। जिस प्रकार वाकाटकों और गुप्तों ने उत्तर भारत को तक्षण-कला और स्थापत्य से अलंकृत किया था, उसी प्रकार पल्लवों ने दक्षिणी भारत को तक्षण और स्थापत्य से सुशोभित

किया था। उनकी वह प्रणाली वास्तव में समस्त भारतवर्ष अर्थात् समस्त भारत और द्वीपस्थ भारत के लिये सार्वदेशिक, सामाजिक प्रणाली बन गई थी। जो एकता स्थापित करने में अशोक को भी विफल मनोरथ होना पड़ा था, वह एकता वाकाटकों और पल्लवों के समय में भारत में पूर्ण रूप से स्थापित हो गई थी। और सभ्यता की वही एकता बराबर आज तक चली आ रही है। जो कांची चोलों की पुरानी राजधानी थी और जो उस समय पवित्र आर्यभूमि के बाहर मानी जाती थी, उसे इन पल्लवों ने दूसरी काशी बना डाला था और उनके शासन में रहकर दक्षिणी भारत भी हिंदुओं का उतना ही पवित्र देश बन गया था, जितना पवित्र उत्तरी भारत था। जो भारतवर्ष खारवेल के समय में कदाचित् उत्तरी भारत तक ही परिमित था[1], उसकी अब एक ऐसी नई व्याख्या बन गई थी जिसके अनुसार कन्याकुमारी तक का सारा देश उसके अंतर्गत आ जाता था। पहले आर्यावर्त्त और दक्षिणापथ दोनों एक दूसरे से बिलकुल अलग माने जाते थे; पर अब उनका एक ही संयुक्त नाम भारतवर्ष हो गया था[2]। और विष्णुपुराण में हिंदू इतिहास लेखक ने इस आशय का एक राष्ट्रीय गीत बनाकर सम्मिलित कर दिया था—

"भारतवर्ष में जन्म लेनेवालों को देवता भी बधाई देते और उनसे ईर्ष्या करते हैं। स्वर्ग में देवता लोग भी यह गाते हैं कि

---

१. एपिग्राफिया इंडिका, खंड २०, पृ० ६२, पंक्ति १०।

२. विष्णुपुराण, खंड २, अ० ३, श्लोक १—२३।

भारतवर्ष में जन्म लेनेवाले पुरुष धन्य हैं। और हम लोग भी उसी देश में जन्म लें[१]।"

अब लोगों का वह पुराना आर्योंवाला दृष्टिकोण नहीं रह गया था और उसके स्थान पर उनका दृष्टिकोण "भारतीय" हो गया था और लोग "भारती संततिः" पद का प्रयोग करने लगे थे, जिसके अंतर्गत इस देश में जन्म लेनेवाले सभी लोग आ जाते थे, फिर चाहे वे आर्य हों और चाहे अनार्य[२]।

पल्लवों का उदय नागों के सामंतों के रूप में हुआ था।

§ १७४. जिन पल्लवों ने दक्षिण को पवित्र हिंदू देश बनाया था, वे ब्राह्मण थे; और जैसा कि उन्होंने गर्वपूर्वक अपने शिला-लेखों में कहा है, उन लोगों ने विकट तथा उग्र राजनीतिक कार्य करके अपनी मर्यादा बढ़ाई थी और वे क्षत्रिय बन गए थे। उनका यह कथन बिलकुल ठीक है। पल्लव राजवंश के संस्थापक का नाम वीरकूर्च था और उसका विवाह नाग सम्राट् की कन्या और नाग राज-कुमारी के साथ हुआ था और इसीलिये वह पूर्ण राजचिन्हों से अलंकृत हुआ था[३]। उन दिनों अर्थात् तीसरी शताब्दी के उत्त-रार्द्ध में जो नाग सम्राट् था, वह भार-शिव नाग था जिसका राज्य नागपुर और बस्तर से होता हुआ ठेठ आंध्र देश तक जा पहुँचा था। वीरकूर्च (अथवा वीरकोर्च) के पौत्र का एक शिलालेख

---

१. उक्त, २४-२६।

२. उक्त, श्लोक १७।

३. यः फणीन्द्रसुतया महाग्रहीद्राजचिन्ह मखिलं यशोधनः। South Indian Inscriptions, २, ५०८।

आंध्र देश में मिला है जिसमें वह पल्लव राजवंश का मूल पुरुष कहा गया है; और उसके नाम के साथ सामंतों वाली "महाराज" की उपाधि दी गई है; और उसका वर्णन इस प्रकार किया गया है कि यद्यपि वह ब्राह्मणों के सर्वोच्च लक्षणों से युक्त (परम ब्रह्मण्य) था, तथापि उसने क्षत्रिय का पद प्राप्त किया था[1]। और इस प्रकार वह भार-शिव साम्राज्य का एक सदस्य और अंग था और उसे उप-राज का पद प्राप्त था। स्वयं आंध्र देश में इससे पहले और कोई नाग वंश नहीं था। वहाँ तो इक्ष्वाकु[2] लोग थे और उनसे भी पहले सातवाहन थे।

---

१. परमब्रह्मण्यस्य स्वबाहुबलार्ज्जितक्षात्रतपोनिधेर्विधिविहितसर्व्व-मर्यादस्य। एपिग्राफिया इंडिका १, ३९८ (दर्शी-वाले ताम्रलेख)। यहाँ महाराज को वीरकोर्च्च वर्म्मन कहा गया है। यही वह सबसे पुराना अभिलेख है जिसमें उसका नाम आया है।

२. कृष्णा जिले में बृहत् पलायनों का एक वंश था (एपि० इं० ६, ३१५) और इस वंशवाले कदाचित् इक्ष्वाकुओं के अथवा आरंभिक पल्लवों के सामंत थे। जयवर्म्मन् बृहत् पलायन के पहले या बाद में उसके वंश का और कोई पता नहीं मिलता। इसके ताम्रलेखों के अक्षर पल्लव युवराज शिवस्कंद वर्म्मन् के ताम्रलेख के अक्षरों से मिलते हैं (एपि० इं०, ६, ८४)। यहाँ यह एक प्रश्न उत्पन्न होता है कि क्या बृहत् फल से प्रसिद्ध दक्षिणी वंश बृहत्-बाण का ही अभिप्राय तो नहीं है, क्योंकि बाण के अग्र भाग को भी फल ही कहते हैं? मयूर शर्म्मन् के समय में बृहत् बाण लोग पल्लवों के सामंत थे (एपि० इं०, ८, ३२)। जान पड़ता है कि कदाचित् "बाण" और "फल" दोनों ही शब्द किसी तामिल शब्द के अनुवाद हैं।

जिन नागों ने वीरकूर्च पल्लव को उपराज के पद पर प्रतिष्ठित किया था, वे अवश्य ही साम्राज्य के अधिकारी रहे होंगे और अवश्य ही आंध्र राज्यों की सीमा पर के होंगे और ये सब बातें केवल साम्राज्यभोगी भार-शिव नागों में ही दिखाई देती हैं।

सन् ३१० ई० के लगभग नाग साम्राज्य में आंध्र

§ १७५. यहाँ हमें बौद्ध इतिहास से सहायता मिलती है और उससे कई बातों का समर्थन होता है। श्याम देश के बौद्ध इतिहास के अनुसार सन् ३१० ई० में आंध्र देश नाग राजाओं के अधिकार में था और उन्हीं में महात्मा बुद्ध के उस दाँत का कुछ अंश सिंहल ले जाने की आज्ञा प्राप्त की गई थी जो आंध्र देश के दंतपुर नामक स्थान में था[1]। आंध्र देश में इस स्थान को मजेरिक कहते हैं जो मेरी समझ में गोदावरी की उस शाखा का नाम है जिसे आजकल मंझिर कहते हैं[2]। बौद्धों ने जिस "नाग" राजा का वर्णन किया है, वह पल्लव राजा होना चाहिए जो नाग साम्राज्य के अधीन था; और उस समय (अर्थात् सन् ३०० ई० के लगभग) नाग सम्राट् था और उस नाग राजकुमारी के गर्भ से उत्पन्न हुआ था जिसके साथ वीरकूर्च ने विवाह किया था (देखो § १८२ और उसके आगे)।

---

१. कनिंघम कृत Ancient Geography of India (१६२४ वाला संस्करण) पृ० ६१२।

२. उक्त ग्रंथ, पृ० ६०५. कनिंघम का विचार है कि जिस स्तूप से महात्मा बुद्ध का दाँत निकालकर स्थानांतरित किया गया था, वह अमरावती वाला स्तूप ही है।

§ १७६. आखिर ये पल्लव कौन थे ? जब से पल्लवों के ताम्र-लेखों से पल्लव राजवंश का पता चला है, तभी से अनेक विद्वानों ने इस प्रश्न की मीमांसा करने का प्रयत्न किया है। लेकिन फिर भी पल्लव संबंधी रहस्य का अभी तक कुछ भी पता नहीं चला है। कुछ दिनों यह प्रथा सी चल गई थी कि जिस राजवंश के संबंध में कुछ पता नहीं चलता था, उसके संबंध में यही समझ लिया जाता था कि उस राजवंश के लोग मूलतः विदेश से आए हुए थे; और इसी फेर में पड़कर लोगों ने पल्लवों को पार्थियन मान लिया था। परंतु इतिहासज्ञों को इससे संतोष नहीं होता था और बहुत कुछ अपने अंतःकरण की प्रेरणा से ही वे लोग इस परिणाम पर पहुँचे थे कि पल्लव लोग इसी देश के निवासी थे। परंतु वे लोग या तो उन्हें द्रविड़ समझते थे और या यह समझते थे कि लंका या सिंहल के द्रविड़ों के साथ उनका संबंध था। ये सभी सिद्धांत स्थित करने में उन लिखित प्रमाणों और सामग्री की उपेक्षा की गई थी जो किसी प्रकार के वाद-विवाद के लिये कोई स्थान ही बाकी नहीं छोड़ती। इतिहासज्ञों के द्वारा जिस प्रकार की दुर्दशा शुंगों की हुई थी, उसी प्रकार की दुर्दशा पल्लवों को भी उनके हाथों भोगनी पड़ी वस्तुतः पल्लव लोग बहुत अच्छे और कुलीन ब्राह्मण थे; परंतु वे अपनी इस वास्तविक और सच्ची मर्यादा से बंचित कर दिए गए थे। सब लोगों ने कह दिया था कि शुंग भी विदेशी ही थे। पर अंत में मैंने यह सिद्ध कर दिखलाया था कि शुंग लोग वैदिक ब्राह्मण थे और उन्होंने एक ब्राह्मण साम्राज्य की स्थापना की थी; और यह एक ऐसा निष्कर्ष है जिसे अब सभी जगह के लोगों ने बिलकुल ठीक मान लिया है। उनके मूल की कुंजी इस देश के

पल्लव कौन थे

सनातनी साहित्य में मिली थी। पल्लवों की जाति और मूल आदि निर्णय करने के लिये भी हमें उसी प्रणाली का प्रयोग करना चाहिए। पल्लवों के रहस्य का उद्घाटन करनेवाली कुंजी पुराणों के विंध्यक इतिहास में बंद है। वह कुंजी इस प्रकार है—साम्राज्य-भोगी विंध्यकों अर्थात् साम्राज्य-भोगी वाकाटकों की एक शाखा के लोग उस आंध्र के राजा हो गए थे जो मेकला के वाकाटक प्रांत के साथ संबद्ध हो गया था। मैंने यह निश्चय किया है कि यह मेकला वही सप्त कोशला वाला प्रांत था जो उस मैकल पर्वत-माला के नीचे था जो आज-कल हमारे नक्शों में दिखलाई जाती है, अर्थात् जहाँ आज-कल रायपुर का अँगरेजी जिला और बस्तर की रियासत है। वाकाटक साम्राज्य के संस्थापक विंध्यशक्ति के समय से लेकर समुद्रगुप्त की विजय के समय तक आंध्र देश के इन वाकाटक अधीनस्थ राजाओं की सात पीढ़ियों ने राज्य किया था। इस प्रकार यहाँ हमें एक ऐसा सूत्र मिल जाता है जिससे हम यह पता लगा सकते हैं कि ये पल्लव कौन थे। दूसरा सूत्र वाकाटकों की जाति और गोत्र है। वाकाटकों के शिलालेखों से हमें यह बात ज्ञात हो चुकी है कि वे लोग ब्राह्मण थे और भार-द्वाज गोत्र के थे। तीसरी बात यह है कि पल्लव लोग आर्यावर्त्त के थे और उनकी भाषा उत्तरी थी, द्रविड़ नहीं थी। चौथी बात विंध्यशक्ति का समय और वंश है। और पाँचवीं बात यह है कि जिस समय विंध्यशक्ति का उदय हुआ था, उस समय आर्यावर्त्त तथा मध्यप्रदेश पर नाग सम्राट् राज्य करते थे और विंध्यशक्ति उन्हीं के कारण और उन्हीं लोगों में से अर्थात् किलकिला नागों में से निकलकर सबके सामने आया था, क्योंकि उसके संबंध में कहा गया है कि 'ततः किलकिलेभ्यश्च विंध्यशक्तिर्भविष्यति'। विंध्यशक्ति के राजा और सम्राट् किलकिला नाग अर्थात् भार-

शिव नाग थे (देखो § ११ और उसके आगे)। अब हमें यह देखना चाहिए कि विंध्यकों के आंध्र अधीनस्थ राजाओं में पहचान के ये पाँचों लक्षण कहाँ मिलते हैं, और हम कह सकते हैं कि ये पाँचों लक्षण पल्लवों में मिलते हैं। सन् २५० ई० के लगभग तक आंध्र देश में पूर्वी समुद्र-तट पर अवश्य ही इक्ष्वाकु राजा राज्य करते थे और उन्हीं के सम-कालीन चुटु सातवाहन थे जो पश्चिमी समुद्र-तट पर राज्य करते थे। विंध्यशक्ति का समय सन् २४८ (अथवा २४४) से २८८ ई० तक है। इस समय में हम देखते हैं कि पल्लवों ने इक्ष्वाकुओं और चुटुओं को दबाकर उनके स्थान पर अधिकार कर लिया था। पल्लवों ने जो दान किए थे और जो अभिलेख आदि सन् ३०० ई० के लगभग अथवा उससे कुछ पहले[1] ताम्रपत्रों पर उत्कीर्ण कराए थे, उनमें वे अपने आपको भारद्वाज कहते हैं; और इस वंश के आगे के जो अभिलेख आदि मिलते हैं, उनसे यह बात और भी अधिक स्पष्ट हो जाती है कि पल्लव लोग भारद्वाज गोत्र के थे। वे लोग द्रोणाचार्य और अश्वस्थामा के वंश के भारद्वाज थे; और इसलिये वे लोग भी उसी ब्राह्मण गोत्र के थे जिसका विंध्यशक्ति था। उनके ताम्रलेखों में

---

१. मिलाओ कृष्णशास्त्री का यह मत—'शिवस्कंद वर्म्मन् और विजयस्कंद वर्म्मन् के प्राकृत भाषा के राजकीय घोषणापत्र यदि और पहले के नहीं हैं, तो कम से कम ईसवी चौथी शताब्दी के आरंभ के तो अवश्य ही हैं"। (एपिग्राफिया इंडिका, खंड १५, पृ० २४८) और उनके इस कथन से मैं पूर्ण रूप से सहमत हूँ। वह लिखावट नाग शैली की है जिनका दक्षिण भारत में पल्लवों ने पहले-पहल प्रचार किया था। अक्षरों के ऊपरी भाग यद्यपि सन्दूकनुमा या चौकोर नहीं हैं, परंतु फिर भी उन पर शीर्ष-रेखाएँ अवश्य हैं।

उनकी भाषा प्राकृत या संस्कृत है, द्रविड़ नहीं है। अपने आरंभिक ताम्रलेखों में उन लोगों ने प्राकृत के जिस रूप का व्यवहार किया है, वह रूप उत्तरी भारत का है। थोड़े ही दिनों बाद अर्थात् तीसरी पीढ़ी में और नाग साम्राज्य का अंत होने के उपरांत तत्काल ही वे लोग संस्कृत का व्यवहार करने लगे थे, जिसकी शैली वाकाटकों की संस्कृत शैली ही है। साम्राज्य-भोगी वाकाटकों की भाँति वे लोग भी शैव थे। जैसा कि हम अभी ऊपर बतला चुके हैं, पल्लव-वंश के अभिलेखों में कहा गया है कि जब पल्लव वंश के मूल पुरुष का एक नाग राजकुमारी के साथ विवाह हुआ था, तब नाग सम्राट् ने इस वंश के मूल पुरुष को राजा बना दिया था। विंध्यशक्ति के इन वंशजों के संबंध में, जो समुद्रगुप्त के समय तक आंध्र देश में राज्य करते थे, पुराणों में कहा गया है कि इनकी सात पीढ़ियों ने राज्य किया था, और समुद्रगुप्त के समय तक के आरंभिक पल्लवों की सात पीढ़ियाँ हुई थीं (देखो § १८३)। इस प्रकार पहचान के सभी लक्षण वाकाटकों की बातों से मिलते हैं। उन दोनों का गोत्र एक ही है और उनकी भाषा, धर्म, समय और संवत् और उनका नागों के अधीन होना आदि सभी बातें पूरी तरह से मिलती हैं। और पुराणों ने विंध्यक वंश की आंध्र-वाली शाखा के संबंध में जितनी पीढ़ियाँ बतलाई हैं, समुद्रगुप्त के समय तक पल्लवों की उतनी ही पीढ़ियाँ भी होती हैं। इस प्रकार इनकी पहचान के संबंध में संदेह होने का कुछ भी स्थान बाकी नहीं रह जाता। पल्लव लोग वाकाटकों की ही एक शाखा के थे। और जब वे लोग अपने अभिलेखों आदि में यह कहते हैं कि हम लोग द्रोणाचार्य और अश्वत्थामा के वंशज हैं, तब वे मानों एक सत्य अनुश्रुति का ही उल्लेख करते हैं। वाकाटक लोग भारद्वाज थे और इसलिये वे द्रोणाचार्य और

अश्वत्थामा के वंश के थे। और मैंने स्वयं बुंदेलखंड में वाकाटकों के मूल निवास-स्थान बागाट नामक कस्बे में जाकर यह देखा है कि वह स्थान अब तक द्रोणाचार्य का गाँव कहलाता है, और ये वही द्रोणाचार्य थे जो कौरवों और पांडवों को अस्त्र-विद्या की शिक्षा देते थे (§ ५६-५७)। कला और धर्म के क्षेत्र में पल्लवों की जो उत्तर भारतीय संस्कृति देखने में आती है, और जिसके कारण उनका वंश दक्षिणी भारत का सबसे बड़ा राजवंश समझा जाता है, उस संस्कृति का रहस्य इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है। पल्लव लोग न तो विदेशी ही थे और न द्रविड़ ही थे, बल्कि वे उत्तर की ओर से गए हुए उत्तम और कुलीन ब्राह्मण थे और उनका पेशा सिपहगरी का था।

पल्लव

§ १७७. गंग-वंश इस बात का उदाहरण है कि वंशों का कुछ ऐसा नाम रख लिया जाता था, जिसका न तो गोत्र के साथ कोई संबंध होता था और न वंश के संस्थापक के नाम के साथ। संभवतः इसी प्रकार वंश का यह "पल्लव" नाम भी रख लिया गया था। 'पल्लव" शब्द का अर्थ होता है—शाखा; और जान पड़ता है कि इस वंश का यह नाम इसलिये रख लिया गया था कि यह भी साम्राज्य भोगी सातवाहनों की एक छोटी शाखा, चुटुओं की तरह थी, और इस वंशवालों ने सातवाहनों को दबाकर उनके स्थान पर अधिकार कर लिया था। साम्राज्य भोगी सातवाहनों के वंश के साथ चुटुओं का जो संबंध था, वही संबंध पल्लवों का साम्राज्य-भोगी भारद्वाज वाकाटकों के साथ था; अर्थात् यह भी वाकाटकों के वंश की एक शाखा ही थी। पहले पल्लव राजा का नाम वीरकूर्च था। कूर्च शब्द का अर्थ होता है—टहनियों का

गुच्छा या मुट्ठा; और इसका भी आशय बहुत से अंशों में जो "पल्लव" शब्द का होता है। असल नाम "वीर" जान पड़ता है जो आगे चलकर उसके पोते वीरवर्म्मन् के नाम में दोहराया गया है (देखो § १८१ और उसके आगे)। विंध्यशक्ति के दूसरे लड़के का नाम प्रवीर था जो कदाचित् छोटा था, क्योंकि उसने बहुत दिनों तक शासन किया था। जिस प्रकार प्रवीर ने अपने पुत्र का विवाह नाग सम्राट् की कन्या के साथ किया था और इस प्रकार नाग साम्राज्य पर अधिकार प्राप्त किया था, उसी प्रकार वीर ने भी एक नाग राजकुमारी के साथ विवाह किया था और इस प्रकार वह आंध्र देश का राजा बनाया गया था। संभवतः उसका पिता नागों का सेनापति रहा होगा और उसी ने आंध्र देश पर विजय प्राप्त की होगी। पल्लव शिलालेख में यह बात बहुत ठीक कही गई है कि वीरकूर्च के पूर्वज नाग सम्राटों को उनके शासन कार्यों में सहायता दिया करते थे; और इसका मतलब यह होता है कि वे लोग नाग साम्राज्य के अफसर या प्रधान कर्मचारी थे। हम यह बात पहले ही जान चुके हैं कि विंध्यशक्ति भी पहले केवल एक अफसर या प्रधान कर्मचारी था और कदाचित् नाग सम्राटों का प्रधान सेनापति था (§ ५९)। नाग राजा के शासन-कार्य के भार के संबंध में शिलालेख में "भार" शब्द आया है[1] और भार-शिव नाग में जो "भार" शब्द है, वह उक्त "भार" शब्द की प्रतिध्वनि भी हो सकता है और नहीं भी हो सकता।

---

१. भू-भार-खेदालस-पन्नगेन्द्र-साहाय्य-निष्णात-भुजार्गलानाम्। वेलुरपलैयम् वाले प्लेट, श्लोक ४, S. I. I. २. ५०७-५०८। [स्थान नाम भू भारा के संबंध में देखो आगे परिशिष्ट क।]

§ १७८. पल्लवों ने स्वभावतः साम्राज्यभोगी वाकाटकों के राज-चिह्न धारण किए थे और यह बात उनकी मोहर (S. I. I. २. ५२१) से भी और दक्षिण भारत के साम्राज्य-चिह्नों के परवर्त्ती इतिहास से भी सिद्ध होती है (§ ६१ और पाद-टिप्पणियाँ तथा § ८६)। पल्लवों की मोहर पर भी गंगा और यमुना की मूर्तियाँ अंकित हैं और इन मूर्त्तियों के संबंध में हम जानते हैं कि ये वाकाटकों के राज-चिह्न हैं। मकर तोरण भी कदाचित् दोनों में समान रूप से प्रचलित था[1]। शिव का नंदी या बैल भी दोनों में समान रूप से रहता था, जिसका मुँह बाईं ओर होता था और जो स्वयं दाहिनी ओर होता था[2]।

पल्लव राज चिह्न

§ १७९. पल्लवों और वाकाटकों में कभी कोई संघर्ष नहीं हुआ था। आरंभिक पल्लवों ने कभी अपने सिक्के नहीं चलाए थे। दूसरे राजा शिवस्कंदवर्म्मन् ने एक नई राजकीय उपाधि का प्रचार किया था। वह अपने आपको धर्म-महाराजाधिराज कहने लगा था, जिसका अर्थ होता है—धर्म के अनुसार महा-

धर्म-महाराजाधिराज

---

१. एपिग्राफिया इंडिका, खंड ७, पृ० १४४ में और रुद्रसेन के सिक्के (§ ६१ और ८६) में पल्लव, मोहर पर देखो—मकर का खुला हुआ मुँह।

२. देखो एपिग्राफिया इंडिका, खंड ८, पृ० १४४ में यह मोहर और इस ग्रंथ के दूसरे भाग में दिए हुए वाकाटक सिक्कों के चित्रों में बना हुआ नंदी। परवर्त्ती पल्लव अभिलेखों में यह नंदी बैठा या लेटा हुआ दिखलाया गया है।

राजाओं का भी अधिराज। इससे पहले सातवाहनों ने कभी इस उपाधि का प्रयोग नहीं किया था। यह उपाधि उत्तर की ओर से लाई हुई थी अथवा कुशन लोग जो अपने आपको "दैवपुत्र शाहानुशाही" कहते थे, उसी का यह हिंदू संस्करण था अथवा उसी के जोड़ की यह हिंदू उपाधि थी। पल्लव राजा अपने आपको दैवपुत्र नहीं कहता था, बल्कि उसका दावा यह था कि मैं सनातनी धर्म अथवा सनातनी सभ्यता का पक्का अनुयायी हूँ; और यह बात हिंदू राष्ट्रीय संघटन के नियम के बिलकुल अनुरूप थी। दैवपुत्र के स्थान पर उसने "धर्म" रखा था। यहाँ यह बात भी ध्यान में रखनी चाहिए कि इक्ष्वाकुओं ने कभी इस उपाधि का प्रयोग नहीं किया था, बल्कि वे लोग पुरानी हिंदू शैली के अनुसार अपने पुराने स्वामी सातवाहनों की तरह अपने आपको केवल "राजन्" ही कहते थे[1]। इस प्रकार हम देखते हैं कि पल्लवों ने आरंभ से ही उत्तर भारत की साम्राज्य-वाली भावना के अनुसार ही सब कार्य किए थे। शिवस्कंद वर्म्मन् प्रथम के जीवन-काल में अथवा उसकी मृत्यु के उपरांत तुरंत ही जब विंध्यशक्ति की आर्यावर्त्तवाली शाखा ने साम्राज्य पद प्राप्त किया था, तब भी यही धर्म के अनुसार सर्व-प्रधान शासक होने का विचार और भी अधिक विस्तृत रूप में देखने में आता है। समस्त भारत के सम्राट्

---

१. एक इक्ष्वाकु अभिलेख (एपि० इं०, खंड २०, पृ० २३) में तीनों राजाओं को "महाराज" कहा गया है। यह अंतिम उल्लेखों में से एक है। कदाचित् उस समय उनकी स्वतंत्रता नष्ट हो गई थी। पहले वे लोग "महाराज" ही थे। इक्ष्वाकुओं में सबसे पहले वीरपुरुषदत्त ने ही "राजन्" की उपाधि धारण की थी। उसका पुत्र केवल "महाराज" था।

का वही धर्म था जिसका महाभारत में पूर्ण रूप से विधान किया गया है।

जब मुख्य वाकाटक शाखा ने सम्राट् की उपाधि धारण की, तब पल्लव-वंश ने स्वभावतः "महाराजाधिराज" की पदवी का प्रयोग करना छोड़ दिया। हम लोगों के समय में दक्षिण भारत में साम्राज्य की शैली ग्रहण करनेवाला शिवस्कंद वर्म्मन् पहला और अंतिम व्यक्ति था[1]। यह बात स्वयं समुद्रगुप्त के शिलालेख से ही प्रकट होती है कि उससे पहले जो शिवस्कंद वर्म्मन् का अंत हो चुका था, क्योंकि उसने अपने शिलालेख में विष्णुगोप को कांची का शासक लिखा है। इस प्रकार शिवस्कंद वर्म्मन् का समय आवश्यक रूप से सम्राट् प्रवरसेन प्रथम के शासन-काल में पड़ता है। प्रवरसेन प्रथम के समय से ही पल्लव राजा लोग धर्म महाराज कहलाते चले आते थे और पहले गंग राजा को, जो प्रवरसेन के समय में गद्दी पर बैठाया गया था, धर्म-अधिराज की उपाधि का प्रयोग करने की अनुमति दी गई थी (§ १९०)। धर्म-महाराज की उपाधि केवल दक्षिणी भारत में पल्लव और कदंब राजा ही धारण करते थे और वहीं से यह उपाधि सन् ४०० ई० से पहले चंपा (कंबोडिया) गई थी[2]।

---

१. देखो कीलहार्न की Southern List. एपिग्राफिया इंडिका, खंड ७, पृ० १०५।

२. हम देखते हैं कि चंपा (कंबोडिया) में राजा भद्रवर्म्मन् यह उपाधि धारण करता था। देखो आर० सी० मजुमदार कृत Champa (चंपा), तीसरा खंड, पृ० ३।

§ १८०. शिवस्कंद वर्म्मन् जिस समय युवराज था, उस समय उसने कदाचित् उप-शासक की हैसियत से (युव-महाराज भारदायसगोत्तो पल्लवानाम् शिवस्कंद-वम्मो—एपिग्राफिया इंडिका, खंड ६, पृ० ८६) अपने निवास-स्थान कांचीपुर से एक भूमि-दान के संबंध में एक राजाज्ञा प्रचलित की थी। जो भूमि दान की गई थी, वह आंध्र पथ में थी और वह आज्ञा उसके पिता के शासन-काल के दसवें वर्ष में धान्यकटक नामक स्थान के अधिकारी के नाम प्रचलित की गई थी। दान संबंधी उस राजाज्ञा से सूचित होता है कि दूसरी पीढ़ी में पल्लवों का राज्य दूसरे तामिल राज्यों को दबा लेने के कारण इतना अधिक बढ़ गया था कि वह शिवस्कंद वर्म्मन् की उच्च अभिलाषा के अनुरूप हो गया था। धर्ममहाराजाधिराज शिवस्कंद वर्म्मन् ने अपने पिता[1] को "महाराज बप्प स्वामिन्" (सामी) लिखा है जिससे सूचित होता है कि उसका पिता अपने आरंभिक जीवन में एक सामंत मात्र था और अपने वंश में सबसे पहले शिवस्कंद वर्म्मन् ने ही पूरी राजकीय उपाधि धारण की थी। उसके पिता ने दस वर्ष या इससे कुछ अधिक समय तक शासन किया था; क्योंकि युव-महाराज शिवस्कंद वर्म्मन् ने जो दान किया था, वह अपने पिता के शासन-काल के दसवें वर्ष में किया था।

---

१. एपिग्राफिया इंडिका, खंड १, पृ० ६ में कहा गया है कि बप्पा ने सोने की करोड़ों मोहरें लोगों को बाँटी थीं; और यह उल्लेख वास्तव में उसके अश्वमेध यज्ञ के संबंध में होना चाहिए। मिलाओ चाटमूल प्रथम का वर्णन, एपिग्राफिया इंडिका, खंड २०, पृ० १६। एपि० इं० १. ८ से पता चलता है कि उसका पुत्र अपने आपको "पल्लवों के वंश का" कहता था। एपिग्राफिया इंडिका ६, ८२।

जान पड़ता है कि उसका पिता नागों का सामंत था और उसने इक्ष्वाकुओं की सु-संघटित और व्यवस्थित सरकार या राज्य का उत्तराधिकार प्राप्त किया था, क्योंकि इन दोनों प्राकृत ताम्रलेखों और उसके पुत्र के तथा इक्ष्वाकुओं के दूसरे लिखित प्रमाणों से यही बात सिद्ध होती है।

§ १८१. वीरवर्म्मन् और उसका पुत्र स्कंदवर्म्मन् द्वितीय भी प्रवरसेन प्रथम के सम-कालीन ही थे। स्कंदवर्म्मन् द्वितीय के समय में पल्लव दरबार की भाषा प्राकृत से बदलकर संस्कृत हो गई थी। उसकी पुत्र-वधू ने जो दान किया था, वह उसके शासन-काल में ही किया था (एपिग्राफिया इंडिका, खंड ७, पृ० १४३) और उसका उल्लेख उसने प्राकृत भाषा में किया है; परंतु स्वयं स्कंदवर्म्मन ने (एपि० इं०, १५) और उसके पुत्र विष्णुगोप ने संस्कृत का व्यवहार किया है। और संस्कृत का यह प्रयोग उसके बाद की पीढ़ियों में बराबर होता रहा था। यदि कांची का युव-महाराज विष्णुगोप (इंडियन एंटिक्वेरी, खंड ५, पृ० ५०-१५४) वही समुद्रगुप्तवाला विष्णुगोप हो—और ऐसा होना निश्चित जान पड़ता है—तो हमें इस बात का एक और प्रमाण मिल जाता है कि राजाज्ञाओं की सरकारी भाषा के इस परिवर्त्तन के साथ वाकाटकों का विशेष संबंध था और वाकाटक लोग इस भाषा-परिवर्त्तन के पूरे पक्षपाती थे। वाकाटक अभिलेखों के भार-शिव वर्णन की ही विष्णुगोप ने भी नकल की है। यथा—

यथावदाहृत अनेक-
अश्वमेधानाम् पल्लवानाम्[1]।

---

१. पृथिवीषेण और उसके उत्तराधिकारियों के शिलालेखों में जो वाकाटक इतिहास-लेखनवाली शैली पाई जाती है, वह बिलकुल साँचे

अर्थात्—पल्लव लोग जिन्होंने पूर्ण विधानों से युक्त अनेक अश्वमेध यज्ञ किए थे।

इस प्रकार संस्कृत का व्यवहार समुद्रगुप्त की विजय से पहले से ही होने लग गया था।

§ १८२. आरंभिक पल्लवों का वंश-वृक्ष स्वयं उन्हीं के उन ताम्रपत्रों से प्रस्तुत किया जा सकता है जिनकी संख्या बहुत अधिक है[1]। करीब करीब हर दूसरी पीढ़ी का हमें एक ताम्र-लेख मिलता है। उन लोगों में यह प्रथा सी थी कि सभी लोग अपने ऊपर की चार पीढ़ियों तक का वर्णन कर जाते थे। इस नियम का एकमात्र अपवाद शिव-स्कंद वर्म्मन् की राजाज्ञाएँ हैं, और इसका कारण यही है कि उसके समय तक राजाओं की चार पीढ़ियाँ ही बनी हुई थीं। यहाँ काल-क्रम से उनके दानों की सूची दे दी जाती है और साथ ही यह भी बतला दिया जाता है कि उन दानों के संबंध की आज्ञाएँ किन लोगों ने प्रचलित की थीं।

आरंभिक पल्लवों की वंशावली

मयिदवोलु, जिसके संबंध की राजाज्ञा कांचीपुर से युवमहाराज (शिव) स्कंदवर्म्मन् (प्रथम) ने (अपने पिता के शासन के १० वें वर्ष में) प्रचलित की थी।

एपि० इं० ६. ८४. प्राकृत में।

में ढली हुई शैली है और इससे सिद्ध होता है कि वह शैली साम्राज्य-भोगी वाकाटकों के समय से चली आ रही थी।

१. यह एक अद्भुत बात है कि आरंभिक पल्लवों का एक भी अभिलेख या पत्थर नहीं पाया गया है।

हीरहडगल्ली, जिसके संबंध की आज्ञा कांचीपुर से धर्ममहा

एपि० इं० १. २. प्राकृत में	राजाधिराज (शिव) स्कंदवर्म्मन् (प्रथम) ने अपने शासन-काल के ८ वें वर्ष में प्रचलित की थी।
दर्शी ... ... एपि० इं० १. ३०७, संस्कृत में	जिसके संबंध की आज्ञा 'दशनपुर राजधानी (अधिष्ठान) से महाराज वीरकोर्चवर्म्मन् के प्रपौत्र ने प्रचलित की थी।
ओमगोड़ ... एपि० इं० १५. २५१, संस्कृत में	जिसके संबंध की आज्ञा तांत्राप से महाराज (विजय) स्कंदवर्म्मन् (द्वितीय) ने अपने शासन-काल के ३३ वें वर्ष में प्रचलित की थी।

इन राजाओं के उक्त दानपत्रों में दी हुई वंशावली से इस बात का बहुत सहज में पता चल जाता है कि आरंभिक पल्लवों में कौन-कौन से राजा और किस क्रम से हुए थे। हमें इस बात का पूर्ण निश्चय है कि स्कंदवर्म्मन् प्रथम का पिता अथवा शिवस्कंदवर्म्मन् का पिता वही कुमार विष्णु था जिसने अश्वमेध यज्ञ किया था और स्कंदवर्म्मन् प्रथम का पुत्र और उत्तराधिकारी वीरवर्म्मन् था जिसका लड़का और उत्तराधिकारी स्कंदवर्म्मन् द्वितीय था। कल्पना और अनुमान के लिये यदि कोई प्रश्न रह जाता है तो वह केवल वीरकोर्च की स्थिति के संबंध का ही है, जो अवश्य ही स्कंदवर्म्मन् प्रथम से पहले हुआ होगा, क्योंकि वही पल्लव-वंश का संस्थापक था। यहाँ रायकोटा (एपि० इं०, ५, ४९) और वेलुर-पलैयम (S. I. I. २, ५०७) वाले ताम्रलेखों से हमें सहायता मिलती है। यह बात तो सभी प्रमाणों से सिद्ध है कि पल्लव-वंश

का पहला राजा वीरकोर्च या वीरकूर्च था; और शिलालेखों से पता चलता है कि उसने एक नाग-राजकुमारी के साथ विवाह किया था; और रायकोटवाले ताम्रपत्रों से पता चलता है कि स्कंदशिष्य अथवा स्कंदवर्म्मन् उसका पुत्र था जो उसी नाग महिला के गर्भ से उत्पन्न हुआ था[1]। अब हमें

---

१. कुछ पाठ्य पुस्तकों में भूल से यह मान लिया गया है कि रायकोटवाले ताम्रपत्रों से पता चलता है कि स्कंदशिष्य अश्वत्थामन् का पुत्र था और एक नाग महिला के गर्भ से उत्पन्न हुआ था। परंतु ताम्रलेखों में यह बात कहीं नहीं है। उनमें केवल यही कहा गया है कि स्कंद-शिष्य एक अधिराज था और एक नाग महिला का पुत्र था। उनमें अश्वत्थामान् का उल्लेख केवल एक पूर्वज के रूप में हुआ है।

वेलुरपलैयम-वाले ताम्रलेखों में जिस स्कंदशिष्य का उल्लेख है, वह कुमारविष्णु का पिता और बुद्धवर्म्मन् का प्रपिता था; और वह स्पष्ट रूप से स्कंदवर्म्मन् द्वितीय था, जिसका लड़का, जैसा कि हमें कुमार-विष्णु तृतीय के शिलालेख (एपि० इं०, ८, २३३) से ज्ञात होता है, कुमारविष्णु द्वितीय था। वेलुरपलैयमवाले ताम्रपत्रों के संपादक और कुछ पाठ्य पुस्तकों के लेखकों ने भूल से यह बात मान ली है कि वह (स्कंदशिष्य) वीरकोर्च का पुत्र था। परंतु वास्तव में उन ताम्रलेखों में यह बात कहीं नहीं लिखी गई है। सातवें श्लोक में स्पष्ट रूप से यह कहा गया है कि वीरकोर्च के उपरांत (ततः) और उसके वंश में स्कंद-शिष्य हुआ था। इसका यह अभिप्राय है कि वीरकूर्च और स्कंद-शिष्य के बीच में *शृंखला* टूट गई थी (मिलाओ इंडियन एंटि-क्वेरी १६. २४, १० में का ततः और उस पर कीलहार्न की सम्मति जो एपि० इं० ५ के परिशिष्ट सं० १६५, पाद-टिप्पणी और एपि० इं०

यही सिद्ध करना बाकी रह गया है कि कुमारविष्णु वही था, जिसे दर्शीवाले ताम्रलेख में वीरकोर्चवर्म्मन् कहा गया है, और तब यह सिद्ध हो जायगा कि वह स्कंदवर्म्मन् द्वितीय का वृद्ध-प्रपिता था। हम देखते हैं कि स्कंदवर्म्मन् द्वितीय ने ही सबसे पहले दानपत्रों में संस्कृत का प्रयोग करना आरंभ किया था। दर्शीवाला ताम्रपत्र, जो संस्कृत में है, उसी का प्रचलित किया हुआ जान पड़ता है। प्रभावती गुप्ता और प्रवरसेन द्वितीय के ताम्रलेख, परवर्त्ती वाकाटक ताम्रलेखों और उससे भी पहले के अशोक के शिलालेखों से हम यह बात जानते हैं कि अभिलेखों आदि में एक ही व्यक्ति के दो नामों अथवा दोनों में से किसी एक नाम का प्रयोग हुआ करता था। स्कंदवर्म्मन् प्रथम के पुत्र का नाम जो "वीर" के रूप में दोहराया गया है, उससे यह भी सिद्ध होता है कि वीरकूर्च ही कुमारविष्णु प्रथम था और वही स्कंदवर्म्मन् प्रथम का पिता था और दादा का नाम पोते के नाम में दोहराया गया था। अतः आरंभिक वंशावली इस प्रकार होगी–

१. [वीरकोर्चवर्म्मन्] कुमार विष्णु (दस वर्ष या इससे अधिक काल तक शासन किया था)

|

|

२. स्कंदवर्म्मन् प्रथम जो "शिव" कहलाता था (आठ वर्ष

---

३. ४८. में प्रकाशित हुई है)। इन भूलों और विशेषतः इनमें से अंतिम भूल के कारण पल्लव राजाओं की पहचान और उनका इतिहास फिर से प्रस्तुत करने में बहुत गड़बड़ी पैदा हो गई।

या इससे अधिक काल तक शासन किया था)

|

|

३. वीरवर्म्मन् (इसका कोई उल्लेख नहीं मिलता)

|

|

४. स्कंदवर्म्मन् द्वितीय या विजय (तेंतीस वर्ष या इससे अधिक काल तक शासन किया था)

स्कंदवर्म्मन् प्रथम ने अपने पिता का नाम नहीं दिया है, परंतु अपने पिता के नाम के स्थान पर उसने केवल "बप्प" शब्द दिया है, जिसका अर्थ है—पिता, क्योंकि बादवाले राजा भी अपने पिता के संबंध में इस "बप्प" शब्द का प्रयोग करते हुए पाए जाते हैं; यथा—बप्प भट्टारक पादभक्तः (एपिग्राफिया इंडिका, १५, २५४। इंडियन एंटिक्वेरी ५. ५१. १५५)। नाम का पता स्कंदवर्म्मन् द्वितीय के दानपत्र से चलता है (एपि० इं०, १५, २५१)। इस वंश के बहुत से परवर्त्ती अभिलेखों में बराबर यही कहा गया है कि इस वंश का संस्थापक वीरकूर्च था (और उसका नाम अधिकांश स्थानों में दो और पूर्वजों कालभर्तृ और चूतपल्लव[1] के

---

१. क्या यह वही काल-भर्तृ तो नहीं है जिसके संबंध में पुराण में कहा गया है "तेषूत्सन्नेषु कालेन" [अर्थात् जब काल द्वारा (मुरुंड आदि) परास्त हुए थे ?] यदि यही बात हो तो पुराणों के अनुसार विंध्यशक्ति का, जिसका उदय काल के उपरांत हुआ था, असल नाम चूत-पल्लव था, और ऐसी अवस्था में काल एक नाग सेनापति और विंध्यशक्ति का पूर्वज रहा होगा।

नामों के उपरांत मिलता है जिनका उल्लेख राजाओं के रूप में नहीं हुआ है) और जैसा कि अभी बतलाया जा चुका है, परवर्त्ती ताम्रलेखों में से एक में यह बात स्पष्ट रूप में कही गई है कि उसे इसलिये राजा का पद दिया गया था कि उसका विवाह नाग सम्राट् की एक राजकुमारी के साथ हुआ था। समस्त पल्लव ताम्रलेखों में वीरकूर्च का नाम केवल एक ही बार दोहराया गया है। जिस ताम्रलेख में वीरकोर्च का नाम आया है, उसकी लिपि और शैली बहुत पहले की है। स्कंदवर्म्मन् द्वितीय के पौत्र के अभिलेख से हमें स्कंदवर्म्मन् प्रथम के पिता तक के सभी नाम मिल जाते हैं; और इसलिये यह बात स्पष्ट ही है, जैसा कि अभी विवेचन हो चुका है, कि वीरकोर्च का नाम सबसे पहले और ऊपर रखा जाना चाहिए। इस बात में कुछ भी संदेह नहीं हो सकता कि वीरकोर्च पहला राजा था। और उससे भी पहले के नामों के संबंध में जो अनुश्रुति मिलती है, उसकी अभी तक पुष्टि नहीं हो सकी है। हाँ, इस बात की अवश्य पुष्टि होती है कि वीरकोर्च के पूर्वज नाग सम्राटों के सेनापति थे। और यह बात बिलकुल ठीक है, क्योंकि उनका उदय नाग-काल में हुआ था। वे लोग किसी दक्षिणी राजा के अधीन नहीं थे और जिस आंध्र देश में उनका पहले-पहल अस्तित्व दिखाई देता है, उस आंध्र देश के आस-पास कहीं कोई दक्षिणी नाग राजा भी नहीं था। हाँ, नागों का साम्राज्य आंध्र देश के बिलकुल पड़ोस में, मध्यप्रदेश में अवश्य वर्त्तमान था।

§ १८४. स्कंदवर्म्मन् द्वितीय के बाद की वंशावली की भी इसी प्रकार भली भाँति पुष्टि हो जाती है। विजयस्कंदवर्म्मन् द्वितीय के पुत्रों में एक विष्णुगोप भी था। उसका एक ताम्रलेख

मिलता है जो सिंहवर्म्मन् प्रथम के शासन-काल का है। उदयेंदिरम् वाले ताम्रलेखों (एपि० इं०, ३, १४२) से यह बात भली भाँति सिद्ध की जा सकती थी कि सिंहवर्म्मन् प्रथम इस विष्णुगोप का बड़ा भाई था; परंतु अभाग्यवश मेरी सम्मति में उदयेंदिरम् वाले प्लेट स्पष्ट रूप से बिलकुल जाली हैं; क्योंकि वे कई शताब्दी बाद की लिपि में लिखे हुए हैं। परंतु फिर भी युवराज विष्णुगोप के अभिलेख से भी हम इसी परिणाम पर पहुँचते हैं कि सिंहवर्म्मन् इस विष्णुगोप का पुत्र नहीं था, बल्कि उसका बड़ा भाई था, और गंग ताम्रलेख (एपि० इं०, १४, ३३१) से भी यही सिद्ध होता है, जिसमें यह कहा गया है कि सिंहवर्म्मन् प्रथम और उसके पुत्र स्कंदवर्म्मन् (तृतीय) ने क्रमशः लगातार दो गंग राजाओं को राजपद पर प्रतिष्ठित किया था (§ १६०)। इसके अतिरिक्त विष्णुगोप के पुत्र सिंहवर्म्मन् द्वितीय के भी दो दानपत्र मिलते हैं जिनमें वंशावली दी गई है (एपि० इं०, ८, १५६ और १५, २५४)। अब विष्णुगोप और उसके पुत्र के उल्लेखों तथा गंग ताम्रलेखों के अनुसार बाद की वंशावली इस प्रकार निश्चित होती है—
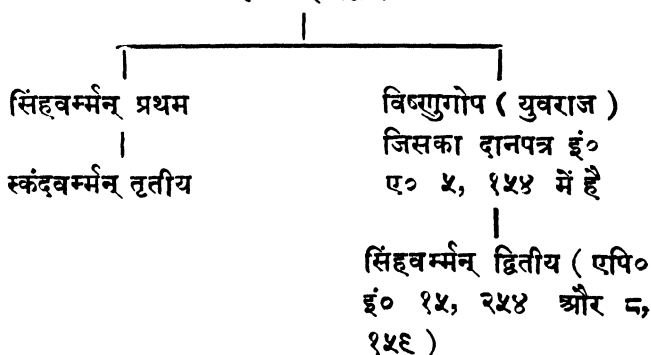
विष्णुगोप ने स्कंदवर्म्मन् प्रथम तक की वंशावली दी है, जिसका उल्लेख यहाँ बिना "शिव" शब्द के हुआ है, और उसके पिता स्कंदवर्म्मन् द्वितीय ने भी स्कंदवर्म्मन् प्रथम का उल्लेख इसी प्रकार बिना "शिव" शब्द के ही किया है[1]। सिंहवर्म्मन् द्वितीय ने वीरवर्म्मन् तक की वंशावली दी है, परंतु वीरवर्म्मन् का नाम इसके बाद और किसी वंशावली में नहीं दोहराया गया है। ये दोनों शाखाएँ वास्तव में एक में ही मिली हुई थीं और दोनों के ही राजा निरंतर एक के बाद एक करके शासन करते थे। विष्णुगोप का दानपत्र (इं० ए०, ५, १५४) उसके बड़े भाई के शासन-काल का है; और जब आगे चलकर उसके बड़े भाई के वंश में कोई नहीं रह गया, तब जान पड़ता है कि विष्णुगोप का लड़का राज्य का उत्तराधिकारी हुआ था। परंतु अभी स्कंदवर्म्मन् द्वितीय के वंशजों की एक और छोटी शाखा बची हुई थी। इस शाखा का पता दो ताम्रलेखों से लगता है (एपि० इं० ८, १४३ और एपि० इं० ८, २३३)। इनमें से पहला तो ब्रिटिश म्यूजियम वाला ताम्रलेख है जो युवमहाराज बुद्धवर्म्मन् की पत्नी चारुदेवी ने विजयस्कंदवर्म्मन्

१. जैसा कि हम चुटुओंवाले प्रकरण (§ १६१) में बतला चुके हैं, "शिव" केवल एक सम्मान-सूचक शब्द था जो नामों के आगे लगा दिया जाता था। इस वंश के नामों के साथ जो "विष्णु" शब्द मिलता है, उसका संबंध कदाचित् विष्णुवृद्ध के नाम के साथ है, जो इनके आरंभिक पूर्वजों (भारद्वाजों) में से एक था और जिसका वाकाटकों ने विशेष रूप से वर्णन किया है। यदि यह बात न हो तो फिर इस बात का और कोई अर्थ ही नहीं निकलता कि नामों के साथ "विष्णु" शब्द क्यों लगा दिया जाता था, क्योंकि यह बात परम निश्चित ही है कि इस वंशवाले शैव थे।

द्वितीय के शासन-काल में प्रचलित किया था; और दूसरा बुद्धवर्म्मन् के पुत्र कुमार विष्णु (तृतीय) ने प्रचलित किया था और जिसके दादा का नाम कुमारविष्णु द्वितीय था और जिसका परदादा विजयस्कंदवर्म्मन् था। इस प्रकार यह बात स्पष्ट हो जाती है कि जिस बुद्धवर्म्मन् को उसकी पत्नी ने स्कंदवर्म्मन् द्वितीय के शासन-काल में युव-महाराज कहा है, वह कुमारविष्णु द्वितीय का पुत्र था; और उसके संबंध में साधारणतः जो यह माना जाता है कि वह स्कंदवर्म्मन् द्वितीय का पुत्र था, वह ठीक नहीं है। वह अपने दादा का युव-महाराज था और जान पड़ता है कि उसके पिता का देहांत उसके पहले ही हो चुका था। ब्रिटिश-म्यूजियम वाले ताम्रलेख से इस बात का पता नहीं चलता कि स्कंदवर्म्मन् (द्वितीय) के साथ उसका क्या संबंध था। हम यह जानते हैं कि युवराज का पद पोतों को उनके पिता के जीवन-काल में भी दे दिया जाया करता था[१]। इस प्रकार उस समय के पल्लवों की जो पूरी वंशावली तैयार होती है, वह यहाँ दे दी जाती है (इनमें से जिन राजाओं ने शासन किया था, उन पर अंक लगा दिए गए हैं और अंक १ से ७ क तक उस समय की वंशावली पूरी हो जाती है, जिस समय का हम यहाँ वर्णन कर रहे हैं)।

१. कुमारविष्णु वीरकोर्चवर्म्मन् (एपि० इं० १५, २५१. एपि० इं० १, ३९७)

(अश्वमेधिन्) = नाग राजकुमारी (S. I. I. २,

---

१. देखो जायसवाल कृत Hindu Polity दूसरा भाग, पृ० १२५।

५०८, एपि० इं० ६, ८४) १० वर्ष या अधिक तक शासन किया

|

२. (शिव) स्कंदवर्म्मन् प्रथम (एपि० इं० ६, ८४, एपि० इं० १, २, इं० ए० ५, ५०) (अश्वमेधिन्) ८ वर्ष या इससे अधिक शासन किया

|

३. वीरवर्म्मन् (इं० ए० ५, ५०, १५४)

|

४. स्कंदवर्म्मन् द्वितीय (एपि० इं० १५, २२१, इं० ए० ५, ५०, १५४) तेंतीस वर्ष या इससे अधिक शासन किया।

|

५. सिंहवर्म्मन् प्रथम (इं० ए० ५, ५०) या अधिक तक शासन किया

७. विष्णुगोप प्रथम (इं० ए० ५, ५०, १५४) [राजकार्य देखता था, पर अभिषिक्त नहीं हुआ]

कुमारविष्णु द्वितीय एपि० इं० ८, २३३ ११ वर्ष

|

६. स्कंदवर्म्मन् तृतीय द्वितीय एपि० इं० १४, ३३१

७ (क) सिंहवर्म्मन् (एपि० इं०

१५, २५४, ८, १५६,
इं० ए० ५, १५४)
८ वर्ष या अधिक तक
शासन किया

८. (विजय) विष्णुगोप द्वितीय
M. E. R. १९१४, पृ० ८२][1]

९. बुद्धवर्म्मन्[2]
[एपि० इं० ८ ५०, १४३]

---

१. यह ताम्रलेख नरसराओपेटट-वाला ताम्रलेख कहलाता है। भारत सरकार के लिपिवेत्ता (Epigraphist) से पत्र-व्यवहार करके मैंने पता लगाया है कि यह वही ताम्रलेख है जिसे गंटूरवाला ताम्रलेख या चुरावाला ताम्रलेख कहते हैं। इस समय यह ताम्रलेख जिसके पास है, उसने इसकी प्रतिलिपि नहीं लेने दी। इस पर कोई तिथि नहीं दी है। यह दानपत्र विजय-पलोत्कट नामक स्थान से सिंह-वर्म्मन् के पुत्र महाराज विष्णुगोप वर्म्मन् के पौत्र और कंदवर्म्मन् (अर्थात् स्कंदवर्म्मन्) के प्रपौत्र राजा विजय विष्णुगोप वर्म्मन् ने उत्कीर्ण कराया था और इसमें उस दान का उल्लेख है जो उसने कुडूर के एक ब्राह्मण को दिया था। यह संस्कृत में है।

२. जान पड़ता है कि बुद्धवर्म्मन् ने नं० ८ वाले (विजय विष्णुगोप

१०. कुमारविष्णु तृतीय (एपि० इं० ८, ५०; एपि० इं० ८, १४३)	११. नंदिवर्म्मन् [S. I. I. २, ५०१, ५०८]
	१२. सिंहवर्म्मन् [S. I. I. २, ५०८]

वेलुरपलैयमवाले ताम्रलेखों (S I. I. २, ५०१) का उपयोग करते हुए हमने इस वंशावली को उस काल से भी आगे तक पहुँचा दिया है, जिस काल का हम उल्लेख कर रहे हैं। इन ताम्रलेखों से वंश के उस आरंभिक इतिहास का पता चलता है जिसका हम इस समय विवेचन कर रहे हैं। इसके अतिरिक्त और कई दृष्टियों से भी ये ताम्रलेख महत्त्व के हैं। उनसे पता चलता है कि वंश का आरंभ वीरकूर्च से होता है; और साथ ही उनमें स्कंदवर्म्मन् द्वितीय तक की वंशावली दी गई है। नंदिवर्म्मन् प्रथम के राज्यारोहण के संबंध में इससे यह महत्वपूर्ण सूचना मिलती है कि जब विष्णुगोप द्वितीय का देहांत हो गया था और दूसरे सब राजा भी नहीं रह गए थे, तब नंदिवर्म्मन् सिंहासन पर बैठा था। इसका अर्थ यह है कि जब विष्णुगोप के वंश में भी कोई नहीं रह गया और कुमारविष्णु तृतीय का वंश भी मिट गया, तब नंदिवर्म्मन् को राज्य मिला था। उदयेंदिरम्‌वाले ताम्रलेखों (एपि० इं० ३, १४२) में एक नंदिवर्म्मन् का उल्लेख है; और उसके संबंध में उनमें कहा गया है कि वह सिंहवर्म्मन्

द्वितीय) के उपरांत राज्याधिकार ग्रहण किया था, क्योंकि उसके इस वर्णन से यही सूचित होता है—भर्त्ता भुवोभूदथ बुद्धवर्म्मा, जो S. I. I. २, ५०८ में दिया है।

प्रथम के पुत्र स्कंदवर्म्मन् तृतीय के उपरांत सिंहासन पर बैठा था; परंतु जैसा कि ऊपर बतलाया जा चुका है, वे ताम्रलेख इसलिये जाली हैं कि उनकी लिपि कई सौ वर्ष बाद की है; और उस ताम्रलेख का कोई विश्वास नहीं किया जा सकता। वेलुरलैयम्वाले अभिलेख के अनुसार कुमारविष्णु द्वितीय के वंश में नंदिवर्म्मन् प्रथम हुआ था। सिंहवर्म्मन् प्रथम की मृत्यु के उपरांत उसका पुत्र स्कंदवर्म्मन् तृतीय सिंहासन पर बैठा था; और जब उसके वंश में कोई न रह गया, तब युवराज विष्णुगोप का पुत्र सिंहवर्म्मन् तृतीय सिंहासन पर बैठा था। यह प्रतीत होता है कि विष्णुगोप ने सिंहासन पर बैठना स्वीकार नहीं किया था। वह राज्य के सब कार-बार तो देखता था, परंतु उसने राजा के रूप में कभी शासन नहीं किया था (§ १८७)। नरसराओपेटवाले ताम्रलेखों (M. E. R. १९१४, पृ० ८२) के अनुसार सिंहवर्म्मन् द्वितीय ने अपने पिता का राज्य प्राप्त किया था। वयलुरवाले स्तंभ-शिलालेख में जो सूची दी है, उससे भी इस बात का समर्थन होता है[1]। बिष्णुगोप द्वितीय के उपरांत स्कंदवर्म्मन् द्वितीयवाली तीसरी शाखा के लोग राज्य के उत्तराधिकारी हुए थे। इनमें से पहले तो बुद्धवर्म्मन् और उसका पुत्र कुमारविष्णु तृतीय सिंहासन पर बैठा था और तब उसके बाद उसका चचेरा भाई नंदिवर्म्मन् राज्य का अधिकारी हुआ था। "सविष्णुगोपे च नरेंद्रबृंदे[2] गते ततोऽजायत नंदिवर्म्मा" का यही अर्थ होता है।

---

१. एपि० इं० १८, १४५; मौलिक सामग्री के रूप में इसका कुछ भी उपयोग नहीं हो सकता, क्योंकि इसमें कई सूचियाँ एक साथ मिला दी गई हैं।

२. शुद्ध पाठ वृंदे है।

विष्णुगोप प्रथम के उपरांत इस वंश में यह प्रथा चल पड़ी थी कि प्रत्येक पूर्व-पुरुष को "महाराज" कहते थे, फिर चाहे वह पूर्वपुरुष पल्लव राज-सिंहासन का उत्तराधिकारी हुआ हो और चाहे न हुआ हो, जैसा कि स्वयं विष्णुगोप प्रथम के संबंध में हुआ था। विष्णुगोप प्रथम को उसके लड़के ने तो केवल "युव-महाराज" ही लिखा था, पर उसके पोते ने उसे "महाराज" की उपाधि दे दी थी। इसी प्रकार कुमारविष्णु तृतीय ने अपने ताम्र-लेखों में अपने प्रत्येक पूर्वज को "महाराज" लिखा है। जब तक हमें उनके दान संबंधी मूल लेख न मिल जायँ, तब तक शासकों की गौण शाखा के रूप में भी हम उनके उत्तराधिकार के संबंध में कुछ भी निश्चय नहीं कर सकते। ताम्रलेखों के प्रमाण पर केवल यही कहा जा सकता है कि केवल एक ही शाखा शासक के रूप में दिखाई देती है; और अभी तक हमें इस वंश की केवल एक से अधिक शासक शाखा के अस्तित्व का कोई प्रमाण नहीं मिला है। केवल विष्णुगोप प्रथम ही समुद्रगुप्त का सम-कालीन हो सकता था और सिंहवर्म्मन् द्वितीय के समय में यह विष्णुगोप प्रथम बालक शासक के अभिभावक के रूप में राज्य के कारबार देखता था और कांची की सरकार का प्रधान अधिकारी था, और इसी लिये वह "कांचेयक" कहा जायगा। इस वंशवाले अस्थायी रूप से स्थानीय शासक या गवर्नर रहे होंगे, जिन्हें उन दिनों "महाराज" कहते थे अथवा लेफ्टिनेंट गवर्नर रहे होंगे जो "युव-महाराज" कहलाते थे।

आरंभिक पल्लव राजालोग

§ १८४ क. वीरकूर्च कुमारविष्णु ने एक अश्वमेध यज्ञ किया था, अर्थात् उसने इस बात की घोषणा कर दी थी कि मैं इक्ष्वाकुओं का उत्तराधिकारी हूँ। फिर शिव-स्कंदवर्म्मन् ने भी अश्वमेध यज्ञ किया था। जान पड़ता है कि वीरवर्म्मन् के हाथ से

कांची निकल गई थी[1] और कुमारविष्णु द्वितीय को फिर से उस पर विजय प्राप्त करके उसे अपने अधिकार में करना पड़ा था[2]। बेलुरपलैयम्वाले ताम्रलेखों में शिवस्कंद वर्म्मन् को राजा या शासक नहीं कहा गया है। जान पड़ता है कि उसने युवराज रहने की अवस्था में अपने पिता की ओर से कांची पर विजय प्राप्त की थी। पिता और पुत्र दोनों को चोलों के साथ और कदाचित् कुछ दूसरे तामिल राजाओं के साथ भी युद्ध करना पड़ा था[3]। स्कंदवर्म्मन् द्वितीय ने फिर से कांची में रहकर राज्य करना आरंभ किया था। उसके समय में गंग लोग भी और कदंब लोग भी तामिल सीमाओं पर सामंतों के रूप में नियुक्त किए गए थे (§ १८८ और उसके आगे)। उन सबकी उपाधियाँ बिलकुल एक ही सी हैं जिससे सूचित होता है कि वे सभी लोग वाकाटक सम्राट् के अधीन महाराज या गवर्नर के रूप में शासन करते थे। वे लोग जो "धर्म महाराज" कहे जाते थे, उसका अभिप्राय यह जान पड़ता है कि वे लोग सम्राट् के द्वारा नियुक्त किए गए थे, और वे वाकाटकों द्वारा स्थापित धर्म-साम्राज्य के अधीन थे।

---

१. उस पंक्ति में यह नाम कहीं दोहराया नहीं गया है। जान पड़ता है कि वह अशुभ या अशकुन-कारक और विफल समझा जाता था। परंतु फिर भी वीरवर्म्मन् की वीरता का अभिलेखों में उल्लेख है (वसुधातलैकवीरस्य)।

२. गृहीतकांची नगरस्ततोभूत् कुमारविष्णुस्समरेषु जिष्णुः (श्लोक ८)—एपि० इं० २, ५०८।

३. अन्ववाय नभश्चन्द्रः स्कन्दशिष्यस्ततोभवत्, विजाना घटिकां राज्ञस्सत्यसेनात् जहार यः। (उक्त में श्लोक ७) सत्यसेन कदाचित् कोई चोल या दूसरा पड़ोसी तामिल राजा था।

बहुत दिनों तक चोलों के साथ उनका लगातार युद्ध होता रहा था और अंत में बुद्धवर्म्मन् ने चोलों की शक्ति का पूरी तरह से नाश किया था[1]।

§ १८५. पल्लवों के पूर्वजों का राज्य नव-खंड कहलाता था[2]। महाभारत में[3] एक नव-राष्ट्र का भी उल्लेख है, परंतु वह पश्चिमी भारत में था। यह नवखंड कहीं आंध्र के आस-पास होना चाहिए। कोसल में जो १८ वन्य राज्य थे, उनमें अनुश्रुतियों के अनुसार एक नवगढ़ भी था[4]। यह बस्तर के कहीं आस-पास था और भार-शिव राज्य के नागपुर विभाग के पास था, जहाँ से आंध्र पर आक्रमण करना सहज था। बहुत कुछ संभावना इस बात की जान पड़ती है कि वीरकोर्चवर्म्मन् का पिता कोसल में गवर्नर या अधीनस्थ उप-राजा था, और वहीं से आंध्र प्राप्त किया गया था।

नवखंड

§ १८६. वीरकोर्च कुमारविष्णु प्रथम अवश्य ही यथेष्ट अधिक काल तक जीवित रहा होगा। उसने अश्वमेध यज्ञ किया था और कांची पर विजय प्राप्त की थी। कदाचित् उसके स्वामी अथवा पिता ने इक्ष्वाकुओं और आंध्र पर विजय प्राप्त की थी और उसने चोलों पर भी विजय प्राप्त की थी और कांची पर अधिकार किया था। उसका पुत्र शिव-स्कंद युवराज

पल्लवों का काल-निरूपण

---

१. भर्त्ता भुवोऽभूदथ बुद्धवर्म्मा यश्चोलसैन्यार्णव-वाडवाग्निः। (श्लोक ८) S. J. I. २, ५०८।

२. S. I. I. २, ५१५ (श्लोक ६)।

३. सभापर्व ३१, ६।

४. हीरालाल, एपि० इं०, ८, २८६।

और कांची का उप-शासक था और इसलिये वीरकोर्च के दसवें वर्ष उसकी अवस्था कम से कम १८ या २० वर्ष की रही होगी। कांची पर आंध्र के राज-सिंहासन से अधिकार किया गया था। यह नहीं हो सकता कि जिस समय वीर-कोर्च का विवाह हुआ हो, उसी समय वह उप-शासक भी बना दिया गया हो; क्योंकि उसके शासन के दसवें वर्ष में शिव-स्कंद इतना बड़ा हो गया था कि वह कांची का गवर्नर होकर शासन करता था। अपने विवाह के समय वीरकोर्च कदाचित् "अधिराज" ही था और "महाराज" नहीं बना था और "महाराज" की उच्च पदवी उसे कांची पर विजय प्राप्त करने के उपरांत मिली होगी। यदि हम यह मान लें कि आंध्र पर सन् २५०-२६० ई० में विजय प्राप्त हुई थी, तो कांची की विजय हम सन् २६५ ई० में रख सकते हैं। और "महाराज" के रूप में वीरकोर्च का दसवाँ वर्ष सन् २७५ ई० के लगभग होगा, जब कि शिवस्कंद २० वर्ष का हुआ होगा। यह आरंभिक तिथि ठीक है या नहीं, इसका निर्णय करने में हमें विष्णुगोप प्रथम की तिथि से बहुत कुछ सहारा मिल सकता है। अब हमें यह देखना है कि हमने ऊपर जो तिथि बतलाई है, वह विष्णुगोप प्रथम की तिथि को देखते हुए ठीक ठहरती है या नहीं।

§ १८७. शिवस्कंदवर्म्मन् ने युव-महाराज रहने की दशा में जो दान किया था, यदि उसके पाँच वर्ष बाद वह सिंहासन पर बैठा हो अर्थात् २८० ई० में उसने राज्यारोहण किया हो और पंद्रह वर्षों तक शासन किया हो, तो उसका समय (सन् २८०-२९५ ई०) उस समय से मेल खा जायगा जो उसके दान-लेखों की लिपि के आधार पर उसके लिये निश्चित किया गया है और जिसका ऊपर विवेचन किया गया है। वीरवर्म्मन् के समय

ही पल्लवों के हाथ से कांची निकल गई थी; और यह कहीं नहीं कहा गया है कि उसने कोई विजय प्राप्त की थी; परंतु फिर भी यह कहा गया है कि वह बहुत वीर था। लेकिन उसके नाम पर उसके किसी वंशज का फिर कभी नाम नहीं रखा गया था। जान पड़ता है कि वह (वीरवर्म्मन्) रणक्षेत्र में चोल शत्रुओं के हाथ से मारा गया था। शिवस्कंदवर्म्मन् के मरते ही चोलों को बहुत अच्छा अवसर मिल गया होगा और उन्होंने आक्रमण कर दिया होगा। वीरवर्म्मन् ने साल दो साल से अधिक राज्य न किया होगा। वीरवर्म्मन् ने प्राचीन सनातनी प्रथा के अनुसार अपने प्र-पिता वीरकोर्च के नाम पर अपना नाम रखा था। परंतु जैसा कि अभी ऊपर बतलाया जा चुका है, यह नाम इसके बाद फिर कभी दोहराया नहीं गया था। वीरवर्म्मन् ने कांची अपने हाथ से गँवाई थी और वह चोलों के द्वारा परास्त भी हुआ था; और इसीलिये "वीर" शब्द अशुभ और राजनीतिक दुर्भाग्य का सूचक माना जाता था और इसीलिये इस वंश ने इस नाम का ही परित्याग कर दिया था। स्कंदवर्म्मन् द्वितीय दोबारा पल्लव शक्ति का संस्थापक बना था और इस बार पल्लव शक्ति ने स्थायी रूप से कांची में अपना केंद्र स्थापित कर लिया था। हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि स्कंदवर्म्मन् द्वितीय के समय में वाकाटक वंश का नेतृत्व प्रवरसेन प्रथम के हाथ में था, जिसके समय में वाकाटक वंश अपनी उन्नति की चरम सीमा तक जा पहुँचा था, और वह बिंदु इतना उच्च था कि उस ऊँचाई तक उससे पहले कोई साम्राज्य-भोगी वंश नहीं पहुँचा था। जान पड़ता है कि स्कंदवर्म्मन् द्वितीय को वाकाटक सम्राट् से सहायता मिली थी। उसने "विजय" की उपाधि धारण की थी और वह उसका पात्र भी था। उसका शासन दीर्घ-काल-व्यापी था और

इसीलिये दक्षिण में उसे अपनी तथा वाकाटक साम्राज्य की स्थिति दृढ़ करने का यथेष्ट समय मिला था। प्रवरसेन प्रथम के शासन-काल के आधे से अधिक दिनों तक वह उसका समकालीन था। हमें यह मान लेना चाहिए कि उसने कम से कम पैंतीस वर्षों तक राज्य किया था क्योंकि उसके शासन-काल के तेंतीसवें वर्ष तक का तो उल्लेख ही मिलता है। उसके बाद हमें उसके पुत्र सिंहवर्म्मन् प्रथम के शासन का एक उल्लेख मिलता है और उसके दूसरे पुत्र विष्णुगोप के गवर्नर होने का उल्लेख मिलता है परंतु उसके पौत्र स्कंदवर्म्मन् तृतीय का हमें कोई उल्लेख नहीं मिलता, और स्कंदवर्म्मन् तृतीय के उपरांत विष्णुगोप प्रथम का पुत्र राज्य का उत्तराधिकारी हुआ था, इसलिये हम कह सकते हैं कि स्कंदवर्म्मन् तृतीय ने बहुत ही थोड़े दिनों तक राज्य किया होगा। जान पड़ता है कि समुद्रगुप्त ने अपने राज्याभिषेक से पहले ही विष्णुगोप को परास्त किया था और उस समय की प्रसिद्ध प्रथा के अनुसार उसने अपने पुत्र के पक्ष में राजसिंहासन का परित्याग कर दिया था और वह कभी कानूनी दृष्टि से महाराज नहीं हुआ था, और इसका अर्थ यह है कि यद्यपि उसने राज-कार्यों का संचालन तो किया था, परंतु राज-पद पर अभिषिक्त होकर नहीं किया था। अतः इस वंश के राजाओं का कालनिरूपण इस प्रकार होता है—

१. वीरकूर्च कुमार विष्णु (कांची में)		लगभग	सन्	२६५-२८० ई०
२. (शिव) स्कंदवर्म्मन् प्रथम	...	”	”	२८०-२६५ ”
३. वीरवर्म्मन्	... ...	”	”	२६५-२६७ ”
४. (विजय)स्कंदवर्म्मन् द्वितीय	...	”	”	२६७-३३२ ”
५. सिंहवर्म्मन् प्रथम	... ...	”	”	३३२-३४४ ”
६. स्कंदवर्म्मन् तृतीय	...	”	”	३४४-३४६ ”

७ विष्णुगोप प्रथम ...	,,	,,	३४६	,,
७. क. सिंहवर्म्मन् द्वितीय ...	,,	,,	३४६-३६०	,,

इस काल-निरूपण का पूरा पूरा समर्थन विष्णुगोप की उस तिथि से होता है जो हमें समुद्रगुप्त के इतिहास से मिलती है।

१७. दक्षिण के अधीनस्थ या भृत्य ब्राह्मण राज्य गंग और कदंब

§ १८८. पल्लवों की अधीनता में ब्राह्मण काण्वायनों का एक अधीनस्थ या भृत्य राज्य स्थापित हुआ था और इस राज्य के अधिकारियों ने अपने मूल निवास-स्थान के नाम पर अपने वंश का नाम गंग-वंश या गंगा का वंश रखा था; और उन्होंने अपना यह नामकरण उसी प्रकार किया था, जिस प्रकार गुप्तों की अधीनता में कलिंग राजाओं ने अपने वंश का नाम "मगध वंश" रखा था। गंग वंश के तीसरे राजा के समय से इस वंश के सब राजा हर पीढ़ी में पल्लवों के द्वारा अभिषिक्त किए जाते थे, जिनमें से सिंहवर्म्मन् पल्लवेंद्र और साथ ही उसके उत्तराधिकारी स्कंदवर्म्मन् (तृतीय) के नाम उनके सबसे आरंभिक और असली ताम्रलेख में मिलते हैं[1]। बहुत कुछ संभावना इसी बात की जान पड़ती है कि ये काण्वायन लोग मगध के साम्राज्य-भोगी काण्वायनों की ही एक शाखा के थे जिनमें का अंतिम राजा (सुशर्मन्) कैद हो गया था

ब्राह्मण गंग-वंश

---

१. एपिग्राफिया इंडिका, १४. ३३३।

(प्रगृह्य तं)[१] । और सातवाहन ने उसे कैद करके दक्षिण पहुँचा दिया था[२] । सांस्कृतिक इतिहास की दृष्टि से ब्राह्मण अधीनस्थ या भृत्य वंश महत्त्वपूर्ण हैं । दक्षिण में पहले से ही राजनीतिक ब्राह्मणों का एक वर्ग वर्तमान था ।

दक्षिण में एक ब्राह्मण अभिजात-तंत्र

§ १८९. ऊपर हम कौंडिन्यों का उल्लेख कर चुके हैं । ये कौंडिन्य लोग उस सातवाहन साम्राज्य के समय में जो कुछ समय तक दक्षिण और उत्तर दोनों में स्थापित था, उत्तर से लेकर दक्षिण में बसाए गए थे । बहुत दिनों से यह अनुश्रुति चली आती है कि मयूरशर्म्मन् मानव्य के पूर्वजों के समय में कुछ ब्राह्मण वंश अहिच्छत्र से चलकर दक्षिण भारत में जा बसे थे;[३] और जैसा कि हम अभी आगे चलकर बतलावेंगे, यह मयूरशर्म्मन् मानव्य चटु शातकर्णि वंश का था । जान पड़ता है कि यह अनुश्रुति ऐतिहासिक तथ्य के आधार पर ही प्रचलित हुई थी । सातवाहनों ने कुछ विशिष्ट ब्राह्मण वंशों अर्थात् गौतम गोत्र, वशिष्ठ गोत्र, माठर गोत्र, हारीत गोत्र आदि में विवाह किए थे । दक्षिण (मैसूर) गौतमों की एक अच्छी खासी बस्ती थी[४] । इक्ष्वाकुओं ने इस परंपरा का दृढ़तापूर्वक पालन किया था और कदंबों ने भी कुछ सीमा तक इसका पालन

---

१. मत्स्यपुराण, पारजिटर कृत Purana Text, पृ० ३८, ३, ६ ।

२. बिहार-उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी का जरनल, १६. २६४ ।

३. E. C. ७. १८६ ।

४. उक्त ७, प्रस्तावना पृ० ३ ।

किया था। दक्षिण में ब्राह्मण वंश बहुत संपन्न थे और राज-दरबारों में ऊँचे पदों पर रहते थे और राज्य करते थे। वे लोग अपना विशिष्ट स्थान रखते थे और राज-वंशों के साथ उनका घनिष्ठ संबंध था। आज तक दक्षिण में ऐयर और ऐयंगर वहाँ के असली रईस और सरदार हैं। आरंभिक शताब्दियों के ब्राह्मण शासकों को दबाकर पुनरुद्धार काल के वाकाटक-पल्लवों और गंगों ने उनका स्थान ग्रहण कर लिया था। और जिन ब्राह्मणों के साथ उन्होंने विवाह संबंध स्थापित किया था, वे दक्षिणी भारत के निर्माता थे, जिन्होंने दक्षिणी भारत में अपनी संस्कृति का प्रचार करके दक्षिणापथ को हिंदू भारत का अंतर्भुक्त अंग बना दिया था; और वास्तव में उन्होंने भारतवर्ष की सीमा का सचमुच विस्तार करके समस्त दक्षिणी भारत को भी उसके अंतर्गत कर लिया था।

§ १६०. इस समय हम लोग गंग वंश की वंशावली उस ताम्रलेख के आधार पर फिर से तैयार कर सकते हैं जो निस्संदेह रूप से गंगों का असली ताम्रलेख है और आरंभिक गंग वंशावली जिसे मि० राइस (Mr. Rice) ने एपिग्राफिया इंडिका, खंड १४, पृ० ३३१ में प्रकाशित किया था और जो चौथी शताब्दी के अंत अथवा पाँचवीं शताब्दी के आरंभ (अर्थात् लगभग सन् ४०० ई०) का लिखा हुआ है। इस वंशावली को पूरा करने और सही साबित करने के लिए मैंने दूसरे उल्लेखों के आधार पर इसमें एक और नाम बढ़ा दिया है। यह वंशावली इस प्रकार बनती है—

कोंकणिवर्म्मन्, धर्माधिराज

|

माधव (प्रथम) महाराजाधिराज
अय्यवर्म्मन् (अरि[1] अथवा हरिवर्म्मन्) गंग-राज
(जिसे पल्लव-वंश के सिंहवर्म्मन् महा-
राजा ने राज्य पर बैठाया था)

| [2]
|

माधव (द्वितीय) महाराज, सिंहवर्म्मन् जिसे पल्लवों
के महाराज, स्कंदवर्म्मन् तृतीय ने
राज्य पर बैठाया था

|
|

अविनीत कोंगणि, महाधिराज (इसने कदंब राजा
काकुस्थवर्म्मन् की एक कन्या के साथ विवाह
किया था जो महाधिराज कृष्णवर्म्मन्
की बहन थी)[3]

---

१. मिलाओ कीलहार्न की सूची, एपिग्राफिया इंडिका, ८, क्रोड़पत्र, पृ० ४।

२. [मि० राइस (Mr. Rice) के कथनानुसार कदाचित् भूल से अय्य और माधव द्वितीय के बीच में एक विष्णुगोप का नाम छूट गया था] एपिग्राफिया इंडिका १४, ३३३ मिलाओ कीलहार्न पृ० ५।

३. कीलहार्न पृ०, ५ मि० राइस ने एपिग्राफिया इंडिका १४ पृ०, ३३४ में अपना यह विचार प्रकट किया था कि माधव द्वितीय (जिसे उन्होंने माधव तृतीय इसलिये कहा है कि उन्होंने कोंगणिवर्म्मन् को उसके व्यक्तिगत नाम "माधव" के कारण माधव प्रथम मान लिया था) ने कदंब राजकुमारी के साथ विवाह किया था। परंतु गंग अभि-

§ १६१. गंग अभिलेखों में यह कहा गया है कि अविनीत कोंगणि ने एक कदंब राज-कुमारी के साथ विवाह किया था और जान पड़ता है कि इसका समर्थन काकुस्थवर्म्मन् के तालगुंड वाले शिलालेख से होता है, जिसमें कहा गया है काकुस्थवर्म्मन् ने कई राजनीतिक विवाह कराए थे। कहा गया है कि अविनीत कोंगणि ने कृष्णवर्म्मन् प्रथम की बहन के साथ विवाह किया था; और यह कृष्णवर्म्मन् काकुस्थ का पुत्र था[1]। इस प्रकार अविनीत कोंगणि का समय काकुस्थ के समय (लगभग सन् ४०० ई०) की सहायता से निश्चित हो जाता है। तीसरे राजा अय्यवर्म्मन् को पल्लव सिंहवर्म्मन् द्वितीय ने राजपद पर प्रतिष्ठित किया था, जिसका समय लगभग सन् ३३०–३४४ ई० है (देखो § १८७), और माधव द्वितीय को पल्लव स्कंद वर्म्मन् तृतीय (लगभग ३४४–३४६ ई०) ने, जो सिंहवर्म्मन् का उत्तराधिकारी था, राज्य पर बैठाया था। इस प्रकार इन तीनों सम-कालीन वंशों से एक दूसरे का काल-निरूपण हो जाता है, और यह भी सिद्ध हो जाता है कि गंग काण्वायन वंश का संस्थापक सन् ३०० ई० से पहले नहीं हुआ होगा[2]। अनुमान से उनका समय इस प्रकार होगा (जिसमें

लेखों के प्रमाण के आधार पर और आगे (§§ १६०–१६१) दिए हुए इन राजाओं के काल-निरूपण के आधार पर यह बात मिथ्या सिद्ध होती है।

१. मिलाओ Kadamba Kula, पहला नक्शा।

२. इससे यह सिद्ध होता है कि जिन अभिलेखों पर आरंभिक शक संवत् (सन् २४७ ई० आदि, मिलाओ कीलहार्न की सूची, एपिग्राफिया इंडिका ८, पृ० ४, पाद-टिप्पणी) दिए गए हैं, उनमें यद्यपि बहुत कुछ ठीक वंशावली दी गई है, परंतु फिर भी असली नहीं हो

मोटे हिसाब से हर एक के लिये औसत १६ या १७ वर्ष पड़ते हैं)–

१. कोंकणिवर्म्मन्	लगभग	सन्	३००-३१५	ई०
२. माधववर्म्मन् प्रथम	,,	,,	३१५-३३०	,,
३. अय्य अथवा अरिवर्म्मन्	,,	,,	३३०-३४५	,, [1]
४. माधववर्म्मन् (द्वितीय) सिंहवर्म्मन्	,,	,,	३४५-३७५	,,
५. अविनीत कोंगणि	,,	,,	३७५-३९५	,,

§ १९२. पहले राजा ने अपना नाम कोंकणिवर्म्मन् कदाचित् इसलिये रखा होगा कि वह कुछ ही समय पहले कोंकण से आया था। उसका राज्य मैसूर में उस स्थान पर था जो आजकल गंगवाड़ी कहलाता है। पेनुकोंड प्लेट (एपिग्राफिया इंडिका, १४, ३३१) मदरास के अनंतपुर जिले में पाए गए हैं। गंग लोग कदंबों के प्रदेश से बिलकुल सटे हुए प्रदेश में रहते थे और कदंब लोग उसी समय अथवा उसके एक पीढ़ी बाद अस्तित्व में आए थे।

§ १९३. इस वंश के राजाओं के नाम के साथ जो "धर्मोधिराज" की उपाधि मिलती है, उससे यह सूचित होता है कि गंग लोग भी कदंबों की भाँति पल्लवों के धर्म-साम्राज्य के अंतर्गत थे और उसका एक अंग थे।

§ १९४. पहला गंग राजा विजय द्वारा प्राप्त राज्य का अधि-

सकती। जिन लोगों को पुराने जमाने में जमीनें दान-रूप में मिली थीं, अपने आपको उनके वंशज बतलानेवाले लोगों ने कई जाली गंग दानपत्र बना लिये थे। परंतु फिर भी उन्हें गंग राजाओं की वंशावली का बहुत कुछ ठीक ज्ञान था।

१. विष्णुगोप का अस्तित्व निश्चित नहीं है (§१९० पाद-टिप्पणी)।

कारी बना था और जान पड़ता है कि वह विजय या तो उसने पल्लवों के और या मुख्य वाकाटकों के सेनापति के रूप में प्राप्त की थी, जैसा कि उनकी उपाधि "गंग" से सूचित होता है।

कोंकणिवर्म्मन्

उसने ऐसे देश पर अधिकार प्राप्त किया था जिस पर सुजनों का निवास था (स्व-भुज-नव-जय-जनित-सुजन-जनपदस्य) और उसने विकट शत्रुओं के साथ युद्ध किया था (दारुण अरिगण)। इस राजा के शरीर पर (युद्ध-क्षेत्र के) व्रण भूषण-स्वरूप थे (लब्ध-व्रण-भूषणयस्य काण्वायनसगोत्रस्य श्रीमत् कोंकणिवर्म्म-धर्म-महाधिराजस्य)।

§ १६५. उसका पुत्र माधव महाधिराज संस्कृत के पवित्र और मधुर साहित्य का बहुत बड़ा पंडित था और हिंदू नीति-शास्त्र की व्याख्या और प्रयोग करने में बहुत कुशल था (नीतिशास्त्रस्य वक्तृ-प्रयोक्तृ-कुशलस्य)।

§ १६६. माधव के पुत्र अर्य्यवर्म्मन् के शरीर पर अनेक युद्धों में प्राप्त किए हुए व्रण आभूषण के स्वरूप थे। यथा—

अनेक-युद्धो=ोपलब्ध
व्रण-विभूषित-शरीरस्य

उसने अपना समय इतिहास के अध्ययन में लगाया था।

§ १९७. गंगों का जो वंशानुक्रमिक इतिहास ऊपर संक्षेप में दिया गया है, उसमें वाकाटक परंपरा की भावना दिखाई देती है। वह इतिहास उस समय से पहले का है जब कि समुद्रगुप्त दक्षिण में पहुँचा था। वह इतिहास संस्कृत में है और आरंभिक काल के दस्तावेजों से नकल करके तैयार किया गया है, और इस

वाकाटक भावना

परिवार के बाद वाले दान-पत्रों और दस्तावेजों आदि में बराबर वही इतिहास नकल किया गया था। गंगों का एक ऐसा सु-संस्कृत वंश था जिसकी सृष्टि वाकाटकों ने की थी।

§ १९८. आरंभिक गंगों का व्यक्तिगत आदर्श भी और नागरिकता संबंधी आदर्श भी बहुत महत्वपूर्ण और ध्यान देने योग्य है। इस वंश के राजा लोग भी विंध्यशक्ति की तरह रणक्षेत्र के घावों से अपने आपको अलंकृत करते थे। इसकी प्रतिध्वनि समुद्रगुप्त के शिलालेख में सुनाई देती है। गंगों का नागरिकता संबंधी आदर्श पूर्ण और निश्चित था। उनका सिद्धांत था कि किसी का राजा होना तभी सार्थक होता है, जब वह बहुत अच्छी तरह प्रजा का पालन करता है। यथा—

गंगों की नागरिकता

सम्यक्-प्रजा-पालन
मात्र=अधिगत-राज्य-प्रयोजनस्य।

अर्थात्—(महाराज माधव (प्रथम) महाधिराज के लिये) राजा होने का उद्देश्य केवल यही था कि प्रजा का सम्यक् रूप से पालन किया जाय।

§ १९९. साधारणतः यही समझा जाता है कि समुद्रगुप्त के आक्रमण के प्रत्यक्ष परिणाम-स्वरूप ही कदंबों की सृष्टि हुई थी। परंतु यह बात वस्तव में ठीक नहीं है। बल्कि उनकी सृष्टि मानव्यों के आरंभिक इतिहास के कारण हुई थी। उनके इतिहास का अभी हाल में मि० माओरेस (Mr. Maores) ने एक पाठ्य पुस्तक में स्वतंत्र रूप से विवेचन किया है। उस इतिहास की कुछ

कदंब लोग

बातें ऐसी हैं जिन पर अभी तक ध्यान नहीं दिया गया है और जिनका उस युग से विशेष संबंध है, जिस युग का हम इस पुस्तक में विवेचन कर रहे हैं। अतः वे बातें यहाँ कही जाती हैं।

§ २००. कदंबों के जो सरकारी अभिलेख और दस्तावेज आदि मिलते हैं और जिनका आरंभ तालगुंड-वाले स्तंभाभिलेख से होता है, उनमें वे अपने आपको हारितीपुत्र मानव्य कहते हैं[1]। हम यह बात पहले से ही जानते हैं कि वनवासी आंध्र (अर्थात् चुटु लोग) हारितीपुत्र मानव्य थे (§ १५७ और उसके आगे)। यह बात निश्चित सी जान पड़ती है कि कदंब लोग चुटु सातकर्णियों के वंशज थे। जब वे अपने आपको हारितीपुत्र मानव्य कहते हैं, तब वे मानों यह सूचित करते हैं कि वे उस अंतिम चुटु मानव्य के वंशज थे जो एक हारितीपुत्र था। ज्योंही पहले कदंब राजा ने चुटुओं के मूल निवास स्थान वनवासी और कुंतल पर अधिकार किया था, त्योंही उसने प्रसन्न मन से वह पुराना दान फिर से दे दिया था जो पहले मानव्य गोत्र के हारितीपुत्र शिवस्कंदवर्म्मन् ने किया था, और यह बात उसने स्वयं उसी स्तंभ पर फिर से अंकित करा दी थी, जिस स्तंभ पर उस संपत्ति के दान का चुटु राजा ने उल्लेख कराया था और जो उसी कौंडिन्य वंश के द्वारा मट्टिपट्टि के साथ संयुक्त किया गया था[2]। यह

उनके पूर्वज

---

१. एपि० इं० ८. ३४, कीलहार्न की पाद-टिप्पणी। मिलाओ एपि० इं० १६, पृ० २६६, मानव्यसगोत्रानाम् हारितीपुत्रानाम्।

२. आज-कल का मलवली इसी नाम का अवशिष्ट रूप है।

दोनों अभिलेखों की लिपियों के कालों का मध्यवर्ती अंतर यथेष्ट रूप से परिलक्षित होता है। मि० राइस ने E. C. ७, पृ० ६ में

दान दोबारा किया गया था; और इससे यह पता चलता है कि पहले कदंब राजा से पूर्व और हारितीपुत्र शिवस्कंदवर्म्मन् के उपरांत अर्थात् इन दोनों के मध्य में जो राजा हुआ था, उसने वह दान की हुई संपत्ति वापस लेकर फिर से अपने अधिकार में कर ली थी; और वह बीचवाला राजा अथवा राजा लोग पल्लवों के सिवा और कोई नहीं हो सकते; क्योंकि इस बात का उल्लेख मिलता है कि मयूरशर्म्मन् ने पल्लवों से ही वह प्रदेश प्राप्त किया था और उसे प्राप्त करने के अन्यान्य कारणों में से एक कारण यह भी था कि वह चुटु मानव्यों के पुराने राजवंश का वंशधर था। इस दान-लेख पर उक्त राजा के शासन-काल का चौथा वर्ष अंकित है। मैं समझता हूँ कि वह मयूरशर्म्मन् का ही आज्ञापत्र था, क्योंकि प्लेट पर उसके नाम का कुछ अंश पढ़ा जाता है (देखो § १६२)। यहाँ वह अपने वंश का अधिकार प्रमाणित कर रहा था। उसने अपने वंश के प्राचीन देश पर अधिकार कर लिया था और अपने वंश का किया हुआ पुराना दान उसने फिर से दिया था। कौंडिन्यों को कदाचित् उसके पूर्वजों ने ही उस देश में बुलाकर बसाया था। और उन कौंडिन्यों के प्राचीन प्रतिष्ठित वंश के साथ मयूरशर्म्मन् के वंश के लोगों का बराबर तब तक संबंध चला आता था, क्योंकि दोबारा जिसे दान दिया गया था, वह दाता राजा का मामा (मातुल) कहा गया है।

कहा है कि इन दोनों में कुछ ही वर्षों का अंतर है। परंतु वास्तव में इन दोनों में अपेक्षाकृत अधिक समय का अंतर है। दोनों की लिपियाँ भी भिन्न हैं। वह एक नई भाषा अर्थात् महाराष्ट्री है जिसका उससे पहले कभी किसी सरकारी मसौदे या अभिलेख में प्रयोग नहीं किया गया था।

§ २०१. पल्लवों ने जिस प्रकार इक्ष्वाकुओं को अधिकार-च्युत किया था, उसी प्रकार चुटु मानव्यों को भी अधिकार-च्युत किया था। इक्ष्वाकु लोग तो सदा के लिये अदृश्य हो गए थे, परंतु मानव्यों का एक बार फिर से उत्थान हुआ था। ज्योंही पहला अवसर मिला था, त्योंही मयूरशर्म्मन् मानव्य ने अपने पूर्वजों के देश पर फिर से अधिकार कर लिया था और "कदंब" नाम से एक नये राजवंश की स्थापना की थी।

§ २०२ कदंबों ने अपने वंश की प्राचीन स्मृतियों को फिर से जाग्रत करने का प्रयत्न किया था। उन्होंने सातवाहनों के मलवली देवता के नाम पर फिर से भूमि-दान दी थी; और तालगुंडवाले जिस तालाब और मंदिर का सातकर्णियों के साथ संबंध था, उस पर उन्होंने अपना अभिमानपूर्ण स्तंभ स्थापित कराया था और उससे भी अधिक अभिमानपूर्ण अपना शिलालेख अंकित कराया था। इसी प्रकार उन लोगों ने पश्चिम में सातवाहन राज्य की उत्तरी सीमा तक भी पहुँचने का प्रयत्न किया था। उनका यह प्रयत्न कई बार हुआ था। परंतु वाकाटक लोग उन्हें बराबर रोकते रहे। वाकाटकों ने बराबर विशेष प्रयत्नपूर्वक अपरांत का समुद्री प्रांत और वहाँ से होनेवाला पश्चिमी विदेशी व्यापार अपने ही हाथ में रखा।

§ २०३. इस प्रयत्न को हम सातवाहन-वाद कह सकते हैं और इसका मतलब यही है कि वे लोग सातवाहनों की सब बातें फिर से स्थापित करना चाहते थे; और इस प्रयत्न के संबंध में कंग ने, जो समुद्रगुप्त के समय में हुआ था, बहुत कुछ काम किया था। कंग उसी मयूरशर्म्मा का पुत्र और उत्तराधिकारी था। उसने ब्राह्मणों की "शर्म्मा" वाली उपाधि

कंग और कदंबों की स्थिति

का परित्याग कर दिया था और अपने नाम के साथ राजकीय उपाधि "वर्म्मा" का प्रयोग करना आरंभ कर दिया था। वास्तव में वही कदंब राज्य का संस्थापक था और वह कदंब राज्य उसके समय में बहुत अधिक शक्तिशाली हो गया था। परंतु कदंब राज्य की वह बढ़ी-चढ़ी शक्ति कुछ ही वर्षों तक रह सकी थी। जब पल्लव-शक्ति समुद्रगुप्त के हाथ से पराजित हो गई थी, तब उसे कंग ने दबाने का प्रयत्न किया था। पुराणों में कान और कनक नाम से कंग का पूरा पूरा वर्णन मिलता है (देखो §§ १२८-१२९)। पल्लव लोग वाकाटक सम्राट् के साम्राज्य के दक्षिणी भाग में थे। वे लोग वाकाटक चक्रवर्ती के अधीनस्थ महाराज या गवर्नर थे। जान पड़ता है कि पल्लव लोग वाकाटक सम्राट् की ओर से त्रैराज्य पर शासन करते थे और इस त्रैराज्य में तीन तामिल राज्य थे, जिनके नेता चोलों पर उन्होंने वस्तुतः विजय प्राप्त की थी। स्त्री-राज्य, मूषिक और भोजक ये तीनों राज्य परस्पर संबद्ध थे ओर कंगवर्म्मन् इन्हीं तीनों का शासक बन गया था और विष्णुपुराण के अनुसार त्रैराज्य पर भी उसका शासन था: अर्थात् उस समय के लिये वह पल्लवों को दबाकर समस्त दक्षिण का स्वामी बन गया था। केवल पल्लवों का प्रदेश ही उसके शासनाधिकार के बाहर था। जान पड़ता है कि पल्लवों के पराजित होने के उपरांत कंग ने अपने पूर्वजों का दक्षिणी राज्य फिर से स्थापित करने का प्रयत्न किया था और वह कहता था कि समुद्रगुप्त को सारे भारत का सम्राट् होने का कोई अधिकार नहीं है। परंतु वह पृथिवीषेण वाकाटक के द्वारा परास्त हुआ था और उसे राज-सिंहासन का परित्याग करना पड़ा था (§ १२७ और उसके आगे)। कंग के उपरांत कदंब लोग राजनीतिक दृष्टि से वाकाटक राज्य के साथ संबद्ध रहे जो कदंब राज्य के कुंतल-

वाले अंश से स्वयं अपनी भोजकट-वाली सीमाओं पर मिला हुआ था। कदंबों का विशेष महत्त्व सामाजिक क्षेत्र में है। वे लोग वाकाटकों और गुप्तों के बहुत पहले से दक्षिण में रहते आते थे। परंतु फिर भी नवीन सामाजिक पुनरुद्धार में उन्होंने एक नवीन शक्ति और नवीन तेज प्रदर्शित किया था; और अपने क्षेत्र के अंदर उस पुनरुद्धार के संबंध में उन्होंने उतना ही अच्छा काम किया था, जितना गंगों और पल्लवों ने किया था।

§ २०४. इस प्रकार उस समय का दक्षिण का इतिहास वस्तुतः दक्षिण में पहुँचे हुए नए और पुराने दोनों लोगों का इतिहास है और उन प्रयत्नों का इतिहास
एक भारत का निर्माण है जो उन्होंने सारे देश में एक सर्व-सामान्य सभ्यता अर्थात् हिंदुत्व का प्रचार और स्थापना करने के लिये किए थे; और वह प्रयत्न उत्तर में समाज का सुधार और पुनरुद्धार करने में बहुत अधिक सफल हुआ था। इन प्रयत्नों के कारण दक्षिण भारत इस प्रकार उत्तर भारत के साथ मिलकर एक हो गया था कि सचमुच भारतवर्ष की पुरानी व्याख्या फिर से चरितार्थ होने लग गई थी और समस्त दक्षिण भी फिर से भारतवर्ष के ही अंतर्गत समझा जाने लगा था। उत्तरी भारत के हिंदुओं ने दक्षिणी भारत की भाषा, लिपि, उपासना और संस्कृति का प्रवेश और प्रचार किया था। वहीं से उन लोगों ने द्वीपस्थ भारत में एक नवीन जीवन का संचार किया था। एक सर्वसामान्य संस्कृति से उन लोगों ने एक भारत का निर्माण किया था; और उसी समय का बना हुआ एक भारत बराबर आज तक चला आ रहा है।

———

पाँचवाँ भाग

उपसंहार

धर्म-प्राचीर-बन्दः शशि-कर-सुचयः कीर्त्तयः सुप्रतानाः।

—इलाहाबाद-वाला स्तंभ।

१८. गुप्त-साम्राज्य-वाद के परिणाम

§ २०५. समुद्रगुप्त ने सैनिक क्षेत्र में जो बहुत बड़े-बड़े काम किए थे, उनसे सभी लोग परिचित हैं और इसलिये यहाँ उनके विवेचन करने की आवश्यकता नहीं। यहाँ यह ध्यान रखना चाहिए कि उसने सैनिकता को आवश्यकता से अधिक आश्रय नहीं दिया था—कभी आवश्यकता से अधिक या व्यर्थ युद्ध नहीं किया था। शांति वाली नीति का महत्व वह बहुत अच्छी तरह जानता था। अपने दूसरे युद्ध के बाद उसने फिर कभी कोई अभियान नहीं किया था। बल्कि शाहानुशाही पहाड़ी रियासतों, प्रजातंत्रों या गणतंत्रों और उपनिवेशों को अपने साम्राज्य के घेरे और प्रभाव में लाकर उसने नीति और शांति के द्वारा अपना उद्देश्य सिद्ध किया था। उसके पास इतना अधिक सोना हो गया था, जितना उत्तरी भारत में पहले कभी देखा नहीं गया था, और यह सोना उसे इसीलिये मिला था कि उसने दक्षिणी भारत और उपनिवेशों को अपने साम्राज्य में मिला लिया था। उसने दक्षिण के साथ वाकाटक

समुद्रगुप्त की शांति और समृद्धिवाली नीति

वंश के द्वारा संपर्क बना रखा था, क्योंकि वाकाटक वंश फिर से अधिकारारूढ़ कर दिया गया था, यद्यपि इलाहाबाद वाले शिलालेख में वाकाटक देश को मध्य-प्रदेश का एक अंश माना गया है और प्रजातंत्रों या गणतंत्रों का इस प्रकार सिंहावलोकन किया गया है कि जान पड़ता है कि वह सिंहावलोकन करने वाला ग्वालियर अथवा एरन में बैठा हुआ था। इलाहाबाद वाले शिलालेख की २३ वीं पंक्ति में उसने कहा है कि मैंने पुराने राजवंशों को फिर से अधिकारारूढ़ कर दिया है, और २६ वीं पंक्ति में वह कहता है कि जिन राजाओं पर मैंने अपने बाहुबल से विजय प्राप्त की थी, उनकी संपत्ति मेरे कर्मचारी उन्हें लौटा रहे हैं। इसमें कुछ भी संदेह नहीं कि उन राजाओं में पृथिवीषेण प्रथम भी था। उसके बाद वाले दूसरे शासन-काल में भी दक्षिण और दीपस्थ भारत से बराबर बहुत सा सोना उत्तरी भारत में आया करता था। एरन वाले शिलालेख में कहा गया है कि समुद्रगुप्त सोने के सिक्के दान करने में राम और पृथु से भी बढ़ गया था। यदि यही बात हो तो इसमें कुछ भी संदेह नहीं कि उसके पुत्र ने अपनी प्रजा में इतना अधिक सोना बाँटा था, जितना उससे पहले और कभी किसी ने नहीं बाँटा था। इस बात में कुछ भी अतिशयोक्ति नहीं है। चंद्रगुप्त द्वितीय की कन्या ने लिखा है कि अरबों (गुप्त) मोहरें दान की गई थीं[1] और उसके इस कथन का समर्थन युआन च्वांग ने भी किया है। अमोघवर्ष ने अपने अभिलेख में यह स्वीकृत किया है कि गुप्त राजा कलियुग का सबसे बड़ा दाता और दानी था। यह बात समुद्रगुप्त की उत्तम दूरदर्शिता के कारण ही हो सकी थी। उसकी शांति और बंधुत्व स्थापित करने वाली

---

१. पूनावाले प्लेट, एपिग्राफिया इंडिका, खंड १५, पृ० ४१।

नीति ने ही पृथिवीषेण प्रथम को उसका घनिष्ठ मित्र और सहायक बना दिया था, जिसने कुंतल या कदंब राजा पर फिर से विजय प्राप्त की थी। इस कुंतल या कदंब राजा के कारण दक्षिण में समुद्रगुप्त का एकाधिकार और प्रभुत्व संकट में पड़ गया था; और कदाचित् इसीलिये उसे अपना अश्वमेध यज्ञ अथवा उसकी पुनरावृति स्थगित कर देनी पड़ी थी, जिसका उल्लेख प्रभावती गुप्ता ने किया है[1]। उसकी औपनिवेशिक नीति और ताम्रलिप्ति वाले बंदरगाह को अपने हाथ में रखने के कारण अवश्य ही उसे बहुत अधिक आय हुआ करती होगी। उन दिनों चीन और इंडोनेशिया के साथ भारत का बहुत अधिक व्यापार हुआ करता था और उस पूर्वी व्यापार का महत्त्व कदाचित् पश्चिमी व्यापार के महत्त्व से भी बढ़ा-चढ़ा था। समुद्रगुप्त भी और उसका पुत्र चंद्रगुप्त भी दोनों अपनी समुद्री सीमाओं पर सदा बहुत जोर दिया करते थे और कहते थे कि जिस प्रकार हमारी उत्तरी सीमा हिमवत् (तिब्बत) है, उसी प्रकार बाकी तीनों दिशाओं की सीमाएँ समुद्र हैं। दोनों ही के शासन-काल में प्रजा पर जहाँ तक हो सकता था, बहुत ही कम कर लगाया जाता था; और फाहियान ने चंद्रगुप्त के शासन-काल के संबंध में इस बात का विशेष रूप से उल्लेख किया है। समुद्रगुप्त अपनी प्रजा के लिये सचमुच धनद था। लोगों के पास इतना अधिक धन हो गया था कि वह सहज में बड़े-बड़े चिकित्सालय स्थापित कर सकते थे; और समुद्रगुप्त की स्थापित की हुई शांति के कारण ही चंद्रगुप्त अपने राज्य से प्राण-दंड की प्रथा उठा सका था।

---

१. अनेक अश्वमेध-याजी लिच्छवि-दौहित्रः। (एपिग्राफिया इंडिका, १५, ४१)

§ २०६. राष्ट्र के विचार पूरी तरह से बदल गए थे और लोगों की दृष्टि बहुत ही उच्च तथा उदार हो गई थी। यह मनस्तत्व प्रत्यक्ष रूप से स्वयं सम्राट् से ही लोगों ने ग्रहण किया था। उसके समय के हिंदू बहुत बड़े-बड़े काम सोचते और उठाते थे।

उच्च राष्ट्रीय दृष्टि

उन्होंने बहुत ही उच्च, सुंदर और उदार साहित्य की सृष्टि की थी। साहित्यसेवी लोग अपने देश-वासियों के लिये साहित्यिक कुबेर और भारतवर्ष के बाहर रहनेवालों के लिये साहित्यिक साम्राज्य-निर्माता बन गए थे। कुमारजीव ने चीन पर साहित्यिक विजय प्राप्त की थी[1]। कौंडिन्य धर्म-प्रचारक ने कंबोडिया में एक सामाजिक और सांस्कृतिक एकाधिकार स्थापित किया था। व्यापारियों और कलाकारों ने भारतवर्ष को विदेशियों की दृष्टि में एक आश्चर्यमय देश बना दिया था। यहाँ की कला, साहित्य, भक्ति और राजनीति में स्त्रीत्व का कोई भाव नहीं था; जो कुछ था, वह सब पुरुषोचित और वीरोचित था। यहाँ वीर्यवान् देवताओं और युद्ध-प्रिय देवियों की मूर्त्तियाँ बनती थीं। यहाँ की कलम से सुंदर और वीर पुरुषों के आत्मज्ञान रखनेवाले तथा अभिमानी हिंदू योद्धाओं के चित्र अंकित होते थे। यहाँ के पंडित

---

१. वह समुद्रगुप्त का समकालीन था और चीन गया था (सन् ४०५–४१२) जहाँ उसने बौद्ध त्रिपिटक पर चीनी भाषा में भाष्य लिखाए थे। उसका किया हुआ वज्र-सूत्र का अनुवाद चीनी साहित्य में राष्ट्रीय प्राचीन उत्कृष्ट ग्रंथ माना जाता है, जिससे चीनी कवियों और दार्शनिकों को बहुत कुछ प्रोत्साहन और ज्ञान प्राप्त हुआ। देखो गाइल्स (Giles) कृत Chinese Literature (चीन साहित्य) पृ० ११४।

और ब्राह्मण तलवार और कलम दोनों ही बहुत सहज में और कौशलपूर्वक चलाते थे। यहाँ बुद्धिबल और योग्यता का प्रभुत्व इतना अधिक बढ़ गया था, जितना उसके बाद फिर कभी इस देश में देखने में नहीं आया।

§ २०७. संस्कृत यहाँ की सरकारी भाषा हो गई थी और वह बिलकुल एक नई भाषा बन गई थी। गुप्त सिक्कों और गुप्त मूर्त्तियों की तरह उसने भी सम्राट् की प्रतिकृति खड़ी की थी; और वह इतनी अधिक भव्य तथा संगीतमयी हो गई थी, जितनी न तो उससे पहले ही कभी हुई थी और न कभी बाद में ही हुई थी।

गुप्त सम्राट् ने एक नई भाषा और वास्तव में एक नये राष्ट्र का निर्माण किया था।

§ २०८. परंतु इसके लिये क्षेत्र पहले से ही भार-शिवों ने और उनसे भी बढ़कर वाकाटकों ने तैयार किया था। शुंग राजा भी अपने सरकारी अभिलेखों आदि में संस्कृति का व्यवहार करने लगे थे। फिर सन् १५० के लगभग रुद्रदामन् ने भी उसका प्रयोग किया था; परंतु जो काव्य-शैली चंपा (कंबोडिया) के शिलालेख में दिखाई देती है और जो समुद्रगुप्त की शैली का मानों पूर्व रूप थी, वह वाकाटक-काल की ही थी। वाकाटकों ने पहले ही एक अखिल भारतीय साम्राज्य की सृष्टि कर रखी थी। उन्होंने कुशनों को भगाकर एक कोने में कर दिया था। उन्होंने-जन-साधारण की परंपरागत सैनिकता को और भी उन्नत किया था। इन्होंने शास्त्रों की उपयुक्त मर्यादा फिर से स्थापित की थी और उन्हें उनके न्याय-सिद्ध पद पर प्रतिष्ठित किया था। समुद्रगुप्त ने इससे

समुद्रगुप्त के भारत का वीज-वपन-काल

पूरा पूरा लाभ उठाया था; और भार-शिवों ने जिस इतिहास का आरंभ किया था और वाकाटकों ने पालन-पोषण करके जिसकी वृद्धि की थी उसकी परंपरा को समुद्रगुप्त ने प्रचलित रखा था। इन्हीं भार-शिवों और वाकाटकों ने वह रास्ता तैयार किया था, जिस पर चलकर शाहानुशाही और शक अधिपति अयोध्या और पाटलिपुत्र तक आने और हिंदू राज्यसिंहासन के आगे सिर झुकाने के लिये बाध्य किए जाते थे। यह पुनरुद्धार का कार्य सन् २४८ ई० से पहले ही आरंभ हो चुका था। हिंदुओं ने पहले से ही कुशनों के सामाजिक अत्याचार और राजनीतिक शासन से अपने आपको मुक्त कर रखा था। उन्होंने यह समझकर पहले से ही बौद्ध-धर्म का परित्याग और अस्वीकार कर दिया था कि वह हमारे समाज के लिये उपयुक्त नहीं है और लोगों को दुर्बल तथा निष्क्रिय बनानेवाला है। परंतु एक निर्णायक धर्म की स्थापना का काम समुद्रगुप्त के लिये बच रहा था और उसने उस धर्म का निर्माण विष्णु की भक्ति के रूप में किया था। भार-शिवों ने स्वतंत्र किए हुए भारत के लिये गंगा और यमुना को लक्षण या चिन्ह के रूप में ग्रहण किया था और उपयुक्त रूप से फनवाले नागों को इन देवियों की मूर्त्तियों के ऊपर स्थापित किया था; और इस प्रकार राजनीति की प्रतिकृति तक्षण कला में स्थापित की थी। गुप्तों ने भी इन्हीं चिन्हों या लक्षणों को ग्रहण कर लिया था; परंतु हाँ, उनके सिर पर से नागों को हटा दिया था। भार-शिवों और वाकाटकों के विकट और संहारक शिव के स्थान पर उन्होंने पालनकर्त्ता विष्णु को स्थापित किया था, जो अपने हाथ ऊपर उठाकर हिंदू-समाज को धारण करता है और ऐसी शक्ति के साथ धारण करता है जो कभी कम होना जानती ही नहीं। पहले हिंदू देवताओं के मंदिर केवल भव्य ही होते थे,

पर अब वे ठोस बनने लगे थे। पहले तो शिखरोंवाले छोटे छोटे मंदिर बनते थे, पर अब उनके स्थान पर चौकोर चट्टानों को काटकर और चट्टानों के समान मंदिर बनने लगे थे। उस समय सब जगह आत्म-विश्वास और आत्म-निर्भरता का ही भाव फैलने लगा था। हिंदुओं का स्वयं अपने आप पर विश्वास हो गया था। वाकाटक, गंग और गुप्त लोग तलवारों और तीरों के योग से अपना पुरुषोचित सौंदर्य व्यक्त करते थे। देवताओं की तुलना मनुष्यों से होती थी और मनुष्यों के हित के लिये होती थी। गुप्त विष्णु का पूरा भक्त था और वह जितने काम करता था, वह सब विष्णु को ही अर्पित करता था; और अपने आपको उसने विष्णु के साथ पूरी तरह से मिलाकर तद्रूप कर दिया था; और उस विष्णु की भक्ति का प्रचार उसने भारत के समस्त राष्ट्र में तो किया ही था, पर साथ ही द्वीपस्थ भारत में भी किया था। मनुष्य और ईश्वर की यह एकता उन मूर्त्तियों में भी व्यक्त होती थी, जो वे भक्तों के अनुरूप तैयार करते थे। उच्च आध्यात्मिक भावना ठीक शीर्ष-बिंदु तक जा पहुँची थी। जिस विंध्यशक्ति का बल बड़े बड़े युद्धों में बढ़ा था और जिसके बल पर देवता भी विजय नहीं प्राप्त कर सकते थे, वह इतना सब कुछ होने पर भी मनुष्य ही था और आध्यात्मिक योग्यता प्राप्त करने के लिये निरंतर प्रयत्न करता था। गंग राजाओं में से माधव प्रथम ने, जिसके संबंध में कहा गया है कि उसने अपना शरीर युद्ध-क्षेत्र के घावों से अलंकृत किया था, इस बात की घोषणा कर दी थी कि राजा का अस्तित्व केवल प्रजा के उत्तमतापूर्वक पालन करने के लिये ही होता है। अनेक बड़े बड़े यज्ञ करनेवाला शिवस्कंद बर्म्मन् भी सब कुछ होने पर भी धर्म-महाराजाधिराज ही था। समुद्रगुप्त धर्म का रक्षक और पवित्र मंत्रों का मार्ग था और

इस योग्य था कि सब लोग उसके कार्यों का अनुशीलन करें, और वह अपने राजकीय कर्त्तव्यों का इस प्रकार पालन करता था कि जिससे उसे इस बात का संतोष हो गया था कि मैंने अपने लिये स्वर्ग को भी जीत लिया है—मैं स्वर्ग प्राप्त करने का अधिकारी हो गया हूँ। मनुष्य तो समाज के लिये बनाया गया था, परंतु वह अपने कर्त्तव्यों का पालन करके स्वर्ग के राज्य पर भी विजय प्राप्त कर रहा था। पुनरुद्धार करनेवाली भक्ति ने इस प्रकार राजनीति को भी आध्यात्मिक रूप दे दिया था; और यहाँ तक कि विजय को भी उसी आध्यात्मिकता के रंग में रँग दिया था और पुनरुद्धार काल से पहले की निष्क्रिय भक्ति और अक्रिय शांतिवाद को बिलकुल निरर्थक करके पीछे छोड़ दिया था। बौद्ध लोग जो प्रव्रज्या ग्रहण करके ब्रह्मचर्यपूर्वक रहने लगे थे, जिसके कारण स्त्रियों की मर्यादा बहुत कुछ घट गई थी। परंतु अब फिर स्त्रियाँ उच्च सम्मान की अधिकारिणी बन गई थीं और राजनीतिक कार्यों में योग देने लग गई थीं। सिक्कों और शिलालेखों आदि में उन्हें बराबरी की जगह दी गई है। समुद्रगुप्त अपनी पत्नी दत्तदेवी का जितना अधिक सम्मान करता था, उतना अधिक सम्मान उससे पहले किसी पत्नी को प्राप्त नहीं हुआ। एरन में अपनी विजय के सर्वोत्कृष्ट समय में सारे भारत के सम्राट् ने गर्वपूर्वक अपनी सहधर्मिणी और अपने विवाह के उस दिन का स्मरण किया था, जिस दिन दहेज में उसकी पत्नी को अपने पति का केवल पुरुषत्व प्राप्त हुआ था और जिसकी शोभा अब इतनी बढ़ गई थी कि वह एक आदर्श हिंदू-स्त्री बन गई थी—एक ऐसी कुलवधू और हिंदू-माता बन गई थी जो अपने पुत्रों और पौत्रों से घिरी हुई थी।

§ २०९. इस प्रकार पूर्ण मनुष्यत्व और वैभव, विजय

और संस्कृति, देश में भी और विदेशों में भी दूर-दूर तक व्याप्त होनेवाली क्रियाशीलता का यह वातावरण देखकर हमारी आँखों में चकाचौंध पैदा हो जाती है और हम भार-शिव काल के उन अज्ञात कवियों, देशभक्तों और उपदेशकों को भूल जाते हैं, जिन्होंने वह बीज बोया था, जिसकी फसल वाकाटकों और गुप्तों ने काटी थी। भार-शिवों के सौ वर्ष हिंदू साम्राज्य-वाद के बीज बोये जाने का काल है। इस बीज-कालवाले आंदोलन के समय जो साहित्य प्रस्तुत हुआ था, उसका कुछ भी अवशिष्ट इस समय हमारे पास नहीं है। परंतु हम फल को देख-कर वृक्ष पहचान सकते हैं। उस अंधकार-युग ने ही आर्यावर्त्त और भारत को प्रकाशमय किया था। उस युग में जो आध्यात्मिक आंदोलन आरंभ हुआ था, उसने वैष्णव धर्म के वीरतापूर्ण अंग में प्रगाढ़ भक्ति का रूप धारण किया था। इस संप्रदाय के उपदेशक कौन थे? हम नहीं जानते। परंतु हम इतना अवश्य कह सकते हैं कि इस संप्रदाय की मूल पुस्तक भगवद्गीता थी जो समुद्रगुप्त के शिलालेख में दोहराई गई है। इस संप्रदाय का सिद्धांत यह है कि विष्णु ही राजनीतिज्ञों और वीरों के रूप में इस पृथ्वी पर आते हैं और समाज की मर्यादा फिर से स्थापित करते हैं और धर्म तथा अपने जनों की रक्षा करते हैं।

§ २१०. यह चित्र बहुत ही भव्य और आनंददायक है और यह मन को इस प्रकार अपनी ओर आकृष्ट कर लेता है कि वह समुद्रगुप्तवाले भारत के दृश्य की ओर से सहसा हटना ही नहीं चाहता। साम्राज्यवाद में शिक्षा पाए हुए आज-कल के इतिहासज्ञ को यह चित्र देखकर स्वभावतः आनंद होगा, क्योंकि

दूसरा पक्ष

यह चित्र बड़े बड़े कार्यों, किरीट और कुंडल से युक्त है। यह साम्राज्यभोगी हिंदुत्व का चित्र है और इसमें गुप्तों की महत्ता के दृश्य के सामने से परदा हटा दिया गया है। परंतु क्या अपनी जाति के प्राचीन काल के महत्त्व का और गुप्त अलौकिक पुरुषों का यह चित्र अंकित करते ही उसका कर्तव्य समाप्त हो जाता है? वह जब तक गुप्तों के बाद के उन हिंदुओं के संबंध में भी अपना निर्णय न दे दे जो गुप्त साम्राज्य-वाद का सिंहावलोकन करते थे और शांत भाव से उसका विश्लेषण करते थे, तब तक उसका कर्तव्य समाप्त नहीं होता। विष्णुपुराण में हिंदू इतिहासज्ञ इस विषय का कुछ और ही मूल्य निर्धारित करता है। इन सब बातों का वर्णन करके अंत में उसने जो कुछ कहा है[1] उसका संक्षेप इस प्रकार हो सकता है—

"मैंने यह इतिहास दे दिया है[2]। इन राजाओं का अस्तित्व आगे चलकर विवाद और संदेह का विषय बन जायगा, जिस प्रकार स्वयं राम और दूसरे सम्राटों का अस्तित्व आज-कल संदेह और कल्पना का विषय बन गया है। समय के प्रवाह में पड़कर सम्राट् लोग केवल पौराणिक उपाख्यान के विषय बन जाते हैं और विशेषतः वे सम्राट् जो यह

---

१. देखो विष्णुपुराण ४, २४ श्लोक ६४—७७। साथ ही मिलाओ पृथिवीगीता, श्लोक ५५—६३।

२. इत्येषः कथितः सम्यङ् मनोर्वंशो मया तव ॥ ६४ ॥
श्रुत्वैवमखिलं वंशं प्रशस्तं शशिसूर्ययोः ॥ ६७ ॥
इक्ष्वाकु जह्नु मान्धातृ-सगराविक्षितान् रघून् ॥६८॥

सोचते थे और सोचते हैं कि भारतवर्ष मेरा है। साम्राज्यों को धिक्कार है। सम्राट् राघव के साम्राज्य को धिक्कार है।"[1]

इतिहासज्ञ का मुख्य अभिप्राय यहाँ सम्राटों और विजेताओं का तिरस्कार करना है। वह कहता है कि ये लोग ममत्व के फेर में पड़े रहते हैं[2]। परंतु यह कटु संकेत किसकी ओर है? इतिहा-

---

१. यः कार्त्तवीर्यो बुभुजे समस्तान् द्वीपान् समाक्रम्य हतारिचक्रः।
कथाप्रसंगे त्वभिधीयमानः स एव संकल्पविकल्पहेतुः ॥७२॥
दशाननाविच्छितराघवाणामैश्वर्यमुद्भासितदिङ्मुखानाम्।
भस्मापि जातं न कथं क्षणेन? भ्रूभंगपातेन धिगन्तकस्य ॥७३॥
[ऐश्वर्यं धिक्—टीकाकार]
कथाशरीरत्वमवाप यद्वै मान्धातृनामा भुवि चक्रवर्ती।
श्रुत्वापि तं कोऽपि करोति साधु ममत्वमात्मन्यपि मन्दचेताः॥७४॥
भगीरथाद्याः सगरः ककुत्स्थो दशाननो राघवलक्ष्मणौ च।
युधिष्ठिराद्याश्च बभूवुरेते सत्यं न मिथ्या क्व नु ते न विद्मः ॥७५॥

२. मिलाओ पृथिवीगीता—
पृथ्वी ममेयं सकला ममैषा ममान्वयस्यापि च शाश्वतेयम्।
यो यो मृतो ह्यत्र बभूव राजा कुबुद्धिरासीदिति तस्य तस्य ॥६१॥
विहाय मां मृत्युपथं व्रजंतं
तस्यान्वयस्थस्य कथं ममत्वं हृद्यास्पद मत्प्रभवं करोति ॥६२॥
पृथ्वी ममैषाशु परित्यजैनम् वदन्ति ये दूतमुखैः स्वशत्रुम्।
नराधिपास्तेषु ममातिहासः पुनश्च मूढेषु दयाभ्युपैति ॥६३॥

विशेष रूप से समुद्रपार के साम्राज्य की ओर संकेत है; और गुप्तों के साम्राज्य की ही यह एक विशेषता थी कि उसका विस्तार समुद्रपार के भी देशों तक था।

सज्ञ बार-बार "राघव" शब्द का प्रयोग करता है। राघव राम के संबंध में जो अनुश्रुतियाँ बहुत दिनों से चली आ रही थीं, क्या समुद्रगुप्त ने अयोध्या से उन्हीं की पुनरावृत्ति करने का प्रयत्न नहीं किया था? क्या कालिदास ने समुद्रगुप्त की विजय का रघु की दिग्विजय में समावेश नहीं किया था? पुराण में जिस अंतिम साम्राज्य का उल्लेख है, उसी के संस्थापक की ओर यह संकेत घटता है। अर्थात् यह आक्षेप गुप्त-साम्राज्य के संस्थापक पर है, जिसका नाम इतिहास-लेखक ने अपने काल-क्रमिक इतिहास में छोड़ दिया है। उसके कहने का मतलब यही है कि स्मरण रखने के योग्य वही इतिहास है, जिसमें उत्तम कार्य और उपयुक्त सेवाएँ हों। जिन कार्यों के द्वारा दूसरे लोगों के अधिकार और स्वतंत्रताएँ पद-दलित होती हों, वे इस योग्य नहीं हैं कि इतिहास-लेखक उन्हें लिपि-बद्ध करे। यदि वह इतिहास-लेखक आज जीवित होता तो उसने कहा होता—"समुद्रगुप्त के पुत्र विक्रमादित्य को स्मरण रखो, परंतु समुद्रगुप्त को भूल जाओ। केवल सद्गुणों का ध्यान रखो, दुर्गुण या दोष की ओर किसी रूप में भी ध्यान मत दो।" समुद्रगुप्त ने भी सिकंदर की भाँति अपने देश की स्वतंत्रतावाली भावना की हत्या कर डाली थी। उसने उन मालवों और यौधेयों का विनाश कर डाला था, जो स्वतंत्रता को जन्म देनेवाले और उसकी वृद्धि करनेवाले थे। और उन्हीं की तरह के और भी बहुत से लोगों का उसने नाश कर

ततो भृत्यांश्च पौरांश्च जिगीषन्ते तथा रिपून्।
क्रमेणानेन जेष्यामो वयं पृथ्वीं ससागराम् ॥५७॥
समुद्रावरणं याति ॥५८॥
द्वीपान् समाक्रम्य हतारिचक्रः ॥७२॥

डाला था। जब एक बार इन स्वतंत्र समाजों का अस्तित्व मिट गया, तब वह क्षेत्र भी नहीं रह गया, जिसमें आगे चलकर वीर देश-हितैषी और राजनीतिज्ञ उत्पन्न होते। स्वयं गुप्त लोग मातृपक्ष से भी और पितृ-पक्ष से भी उन्हीं गणतंत्री समाजों के लोगों से उत्पन्न हुए थे। वे स्वयं उन्हीं बीज-समाजों की पैदावार थे परंतु उन्हीं बीज-समाजों का उन्होंने पूरा पूरा नाश कर डाला था।

§ २११. गणतंत्री समाजों की सामाजिक व्यवस्था समानता के सिद्धांत पर आश्रित थी। उनमें जाति-पाँति का कोई बखेड़ा नहीं था। वे सब लोग एक ही जाति के थे। इसके विपरीत सनातनी सामाजिक व्यवस्था अ-समानता और जाति-भेद पर आश्रित थी; और इसीलिये जिस प्रकार मालवों, यौधेयों, मद्रकों, पुष्यमित्रों, आभीरों और लिच्छवियों में बच्चा बच्चा तक देश-भक्त होता था, उसी प्रकार सनातनी सामाजिक व्यवस्था में समाज का हर आदमी कभी देश-भक्त हो ही नहीं सकता था। उक्त गणतंत्री समाज मानों ऐसे अखाड़े थे जिनमें लोग राज्य-स्थापना, देश-हितैषिता, व्यक्तिगत उच्चाकांक्षा, योग्यता और नेतृत्व की बहुत अच्छी शिक्षा पाते और अभ्यास करते थे। परंतु समुद्रगुप्त और उसके उत्तराधिकारियों की अधीनता में वे सब लोग मिलकर एक संघटित राज्याश्रित और सनातनी वर्ण-व्यवस्था में लीन हो गए थे और एक ऐसी सनातनी राजनीतिक प्रणाली के आधीन हो गए थे, जिसमें एकछत्र शासन-प्रणाली और साम्राज्यवाद की ही मान्यता थी और उन्हीं की वृद्धि हो सकती थी। वह बीज-कोश ही सदा के लिये नष्ट हो गया था जो ऐसे कृष्ण को उत्पन्न कर सकता था जो धर्म-युद्ध और कर्त्तव्य-पालनवाले सिद्धांत के सबसे बड़े प्रवर्तक और पोषक थे; अथवा वह बीज-कोश ही नहीं रह

गया था, जिसने उन महात्मा बुद्ध को जन्म दिया था जो विश्व-जनीन धर्म और विश्वजनीन समानता के प्रवर्तक और पोषक थे। अब उस बीज-कोश का अस्तित्व ही मिटा दिया गया था, जिससे आगे चलकर भार-शिव या गुप्त लोग उत्पन्न हो सकते थे। राजपूताने के गणतंत्र नष्ट हो गए थे और उनके स्थान पर केवल ऐसे राजपूत रह गए थे जो अपने गणतंत्री पूर्वजों की सभी परंपरागत बातें भूल गए थे और पंजाब के प्रजातंत्र नष्ट होकर ऐसे जाटों के रूप में परिवर्तित हो गए थे जो अपना सारा भूतकालीन वैभव गँवा चुके थे। जीवन-प्रदान करनेवाला तत्त्व ही नष्ट हो गया था। हिंदुओं ने समुद्रगुप्त का नाम कभी कृतज्ञतापूर्वक नहीं स्मरण किया; और जिस समय अलबेरूनी भारत में आया था, उस समय उसने लोगों से यही सुना था कि गुप्त लोग बहुत ही दुष्ट थे। यह उस चित्र का दूसरा अंग है। यद्यपि वे लोग व्यक्तिगत प्रजा के लिये बहुत अच्छे शासक थे, परंतु फिर भी हिंदुओं की राष्ट्र-संघटन संबंधी स्वतंत्रता के लिये वे नाशक ही सिद्ध हुए थे।

§ २५२. विष्णुपुराण के इतिहास-लेखक का राजनीतिक सिद्धांत यह था कि वह कभी किसी के साथ शक्ति और बल का प्रयोग करना पसंद नहीं करता था; और उसकी कही हुई जो एक मात्र बात हिंदुओं को पसंद आ सकती थी, वह उस प्रकार की शासन-प्रणाली थी, जैसी भार-शिवों ने प्रचलित की थी, जिसमें सब राष्ट्रों का एक संघ स्थापित किया गया था और जिसमें प्रत्येक राष्ट्र को पूरी पूरी व्यक्तिगत स्वतंत्रता प्राप्त थी। हिंद गण-तंत्रों में जो संघ-वाली शासन-प्रणाली किसी समय प्रचलित थी, उसी का विकसित और परिवर्द्धित रूप भारशिवों-वाले संघ का था। वह बराबरी का अधिकार रखनेवाले राष्ट्रों का एक संघ था, जिसमें

दुरेहा (जासो) का स्तंभ-लेख

पृ० ३६३
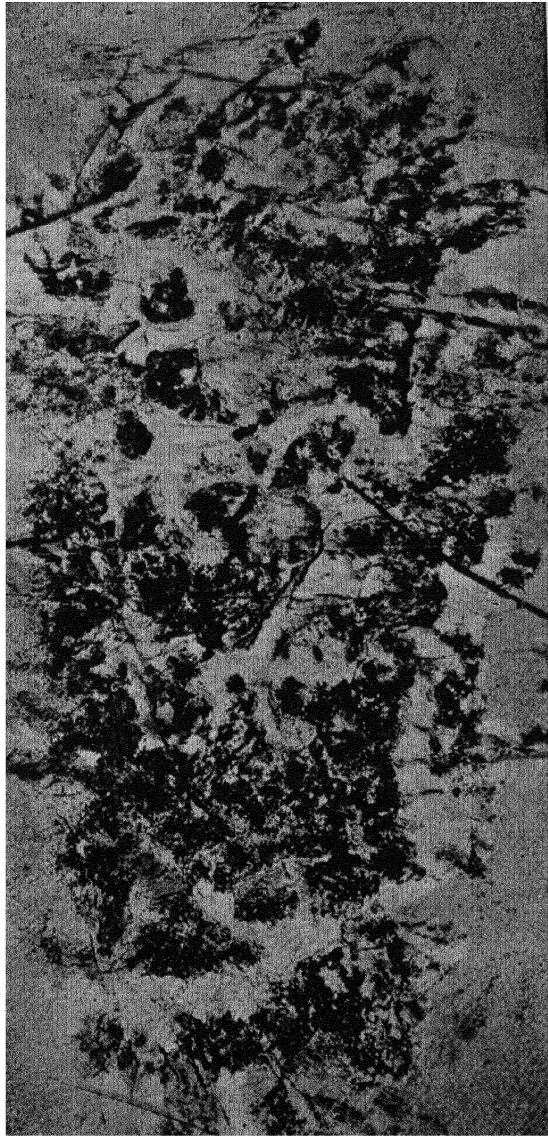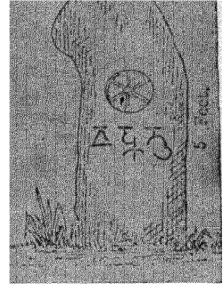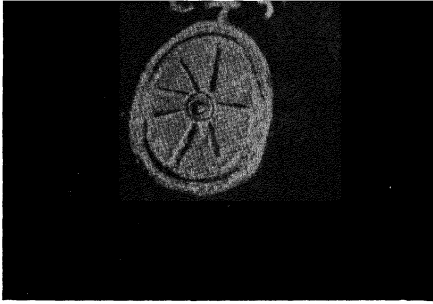
कनिंघम द्वारा अंकित

दुरेहा (जासो) स्तम्भ

सब लोगों ने मिलकर एक शक्ति को अपना नेता मान लिया था। यदि गुप्त लोग भी इसी प्रणाली का प्रयोग करते तो पौराणिक इतिहास-लेखक अधिक अच्छे शब्दों में उनका उल्लेख करता। मैं भी अपने देश के उक्त इतिहास-लेखक का अनुकरण करता हुआ कहता हूँ—"इस समय हम लोगों को गुप्तों के केवल अच्छे कामों का स्मरण करना चाहिए और उनके साम्राज्य-वाद को भूल जाना चाहिए।"

———

कौन सी जगह है और कहाँ है, क्योंकि कनिंघम ने अपने वर्णन में उस स्थान का यही नाम इसी रूप में (Dareda) दिया था। मुझे सतना-निवासी अपने मित्र श्रीयुक्त शारदा प्रसादजी से मालूम हुआ कि उस गाँव का असल नाम दुरेहा है। मैं मोटर पर सवार होकर वहाँ जा पहुँचा। वह स्मृति-स्तंभ उस गाँव की कच्ची सड़क के किनारे ही है और एक बनाए हुए चबूतरे के ऊपर है। वह लिंग नहीं है, बल्कि स्तंभ है। उसका जो रुख दक्खिन की तरफ पड़ता है, वह तो खूब साफ और चिकना किया हुआ है, परंतु उसका पिछला भाग इतना खुरदुरा है कि जान पड़ता है कि उसी रूप में पहाड़ में से खोदकर निकाला गया था। जब मैं नचना से लौटकर आया था और उस अभिलेख की छाप लेने लगा था, तब दुर्भाग्यवश अँधेरा हो गया था और सब काम रोशनी जलाकर करने पड़े थे। वह लेख एक ही पंक्ति का है और उसके नीचे एक चक्र है जिसमें आठ आरे हैं। यह चक्र वैसा ही है, जैसा रुद्रसेन के सिक्के और पृथ्वीषेण के गंज और नचना वाले अभिलेखों में है। कनिंघम ने इसे देखकर इसकी जो नकल तैयार की थी, उसमें उसने वह लेख चक्र के ऊपर नहीं बल्कि नीचे दिया है। जान पड़ता है कि इसका जो चित्र उसने दिया है, वह स्वयं उस स्थान पर नहीं तैयार किया गया था, बल्कि वहाँ से आने पर केवल स्मृति की सहायता से बाद में तैयार किया गया था; क्योंकि उसमें ऊपर का लेख नीचे और नीचे का चक्र ऊपर कर दिया गया है और उस पत्थर का रूप भी ठीक-ठीक नहीं अंकित किया गया है। वह पत्थर गोल नहीं है[1]।

---

१. देखो प्लेट ४।
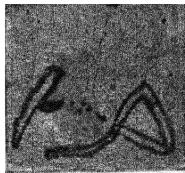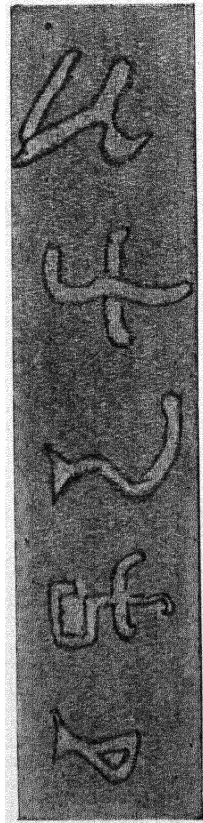
अक्षरों की, आँख से देखकर की हुई, नकल

पृ० ३६३

खुदे हुए अक्षरों में फ्रांसीसी खड़िया (French Chalk) भरकर बिजली के तीव्र प्रकाश में उसका चित्र लिया गया था। परंतु अँधेरे में मैं अक्षरों के रूप पूरी तरह से समझ नहीं सका था, इसलिये तीसरा अक्षर पूरी तरह से नहीं भरा जा सका था; और उसका बाईं ओर वाला शोशा (जो छाप में आ गया है[1]) छूट गया था। तीसरे अक्षर की दाहिनी तरफ पत्थर का कुछ अंश टूटा हुआ है, जिससे उस स्थान पर एक अक्षर होने का धोखा होता है। पत्थर की सतह कुछ ऊँची होने के कारण यह बात हुई थी। पत्थर पर अंतिम दो अक्षर अँधेरे के कारण मुझसे बिलकुल छूट गए थे। परंतु छाप में वे दोनों अक्षर भी आ गए हैं। आकार दिखलाने के लिये मैं उस समूचे पत्थर का भी फोटो दे रहा हूँ। गाँव वालों ने उस पत्थर पर सफेदी कर दी है और उत्कीर्ण अंश के ऊपर सफेद रंग से कुछ अक्षर भी लिख दिए हैं। इसे आजकल लोग मंगलनाथ (शिव) कहते हैं।

यह अभिलेख "वाकाटकाना(म्)" पढ़ा जाता है और जान पड़ता है कि इसका संकेत नीचे दिए हुए उसी चक्र की ओर है जो वाकाटकों का राजचिह्न था। सारे लेख का अर्थ होगा—"वाकाटकों का चक्र"। यह स्पष्ट ही है कि यह पत्थर वाकाटकों के राज्य में ही गाड़ा गया था।

इसके अक्षर आरंभिक वाकाटक काल के हैं। इसका पहला अक्षर "व" पृथ्वीषेण के शिलालेख के "व" से पहले का है। दूसरा अक्षर "का" उसी प्रकार का है, जिस प्रकार का पृथिवीषेण के शिलालेख की उस छाप में है जो जनरल कनिंघम ने अपने प्लेट

---

१. देखो प्लेट ५।

(A. S. R. खंड २१, प्लेट २७, दूसरा अभिलेख) में दी है। तीसरे अक्षर "ट" के ऊपर एक शोशा है और उसके नीचे की गोलाई अधिक विकसित नहीं है। चौथे अक्षर "क" के ऊपरी भाग में विशेष घेरा नहीं है और अंतिम अक्षर "न" का वह रूप नहीं है जो पृथिवीषेण के अभिलेख में है और यह "न" और भी पहले का है। "म" भी पुराने ही ढङ्ग का है। इस प्रकार इस लेख के अधिकांश अक्षर उन शिलालेखों के अक्षरों से पहले के जान पड़ते हैं, जो पृथिवीषेण के समय में उत्कीर्ण हुए थे और जिनका अब तक पता चला है।

स्थानों का पारस्परिक अंतर

इस प्रदेश में जो महत्त्वपूर्ण प्राचीन स्थान हैं, उनका पारस्परिक अंतर भी मैं यहाँ बतला देना चाहता हूँ। नचना से लगभग पाँच मील की दूरी पर उत्तर-पश्चिम की ओर दुरेहा है। भूभरा (भूमरा) से खोह पाँच मील (दक्षिण की ओर) पहाड़ी के उस पार है। गंज से भूभरा तेरह मील की दूरी पर है। खोह दक्षिण की ओर एक ऊँची पहाड़ी (ऊँचाई लगभग १५०० फुट) के नीचे है और नचना उसकी उत्तरी ढाल के नीचे है। खोह तो नागौद रियासत में है और नचना अजयगढ़ में। दुरेहा जासो में है। आरंभिक शताब्दियों में दो बड़े कस्बे थे—एक तो उस स्थान पर था, जहाँ आजकल गंज नचना है; और दूसरा उस स्थान पर था, जहाँ आजकल खोह नामक गाँव है। ये दोनों कस्बे एक साथ ही बसे थे और एक पर्वतमाला इन दोनों को एक दूसरे से जोड़ती भी थी और अलग भी करती थी; और उसी पर्वत के शिखर पर भूमरा का मंदिर था। इस "भूभरा" शब्द का अधिक प्रचलित और अधिक शुद्ध उच्चारण "भूमरा" है। यह मंदिर मझगवाँ (बीच का गाँव) के पास है और भूभरा गाँव से

डेढ़ मील की दूरी पर है। उस स्थान पर और नागौद में मैं जितने आदमियों से मिला था, वे सब लोग इसका नाम "भूभरा" ही बतलाते थे।

भूभरा गोंडों का गाँव है और इनकी आकृति वैसी ही होती है, जैसी भरहुत की मूर्तियों की है[1]। भरहुत और भूभरा दोनों ही नागौद रियासत में हैं और एक से दूसरे की सीधी दूरी लगभग बीस मील है। दोनों के मध्य में उँचहरा है, जहाँ नागौद के राजाओं के रहने का किला है।

भूभरा के मंदिर के चारों ओर ईंटों की बनी हुई एक दीवार थी। मंदिर के अवशिष्ट अंश के चारों ओर एक चौकोर घेरे में हजारों ईंटें पड़ी हुई हैं। जिस जगह

भूभरा की उत्कीर्ण ईंटें (पूर्वी फाटक पर)

मैंने ईंटों के ढेर की जाँच की थी, उस जगह की अधिकांश ईंटों पर मुझे लगभग सन् २०० ई० के ब्राह्मी अक्षर लिखे हुए मिले थे। मैं इस तरह की दो ईंटें पटने के अजायबघर में ले आया हूँ। उस मंदिर के बनने का समय निश्चित करने में इन ईंटों से बहुत कुछ प्रामाणिक सहायता मिल सकती है। नीचे की ओर खुरदुरे भाग पर एक ईंट पर "दर्व-आरा (ल)" लिखा हुआ है और दूसरी ईंट पर पहली पंक्ति में "द र्व" और दूसरी पंक्ति में "आराला" लिखा है[2]। "दर्व" का अर्थ होता है—साँप का फन;

---

१. देखो प्लेट ६; स्त्रियों की आकृतियाँ और भी अधिक मिलती-जुलती होती हैं।

२. देखो प्लेट ७ और ८; ईंटों की सतह इसलिये कुछ छील दी गई है जिसमें फोटो लेने में अक्षर साफ आवें।

और आराल या आराला का अर्थ होता है—वृत्त की अवधा या आरा; और यह शब्द संस्कृत अराल से निकला है। ये चिह्नित ईंटें वास्तव में मेहराबी ईंटें हैं। जान पड़ता है कि आरा का अर्थ है—मेहराब में लगने वाली गावदुम ईंट या पत्थर; और घोड़े की नाल के आकार की मेहराब का हिंदू वास्तुकला में पारिभाषिक नाम "आराला" था। दर्व आराल या तो मेहराब की आकृति का सूचक नाम था और या उस स्थान का सूचक था जिसमें नाग-मूर्तियों के फन रहते थे। एक ईंट की चिकनी सतह पर एक बड़े अक्षर "भा" के अंदर एक छोटा सा स्पष्ट "भू" बना हुआ है। इस बड़े अक्षर "भा" के बाद एक छोटा सा "रा" है और तब अनुस्वार-युक्त "य" है। सब मिलाकर "भूभारायम्" पढ़ा जाता है, जिसका अर्थ होता है—"भूभारा में।" दूसरी ईंट में ऊपर की ओर बाएँ कोने पर "आ" और दाहिने कोने पर "रा" है। उनमे मंदिर का ठीक रास्ता बतलाने के लिये तीर के निशान बने हैं। इन ईंटों का आकार वैसा ही है, जैसा मेहराब में लगाई जानेवाली गावदुम ईंटों का होता है। इनमें से एक ईंट की नाप तो ७″×८″×९″ है (यह एक तरफ से टूटी हुई है; इस समय ६″ है; परंतु मूलतः कदाचित् दूसरी ओर की तरह ८″ ही रही होगी) और इसकी मोटाई २½″ है; और जिस मसाले से यह बनी है, वह बहुत मजबूत है। दूसरी ईंट ८″×(७″, टूटी हुई है) ९″ है। जान पड़ता है कि ये ईंटें पहाड़ी के नीचे बनी थीं और भूभारा के लिये थीं; और जिस पहाड़ी पर यह मंदिर बना था, जान पड़ता है कि उसका नाम भूभारा था। कदाचित् कई अलग-अलग इमारतों के लिये बहुत सी ईंटें एक साथ ही बनी थीं; और जिस स्थान की इमारत के लिये जो ईंटें बनी थीं, उस स्थान का नाम उन ईंटों पर अंकित कर दिया गया था।

भूभरा (भूमरा) की ईंट

अगला भाग

पृ० २९६
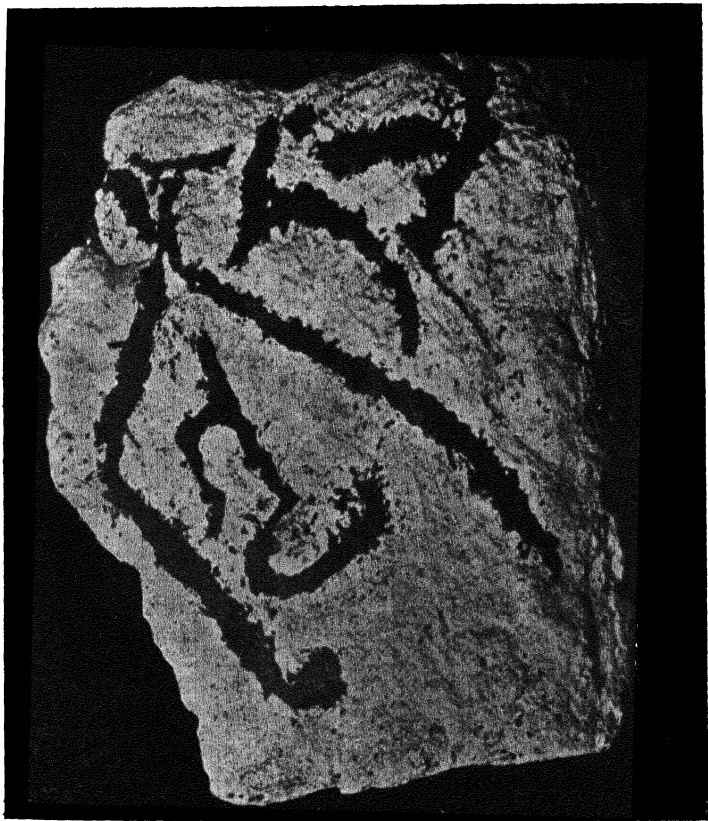
भूमरा (भूमरा) की ईंट

पिछला भाग

भूमरा मंदिर के जो पत्थर इस समय बचे हुए हैं, उन पर कोई लेख नहीं है और इसी लिये मंदिर का समय निश्चित करने में ईंटों पर के लेख बहुत उपयोगी हैं। यह मंदिर सन् २०० ई० के बाद का किसी तरह नहीं हो सकता; और जैसा कि अक्षरों के रूपों से निश्चित रीति पर सूचित होता है, वह मंदिर सन् १५०-२०० ई० के लगभग का होना चाहिए।

मंदिर में जो मुख-लिंग उस समय जमीन पर लेटा हुआ पड़ा है, उसका नाम मझगँवाँ और उसके आस-पास के स्थानों में प्रचलित अनुश्रुति के अनुसार भाकुल देव है।

भाकुल देव

जान पड़ता है कि इसका असली नाम भार-कुलदेव था, जिसका अर्थ होता है भार-वंश का देवता। ईंटों के समय से यह निष्कर्ष निकलता है कि यह वही शिव-लिंग होगा, जिसके भार-शिव राजा के द्वारा स्थापित होने का उल्लेख वाकाटक शिलालेखों में है। जो हो, परंतु यह भार-शिवों के ही समय का है।

इसके आस-पास के कुछ स्थानों के नाम भी इसी प्रकार के हैं, यथा—भरहता और भरौली। सतना के पास भरजुना नामक एक स्थान है, जहाँ बहुत सी प्राचीन मूर्त्तियाँ पाई जाती हैं। उसी क्षेत्र में और इसी प्रकार के नामों वाले स्थानों के बीच में सुप्रसिद्ध भरहुत नामक स्थान भी है।

भर और भार से युक्त स्थान नाम

भूमरा (थारी पाथर) के सीमा सूचक स्तंभ-अभिलेख से,

जो इस समय जंगलों में है, यह सूचित होता है कि गुप्त काल में गुप्त-साम्राज्य और वाकाटक राज्य के मध्य में भूभरा (गाँव) था। भूभरा और मझगँवाँ घने जंगलों में हैं। जब हम लोग लौटने लगे थे, तब हमने देखा था कि जिस रास्ते से हम लोग आए थे और वापस जा रहे थे, उसी रास्ते पर हम लोगों के आने के बाद बड़े-बड़े चीतों का एक जोड़ा गया था, क्योंकि उनके पैरों के ताजे निशान वहाँ साफ दिखाई देते थे। मुझे सूचनाएँ मिली हैं कि उस पहाड़ी पर इस समय भी इसी तरह के और कई मंदिर वर्तमान हैं। इस पहाड़ी पर अच्छी तरह अनुसंधान होना चाहिए।

इस क्षेत्र में अनुसंधान होना चाहिए

भूभरा वाले मंदिर पर आज-कल की बर्बरता के कारण बहुत अत्याचार हुआ है। उसका शानदार दरवाजा, चौखटे के पत्थर और मूर्तियाँ आदि लोग उठा ले गए हैं। मतलब यह कि सारा मंदिर ही बिलकुल ढा दिया गया है। इसके कुछ अंश तो ले जाकर कलकत्ते के इंडियन म्यूजियम में पहुँचा दिए गए हैं और कुछ उचहरा के किले में ले जाकर रख दिए गए हैं, जहाँ बहुत से अंश नागौद की काउन्सिल के प्रेसिडेंट लाल साहब महाराज कुमार भारगवेंद्र सिंहजी की कृपा से सौभाग्यवश बच गए हैं और सुरक्षित हैं। पर हाँ, वे सब तितर-बितर हैं। सुंदर मुख-लिंग जंगल में एक ऐसे मंडप में बिलकुल फेंका हुआ पड़ा है जो बड़े दरवाजे के हटा दिए जाने के कारण बिलकुल जीर्ण-शीर्ण हो गया है। उस मंदिर की वे मूर्तियाँ भी लोग वहाँ से उठा ले गए हैं, जो

बर्बरता
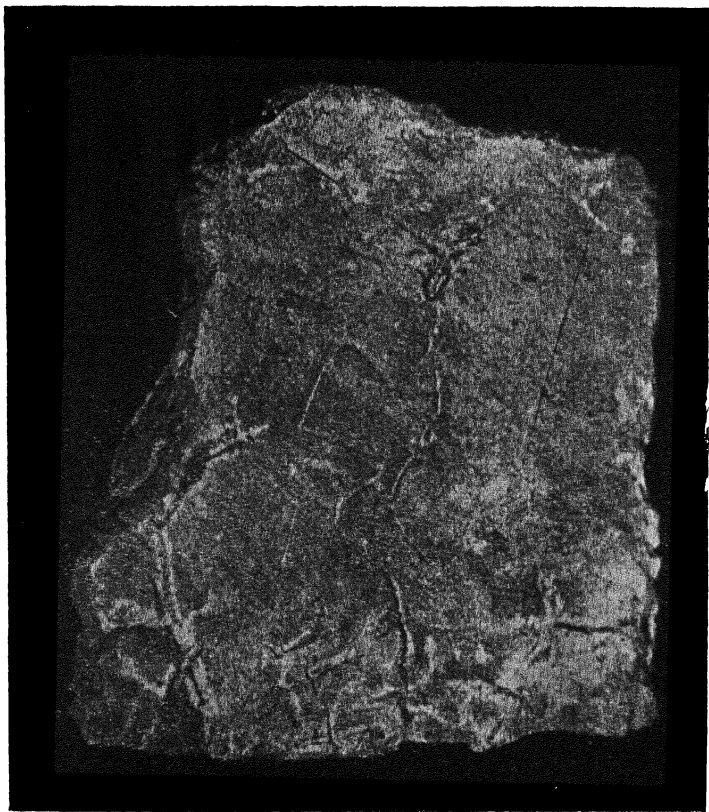
भूभरा (भूमरा) की ईंट

अगला भाग

भूमरा (भूमरा) की ईंट

पिछला भाग

चारों ओर कतार से रखी हुई थीं[1]। यह भरहुत की वास्तु-कला और उस हिंदू आकारप्रद कला के बीच की शृंखला है, जिसका बाद में फिर से उद्धार किया गया था; और भरहुत के मंदिर की जो दुर्दशा हुई है, उससे भी कहीं बढ़कर इसकी दुर्दशा हुई है।

नचना

नचना के मंदिर की इससे भी और अधिक दुर्दशा हुई है। इधर कुछ ही वर्षों के अंदर प्रसिद्ध पार्वती-मंदिर की बाहरी दीवारें पूरी तरह से ढह गई हैं[2]। इसी पार्वती-मंदिर के कुछ पत्थरों आदि से एक स्थानीय ब्राह्मण ने शिव-मंदिर के शिखर के एक अंश की मरम्मत करा दी है;[1] और उस ब्राह्मण के संबंध में यह कहा जाता है कि उसे नचना में घड़ों से भरी हुई सोने की मोहरें मिली थीं। पार्वती-मंदिर की दीवारें चट्टानों और खोहों की नकल पर बनाई गई थीं; परंतु अब वे पूरी तरह से नष्ट हो गई हैं और उनमें की पशुओं की वे मूर्त्तियाँ, जो हिंदू आकार-निर्माण कला के सबसे अधिक सुंदर नमूने हैं, या तो जमीन पर इधर-उधर

---

१. जब लाल साहब का ध्यान मंदिर की वर्तमान अवस्था पर दिलाया गया, तब उन्होंने कृपा करके यह वचन दिया है कि इस समय जो कुछ बचा हुआ है, उसे रक्षित रखने का वे उपाय करेंगे।

२. देखो माडर्न रिव्यू, कलकत्ता, अप्रैल १९३३, जिसमें इसका चित्र दिया गया है।

१. देखो प्लेट ९, शिखर-मंदिर के सामने का जो कमरा है, वह बहुत हाल का बना है। फोटो लिए हुए पार्श्व में दिखाई देनेवाला शिखर वही है जो मंदिर के साथ बना था, उसका केवल बिल्कुल ऊपरी भाग हाल का बना हुआ है।

पड़ी हुई हैं और या लोग उन्हें उठा ले गए हैं। उनमें से कुछ मूर्त्तियाँ मेरे एक मित्र ने किसी तरह बचाकर रख ली हैं।

पार्वती और शिव के मंदिर

पार्वती का मंदिर और शिव का मंदिर दोनों एक ही कारीगरों के बनाए हुए हैं और एक ही समय के हैं। मि० कोडरिंगटन का यह कथन ठीक नहीं है कि शिव के मंदिर का शिखर बाद का और अलग से बना हुआ है (Ancient India पृ० ६१)। मैंने उन मंदिरों को खूब अच्छी तरह देखा है और उसके संबंध में एक ऐसे इंजीनियर की विशिष्ट सम्मति भी मुझे प्राप्त है, जिन्हें मैं अपने साथ वहाँ ले गया था। भारतवर्ष में इस समय जितने मंदिर वर्त्तमान हैं, उनमें से यह शिखर-मंदिर सबसे पुराना और पहले का है और अपने उसी रूप में वर्त्तमान है, जिस रूप में वह पहले-पहल बना था। उसमें की नक्काशी और वास्तुकला-संबंधी दूसरी कारीगरियाँ गुप्त कला तथा उसके बाद की कला के पूर्व-रूप हैं। लिंग में जो शिव के मुख बने हुए हैं, वे परम उत्कृष्ट हैं[1]। उनमें से एक मुख भैरव रूप का सूचक है और उसके तालू की सफाई आश्चर्यजनक है और उसकी बढ़िया कारीगरी का पता उस पर हाथ फेरने से चलता है। मैं आशा करता हूँ कि कोई कलाविद् उस स्थान पर पहुँचकर उस मंदिर और उसमें की मूर्त्तियों का खूब अच्छी तरह अध्ययन करेंगे और इमारतों तथा खँडहरों को बचाने का सरकारी तौर पर कोई प्रयत्न किया जायगा।

---

१. देखो प्लेट १०।
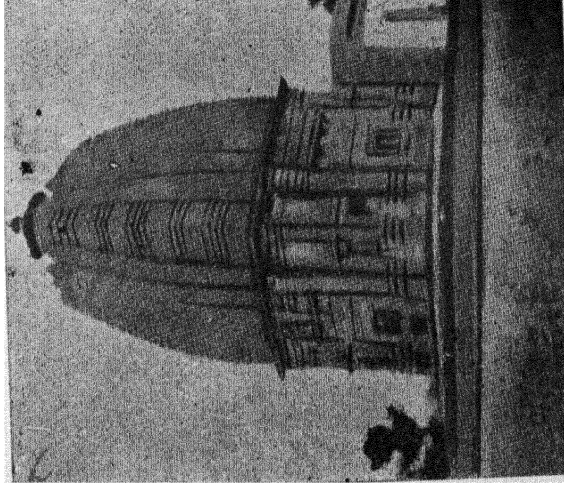
नचना के मंदिर

भार-शिव (चतुर्मुख) मंदिर आमलक के ऊपर का अंश और आगे का बरामदा हाल में बना है

पार्वती-मंदिर की एक खिड़की, खजूरी नकशा

पृ० ४०२

नचना की इमारतों का समय शिव की आकृति देखकर बहुत अच्छी तरह किया जा सकता है । दक्षिण की ओर जो मुख है, वह भैरव का है । भार-शिव लोग शिव की उपासना उसके शिव या कल्याणकारक रूप में ही करते थे। भूभरा और नकटी (खोह) में और एक दूसरे स्थान पर,

नचना के मंदिरों का समय

जिसका पता मैंने लगाया था (देखो आगे), सब जगह शिव का वही रूप देखने में आता है[1]। परंतु इसके विपरीत वाकाटक रुद्रसेन प्रथम शिव की उपासना उसके महा-भैरव रूप में करता था (Gupta Inscriptions पृ० २३६)। मुख्य मंडप में भैरव की मूर्त्ति स्थापित करना वर्जित था (न मूलायतने कार्यो भैरवस्तु···। मत्स्यपुराण २५८. १४)। इसीलिये हम देखते हैं कि भैरव की वह विकट मूर्ति (तीक्ष्णनासाग्रदशनः करालवदनो महान्। उक्त २५८. १३) दूसरी मूर्तियों के साथ मिलाकर बनाई गई है[2]। इसी प्रकार के दो और भैरव शिव जासो में मिलते हैं। उनमें से एक तो गाँव में एक चबूतरे पर है और उसी लाल पत्थर का बना हुआ है, जिसकी भूभरावाली मूर्तियाँ बनी हैं और दूसरा जासोवाले मंदिर में काले पत्थर का बना हुआ है (जो किसी आस-पास के स्थान से लाकर वहाँ स्थापित कर दिया गया है)। नचनावाले मंदिर रुद्रसेन प्रथम के समय के हैं; क्योंकि पृथिवीषेण शिव की उपासना महेश्वर रूप में करता था (Gupta Inscri-

---

१. देखो प्लेट ११।

२. देखो प्लेट १० में दिखलाए हुए दोनों मुख। गर्भ-गृह में अँधेरा रहता है, पर खिड़कियों से प्रकाश आता है। यह फोटो बहुत कठिनता से लिया गया था।

ptions पृ० २३७)। पार्वती-मंदिर की खिड़कियों में से एक में खजूर के पेड़ के तनेवाली तर्ज है[1]। यह तर्ज भूभरा में विशेष रूप से दिखाई देती है; स्व० श्रीयुक्त राखालदास बनर्जी ने बतलाया था कि बनावट और मसाले आदि के विचार से पार्वती और भूभरावाले मंदिर बिलकुल एक ही हैं (Memoir नं० १६, पृ० ३)। नचनावाला मंदिर गुप्त कला से बहुत मिलता-जुलता है; वह मानो गुप्त कला तथा भूभरा के बीच की शृंखला है।

नई खोजें

भूभरा गाँव के पास एक कूएँ से सटे हुए वृक्ष के नीचे मुझे एक मुख लिंग मिला था, जो उसी समय का बना हुआ है, जिस समय भूभरा-मझगाँवाँ का भाकुल देववाला मंदिर बना था[2]। गंज और नचना के बीच में मुझे पत्थर का एक चौकोर मंदिर मिला था, जिसमें एक बावली पर कुछ मूर्तियाँ भी थीं; और उनकी बनावट की सब बातें ठीक वैसी ही हैं, जैसी नचनावाली मूर्तियों की हैं। उस मंदिर में एक सादा लिंग है जिस पर कोई मुख नहीं बना है। वह स्थान चौपाडा कहलाता है।

नागौद के लाल साहब तथा दूसरे लोगों से मैंने कई ऐसी

---

१. देखो प्लेट ६।

२. देखो प्लेट ११; यह एक विलक्षण बात है कि गया जिले में टिकारी के पास कोच नामक स्थान में मुझे इसी प्रकार की एक और मूर्त्ति मिली थी, यद्यपि वह परवर्त्ती काल की बनी हुई थी। इससे यह सूचित होता है कि भार-शिवों का प्रभाव मगध तक पड़ा था।

स्थानीय अनुश्रुतियाँ सुनी थीं जो वहाँ उँचहरा, नचना और नागौद में राज्य करनेवाले राज्यकुलों के संबंध में प्रचलित थीं। कहा जाता है कि नागौद और नचना के पुराने शासक भर थे और उँचहरा के शासक संन्यासी थे।

प्राचीन राजकुलों के संबंध में स्थानीय अनुश्रुतियाँ

ऐतिहासिक दृष्टि से ये संन्यासी वही हैं जो शिलालेखों आदि में "परिव्राजक महाराज" कहे गए हैं; और भर लोग संभवतः भार-शिव होंगे। इतिहास में चँदेलों के समय से, बल्कि हम कह सकते हैं कि गुप्तों के समय से, आज तक भर राजवंश के लिये कहीं कोई स्थान नहीं है—इतने दिनों के बीच में किसी भर राजवंश ने वहाँ शासन नहीं किया था। यह हो सकता है कि महाराज जयनाथ और उसके परिवार के लोग, जो परिव्राजकों के पड़ोसी थे, भार-शिवों की एक शाखा रहे हों।

भूभरा में कोई भर गाँव नहीं है। परंतु लाल साहब ने, जो नागौद के स्वर्गीय राजा साहब के दत्तक पुत्र हैं और उस जमीन का चप्पा चप्पा जानते हैं, मुझसे कहा था कि इस राज्य के भर लोग यज्ञोपवीत पहनते हैं और निम्न कोटि के क्षत्रिय माने जाते हैं। भार-शिवों के साथ उनका संबंध हो भी सकता है और नहीं भी हो सकता। मैं तो यही समझता हूँ कि भार-शिवों के साथ उनका कोई संबंध नहीं था।

भरहुत में मैंने एक यह प्रवाद भी सुना था कि किसी समय वहाँ कोई तेली-वंश भी राज्य करता था। इस तेली वंश से लोगों का मतलब शायद तैलप से होगा, जैसा कि गाँगू और तेली (गांगेयदेव और तैलप) वाली कहावत में तैलप का तेली हो गया है।

———

परिशिष्ट ख

मयूरशर्म्मन् का चंद्रवल्ली वाला शिलालेख

मैसूर के पुरातत्त्व विभाग की सन् १६२६ की सालाना रिपोर्ट, जो सन् १६३१ में प्रकाशित हुई थी, मुझे उस समय मिली थी जब कि मैं यह इतिहास लिखकर पूरा कर चुका था। उस रिपोर्ट (पृ० ५० और उससे आगे) में डा० एम० एच० कृष्ण ने मयूर शर्म्मन् का एक ऐसा नया शिलालेख प्रकाशित किया है, जिसमें मयूरशर्म्मन् का नाम स्पष्ट रूप से मिलता है। इस शिलालेख का मिलान मलवल्ली वाले उस कदंब शिलालेख के साथ किया जा सकता है, जिसमें मैंने मयूरशर्म्मन् का नाम पढ़ा है (देखो § १६१)। दोनों में ही उसका नाम मयूरशर्म्मन् लिखा है। यह नया मिला हुआ शिलालेख चीतलद्रुग के किले के पास चंद्रवल्ली नामक स्थान में एक झील के किनारे उसके बाँध पर खुदा हुआ है और तीन संक्षिप्त पंक्तियों में है। डा० कृष्ण ने उसमें कई भौगोलिक नाम पढ़े हैं; यथा—पारियात्रिक, सकस्था (न), सयिन्दक, पुणाट, माकेरी। उन्होंने उस पत्थर का फोटो भी दिया है, जो कुछ स्थानों पर बहुत ही अस्पष्ट है और हाथ से तैयार की हुई अक्षरों की एक नकल भी दी है। उस फोटो को देखकर मैंने डा० कृष्ण का दिया हुआ पाठ जाँचा है; और मेरी समझ में उस पाठ में कुछ सुधार की आवश्यकता है।

डा० कृष्ण ने पहली पंक्ति का जो पाठ दिया है, उसेमें पूरी तरह से ठीक मानता हूँ। वह इस प्रकार है—

१—कदम्बाणाम् मयूरशम्मणा (विणिम्मि) अम्

दूसरी और तीसरी पंक्तियों का पाठ उन्होंने इस प्रकार दिया है—

२—तटाकं दूभ त्रेकूट अभीर पल्लव पारि-

३—यात्रिक सकस्था (ण) सयिन्दक पुनाट मोकरिणा

डा० कृष्ण ने इन पंक्तियों का अनुवाद इस प्रकार दिया है—

(मयूरशर्म्मन्) जिसने त्रेकूट, अभीर, पल्लव, पारियात्रिक, सकस्थान, सयिन्दक, पुणाट और मोकरि को परास्त किया था।

परंतु "मोकरिणा" का अर्थ होगा, मोकरि के द्वारा अर्थात् मयूरशर्म्मन् मोकरि के द्वारा। "मोकरिणा" वास्तव में मयूरशर्म्मन् के विशेषण के रूप में है। इसके सिवा "दुभा" का अर्थ "परास्त किया था" नहीं हो सकता। जान पड़ता है कि यह पाठ शुद्ध नहीं है। फोटो को देखते हुए मेरी समझ में इन दोनों पंक्तियों का पाठ इस प्रकार होगा—

(चिह्न—पहली और दूसरी पंक्ति के बीच में सूर्य और चंद्रमा के चिह्न हैं जो चिरस्थायित्व के सूचक हैं।)

२—तटि [.] कांची-त्रेकूट-आभीर-पल्ल [पु] री

३—[याति] केणसातह्निस्थ-सेंद्रक-पुरि-दमनकारि [णा]।

तीनों पंक्तियों का अर्थ इस प्रकार होगा—

कदंबों में के मयूरशर्म्मन् ने, जिसने कांची और त्रेकूट (त्रिकुट)—अर्थात् आभीरों और पल्लवों की राजधानियों—पर चढ़ाई की थी और जिसने सातह्नी के पास[1] सेंद्रक राजधानी का दमन किया था, यह बाँध बनवाया था।

---

१. अथवा शातह्नी में।

पहली दोनों राजधानियाँ क्रमशः पल्लवों और आभीरों की थीं। शिलालेख में उनका क्रम गलत दिया है; त्रैकूट का उल्लेख करके लेखक ने उसके बाद आभीर रख दिया है। जान पड़ता है कि सेंद्रक केंद्र सातह्नी में था, और यह बात हम पहले से ही जानते हैं कि सातह्नी एक प्रांत का नाम था। लेख में राजधानियों के ही नाम दिए गए हैं, इसलिये मैं समझता हूँ कि सातह्नी भी किसी कस्बे का ही नाम होगा।

डा० कृष्ण ने "तटी" में दीर्घ ईकार की मात्रा तो देखी थी (पृ० ५४), परंतु उन्होंने उसे "ट" के साथ न पढ़कर उसके आगेवाले "क" के साथ मिला दिया था। उन्होंने अपनी नकल में पल्लव के बाद लिखा तो "पु" ही है, परंतु उसे पढ़ा "प" है, और इसी के फल-स्वरूप उन्होंने "पारियात्रिक" पाठ रखा है। उसके बादवाले "ण" पर उन्होंने ध्यान ही नहीं दिया है। अपने "सकस्थाण" में उन्होंने जिसे "क" माना है, वह स्पष्ट रूप से "त" है। "ह" और "नि"—जो उसके बाद के दो अक्षर हैं—को उन्होंने पूरी तरह से बिलकुल छोड़ ही दिया है। सेंद्रक में के एक शोशे को उन्होंने "य" का एक अंश मान लिया है जो वास्तव में वहाँ है ही नहीं। "र" पर इकार की मात्रा है, जिसे डा० कृष्ण ने अपने पुणाट में का "णा" पढ़ा है। अक्षर के अंत में दाहिनी ओर जो एक सीधी रेखा मान ली गई है, वह अक्षर का कोई अंग नहीं है; और यह बात वृहत्प्रदर्शक ताल की सहायता से स्पष्ट रूप से देखी जा सकती है।

यहाँ यह बात ध्यान रखने की है कि मयूरशर्म्मन ने उस समय तक कोई राजकीय उपाधि नहीं धारण की थी।

लिपि के विचार से इस शिलालेख का काल सन् ३०० ई० के लगभग होगा। आगे चलकर "र" का जो चालुक्य रूप हुआ था, वह सेंद्रक में दिखाई देता है। डा० कृष्ण ने इसका जो समय (सन् २५० ई०) निश्चित किया है, वह अपनी गलत पढ़ाई के कारण किया है।

डा० कृष्ण ने जो यह शिलालेख ढूँढ़ निकाला है, उसके लिये और उसमें के जो अधिकांश अक्षर पढ़े हैं, उसके लिये हमलोग उनके कृतज्ञ हैं। इसमें अवश्य ही उन्हें बहुत परिश्रम करना पड़ा होगा।

———

परिशिष्ट ग

चंद्रसेन और नाग-विवाह

चंद्रसेन (पृ० २४६, २५४)—जो यह कहा गया है कि चंद्रसेन गया जिले का एक शासक था, उसके संबंध में देखो कनिंघम कृत Reports खंड १६, पृ० ४१-४२। जनरल कनिंघम ने धरावत (कौवाडोल के पास के एक गाँव) में यह प्रवाद सुना था कि यहाँ किसी समय चंद्रसेन नामक एक राजा राज्य करता था, जिसकी बनवाई हुई चंद्र-पोखर नामक झील, जो २००० फुट लंबी और ८०० फुट चौड़ी है, अबतक मौजूद है। कहा जाता है कि उसने एक अप्सरा के साथ विवाह किया था। वह बौद्ध विद्वान् गुणमति से पहले हुआ था (पृ० ६८)। धरावत में कनिंघम ने ऐसी मोहरें खोद निकाली थीं, जिनपर गुप्त-कालीन अक्षर थे।

नाग-विवाह और कल्याणवर्म्मन् का विवाह (पृ० २४६-२५५)—कल्याणवर्म्मन् के विवाह में एक यह विलक्षणता थी कि वह अपना विवाह करने के लिये मथुरा नहीं गया था; बल्कि वधू ही पाटलिपुत्र में लाई गई थी। यह नागों की ही एक प्रथा थी कि कन्या-पक्ष के लोग कन्या को लेकर वर-पक्ष के यहाँ जाते थे और वहाँ उसका विवाह करते थे, जिसका पता श्रीयुत हीरालाल जैन ने पुष्पदंत के लिखे हुए अपने णाय (=नाग) कुमार-चरिउ के संस्करण में लगाया है। यह ग्रंथ करंजा ग्रंथ-

माला में सन् १९३३ में प्रकाशित हुआ था। देखो उक्त ग्रंथ की भूमिका पृ० २७।

विशेष—मैंने ऊपर "अजंटा" रूप दिया है, जो मैंने विंसेंट स्मिथ कृत Early History of India पृ० ४४२ से लिया था। परंतु अब मैंने इस बात का पता लगा लिया है कि इसका शुद्ध उच्चारण "अजंता" है, "अजंटा" अशुद्ध है।

शब्दानुक्रमणिका

अ

ओ

औ

क

ग

थ

द

प

ब

म

ल

व

ष

स

ह